व्याख्यान सार संग्रह पुस्तक माला का २० वाँ पुष्प.

श्री मज्जवाहिराचार्य के—

श्रीभगवती सूत्र पर व्याख्यान

सम्पादक—

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम के तरफ से

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ व्यावर.

द्रव्य सहायक—

श्रीमान् सेठ इन्दरचन्दजी साहब गेलड़ा

कुचेरा वाला, मद्रास.
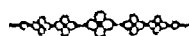
प्रकाशक—

मन्त्री श्रीसाधुमार्गी जैन—

पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का—

हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम.

वीराब्द २४७०	अर्द्ध—मूल्य	प्रथमावृत्ति
विक्रमाब्द २००१	१।)	१०००

आप ध्यान देंगे ?

क्या आप जानते हैं कि आपको यह अनुपम साहित्य देखने को कैसे मिला इस साहित्य के सर्जक श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यवर्य श्री जवाहिरलालजी म० सा० भौतिक देह से आज विद्यमान नहीं हैं फिर भी उनका प्रवचन रूप सूत्र की तल-स्पर्शी विशद व्याख्या आप के समक्ष आज विद्यमान है और भविष्य में भी रहेगी ? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि यह सब जिसके द्वारा हमें प्राप्त होसका वह श्री सा० जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्द्रजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल आफिस है।

मण्डल की आफिस आज बीस वर्ष से रतलाम (मालवा) में है जिसके सचालक श्री साधुमार्गी जैन समाज के अग्रगण्य नेता श्रीमान् [illegible]ीय सेठ वरदभाणजी साहब एव अवैतनिक अनुभवी मत्री श्री वालचन्दजी श्रीश्रीमाल हैं। इनके अथक परिश्रम से ही मण्डल आफिस समाज सेवा के ऐसे २ उत्तम साधन का सग्रह कर सका है। पूर्व समय में श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यवर्य श्री १००८ श्री उदयसागरजी महाराज व पूज्यवर्य श्री १००८ श्री श्रीलालजी महाराज [illegible] बडे ही प्रतापी एव अतिशयधारी तथा तत्कालिक प्रसिद्ध [illegible] हैं।

उनके प्रवचन भी प्रतिभाशाली एवं प्रभावोत्पादक थे किन्तु समाज में कोई संगठन बल न होने से उनके प्रवचनों का संग्रह नहीं हो सका। इसी तरह अन्य भी सामूहिक रूप से करने के कार्य नहीं कर सकते थे परन्तु मण्डल का संगठन होने और उसका आफिस सेवाभावी कार्यकर्त्ताओं के हाथ में आने से मण्डल ने पूज्य श्रीजवाहिरलालजी म० सा० के प्रवचनों का संग्रह किया तथा अन्य भी समाज सेवा के कई कार्य किये हैं। इसी से पृथक् पृथक् विषय पर मननीय एवं बोधप्रद साहित्य का लाभ हमें प्राप्त हो सका है।

मण्डल ने शिक्षा के विषय में भी अच्छी सेवा बजाई व बजा रहा है। कुछ वर्षों पहले एक विद्यालय एवं एक छात्रालय भी खोला था किन्तु आर्थिक संकोच तथा अनेक कठिनाइयों के कारण हाल में यह चालू नहीं है किन्तु श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड जो मण्डल ने संवत् १९८६ में स्थापित किया वह अभी चालू है। इस परीक्षा-बोर्ड के द्वारा सैकड़ों ही नहीं किन्तु हजारों छात्रों ने सामाजिक संस्थाओं में अभ्यास करके परीक्षा देकर अपनी योग्यता के प्रमाण-पत्र एवं पारितोषिक प्राप्त किये हैं व कर रहे हैं।

जैन समाज व जैनेतर समाज ने महान् लाभ हासिल किया है ऐसी संस्था को आर्थिक सहायता देकर सुदृढ बनाना व कार्य कर्त्ताओं के उत्साह को बढ़ाना हमारा नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है।

मण्डल को सुदृढ़ कैसे बनाया जा सकता है ?

(१) श्री साधुमार्गी जैन समाज में पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के अनुयायी तथा इस सम्प्रदाय के वर्तमान जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशीलालजी म० सा० व इनकी सम्प्रदाय के प्रति भक्ति पूर्वक प्रेम सहानुभूति रखने वाला अन्य सम्प्रदाय का अनुयायी भी मण्डल का सभ्य बन सकता है। मण्डल के सभ्य बनने की तीन श्रेणियाँ रखी हुई है। प्रथम श्रेणी—वंशपरम्परा के सभ्य, द्वितीय श्रेणी-आजीवन सभ्य और तृतीय श्रेणी-वार्षिक सभ्य। जिसका विवरण जो प्रथम भाग में अङ्कित है। मण्डल के नियम ४ में देखिये।

(२) मण्डल की चालू प्रवृत्तियों में सहकार देकर आर्थिक सहायता दी जाय तथा स्वयं सेवा दी जा कर उनको वेग दिया जाय।

(३) मण्डल से सम्पादित साहित्य का प्रचार किया जाय। उन के प्रकाशन में आर्थिक सहायता देकर जो साहित्य छपा नहीं है उसका पुन संस्करण निकाल कर प्रचार किया जाय।

उनके प्रवचन भी प्रतिभाशाली एवं प्रभावोत्पादक थे किन्तु समाज में कोई संगठन बल न होने से उनके प्रवचनों का संग्रह नहीं हो सका। इसी तरह अन्य भी सामुहिक रूप से करने के कार्य नहीं कर सकते थे परन्तु मण्डल का संगठन होने और उसका आफिस सेवा भावी कार्यकर्त्ताओं के हाथ में आने से मण्डल ने पूज्य श्रीजवाहिर-लालजी म० सा० के प्रवचनों का संग्रह किया तथा अन्य भी समाज सेवा के कई कार्य किये हैं। इसी से पृथक् पृथक् विषय पर मननीय एवं बोधप्रद साहित्य का लाभ हमें प्राप्त हो सका है।

मण्डल ने शिक्षा के विषय में भी अच्छी सेवा बजाई व बजा रहा है। कुछ वर्षों पहले एक विद्यालय एवं एक छात्रालय भी खोला था किन्तु आर्थिक संकोच तथा अनेक कठिनाइयों के कारण हाल में यह चालू नहीं है किन्तु श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड जो मण्डल ने संवत् १९८६ में स्थापित किया वह अभी चालू है। इस परीक्षा-बोर्ड के द्वारा सैकडों ही नही किन्तु हजारों छात्रों ने सामाजिक संस्थाओं में अभ्यास करके परीक्षा देकर अपनी योग्यता के प्रमाण-पत्र एवं पारितोषिक प्राप्त किये है व कर रहे हैं। इस वर्ष-ब्यावर के मण्डल के अधिवेशन ने एक प्रस्ताव करके श्रीमज्जवाहिराचार्य स्मारक फण्ड कायम किया है और उसमें से श्रीमान्-स्वर्गीय आचार्य महाराज के प्रवचनों का अच्छे आकर्षक सुन्दर ढंग से साहित्य रूप में साहित्य सम्पादन कराके जनता के हाथ में पहुचाने का ठहराया है। इस प्रकार मण्डल द्वारा हमारी साधुमार्गी जैन समाज ही नही, पूर्ण

जैन समाज व जैनेतर समाज ने महान् लाभ हासिल किया है ऐसी संस्था को आर्थिक सहायता देकर सुदृढ बनाना व कार्य कर्त्ताओं के उत्साह को बढ़ाना हमारा नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है।

मण्डल को सुदृढ़ कैसे बनाया जा सकता है ?
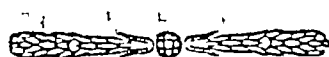
(१) श्री साधुमार्गी जैन समाज में पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के अनुयायी तथा इस सम्प्रदाय के वर्तमान जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशीलालजी म० सा० व इनकी सम्प्रदाय के प्रति भक्ति पूर्वक प्रेम सहानुभूति रखने वाला अन्य सम्प्रदाय का अनुयायी भी मण्डल का सभ्य बन सकता है। मण्डल के सभ्य बनने की तीन श्रेणियां रखी हुई हैं। प्रथम श्रेणी—वंशपरम्परा के सभ्य, द्वितीय श्रेणी-आजीवन सभ्य और तृतीय श्रेणी-वार्षिक सभ्य। जिनका विवरण जो प्रथम भाग में अङ्कित है। मण्डल के नियम ४ में देखिये।

(२) मण्डल की चालू प्रवृत्तियों में सहकार देकर आर्थिक सहायता दी जाय तथा सगत सेवा दी जा कर उनको वेग दिया जाय।

(४) मण्डल के नियमोपानियम से परिचित होकर इस के सभ्य बनाना व इसकी प्रवृत्तियों को सहकार दिलाना।

यह बात तो निश्चित है कि कामधेनु अमृतमय दूध आदि देकर हमारा पोषण करती है, हमें सुख देती है परन्तु वह भी खुराक मांगती है। यदि हम उसे उचित खुराक नहीं दें तो वह हमारा पोषण कहां तक करेगी। इसी तरह मण्डल को भी आपके आर्थिक एवं अंग सेवा रुपी सहकार की आवश्यकता है। यदि आप पूर्ति करते रहेंगे तो उसके मिष्ट फल आपको प्राप्त होते रहेंगे। मैंने अपनी पत्नि एवं पुत्रों को भी मण्डल के सभ्य बनाये हैं तथा अन्य प्रकार से भी शक्य सहकार देता हूँ। इसी प्रकार आप सब वाचकों से मण्डल के सभ्य बनने तथा बनाने के लिए मैं आप से अपील करता हूँ। इत्यलम्।

भवदीय

ताराचन्द गेलड़ा, मद्रास

आवश्यक निवेदन—

जिन महापुरुषों ने सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पूर्णता प्राप्त करके राग-द्वेष तथा मोह आदि आन्तरिक विकारों को पूर्ण रूप से जीत लिया है, उन महात्माओं के प्रवचन ही संसार का वास्तविक कल्याण करने में समर्थ होते हैं। परन्तु उन गहन प्रवचनों को समझना सर्व साधारण के लिए सहज नहीं है। प्रवचनों की सुगम व्याख्या करके, उनमें से विशेष उपयोगी और सारभूत तत्त्वों का पृथक्करण करके उन्हें समझाना विशिष्ट विद्वत्ता के साथ कषायों की मंदता की भी अपेक्षा रखता है। जिन महापुरुषों को यह दोनों गुण प्राप्त हैं, वही वास्तव में प्रवचनों के सच्चे व्याख्याकार हो सकते हैं।

स्थानकवासी (साधुमार्गी) जैन समाज के सुप्रसिद्ध आचार्य, पूज्यवर्य श्री जवाहरलालजी महाराज ऐसे ही एक सफल व्याख्याकार थे। पूज्यश्री ने सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशांग तथा उत्तराध्ययन आदि कई सूत्रों पर विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें से कुछेक व्याख्यान ही पिछले तेरह वर्ष में मण्डल की ओर से लिपिबद्ध हो सके हैं।

मण्डल द्वारा लिपिबद्ध कराए हुए व्याख्यानों में से श्री उपासकदशांग सूत्र की व्याख्या का सम्पादन पण्डित

शान्तिलालजी वनमाली शेट कर रहे थे। श्रीमद्‌भगवती सूत्र की व्याख्या सं० १९८८ के देहली चातुर्मास से आरम्भ हुई और सं० १९९२ के रतलाम चातुर्मास तक की गई थी। इन अनेक चातुर्मासों में प्रथम शतक की तथा द्वितीय शतक के कुछ ही उद्देशकों की ही व्याख्या हो पाई है। पूज्य श्री को अगर सम्पूर्ण व्याख्या भगवती सूत्र पर करने का अवकाश मिला होता तो हमारे लिए कितने सद्‌भाग्य की बात होती। पर ऐसा न हो सका।

श्रीभगवती सूत्र की इस व्याख्या को जनता के लिए उपयोगी एवं मार्गदर्शक समझ कर मैं ने इसे मासिक रूप में प्रकाशित करने की आज्ञा मण्डल के मोरवी-अधिवेशन में प्राप्त की थी। किन्तु ग्राहकों की संख्या पर्याप्त न होने तथा अन्य अनेक कठिनाइयों के कारण वह विचार उस समय कार्यान्वित न हो सका। दो वर्ष पहले श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलड़ा की तरफ से श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी सा० गेलड़ा ने मण्डल से प्रस्तुत व्याख्या को उत्तम शैली से सम्पादित करवा कर प्रकाशित करने की प्रेरणा की और साथ ही आर्थिक सहायता भी देने की तत्परता दिखलाई। श्री गेलड़ाजी की इस पवित्र प्रेरणा से प्रेरित होकर मण्डल ने पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ द्वारा, जो उच्च कोटि के लेखक और विद्वान् हैं, यह व्याख्या उत्तम शैली से सुन्दर और, रोचक भाषा में सम्पादन करवाई है। उसे पाठकों के कर-कमलों में पहुंचाते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। हमारा यह प्रकाशन फिलहाल प्रथम शतक तक ही परिमित रहेगा।

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम शतक की व्याख्या ही इतनी

विस्तृत हो गई है कि क्राउन १६ पेजी साइज के करीब डेढ़ हजार से भी अधिक पृष्ठों में इसकी समाप्ति होगी। यह व्याख्या चार भागों में प्रकाशित करने का विचार किया गया है, किन्तु चार भागों में समाप्त न होगी तो पांच करने पड़ेंगे। इन में से प्रथम भाग तो आप की सेवा में करीब छ माह पूर्व अर्पित कर चुके हैं। यह द्वितीय भाग भी उपस्थित करते हैं। यह व्याख्यान सार संग्रह-पुस्तक माला का २०वां पुष्प है-इस में चलमाणे चलिए के प्रथम सूत्र (प्रश्न) से प्रारम्भ करके प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक तक समाप्त किया गया है। इस से यह पुस्तक करीब सवा चार सो पृष्ठ की हुई है जो प्रथम भाग से कद में डेढ़ी है तथा टाइटल का कागज भी वैसा ही जाड़ा है इससे इसकी कीमत रु० १) के बदले रु० १।।) रखनी पड़ी है। जो पुस्तक को देखते हुए यह कीमत ज्यादा नहीं है।

श्रीभगवतीसूत्र में प्रथम शतक का वर्णन विशेषतः सूक्ष्म एव गहन है। उसे समझने और समझाने में विद्वानों को भी कठिनाई होती है। ऐसे गहन भावों को सरलतर करके पूज्य श्री ने जैनसमाज का अकथनीय उपकार किया है। आचार्य श्री की तत्त्व को स्फुट करती हुई किन्तु गम्भीर, सरस और रोचक व्याख्या से साधारण बुद्धि वाला भी लाभ उठा सकता है। इससे तथा श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलड़ा की उदारता एवं सेठ ताराचन्दजी सा० की प्रेरणा से प्रेरित होकर यह विशाल आयोजन करने का साहस किया है।

जिस समय इस कार्य को प्रारम्भ करने का विचार किया गया, उस समय महायुद्ध की ज्वाला प्रचण्ड हो रही थी। कागज आदि प्रकाशन के सभी साधनों में बेहद मंहगाई थी। यहां तक कि कागज का मिलना भी कठिन

था। इन कारणों से प्रस्तुत ग्रन्थ पर खर्च अधिक हुआ है। किन्तु उक्त सेठ साहब ने सम्पादन व्यय के अतिरिक्त प्रकाशन में भी आर्थिक सहायता दे कर इसे आधे मूल्य में वितरण करवाने की उदारता प्रदर्शित की है। निस्सन्देह श्री गेलड़ाजी की सहायता से ही हम इस आयोजन में इतनी सरलता से सफल हो सके हैं। अतएव हम गेलड़ा बंधुओं को अन्त करण से धन्यवाद देते हैं।

हमारी यह भी हार्दिक इच्छा थी कि ऐसे उदारचित्त सज्जन का परिचय देने के लिए उनका फोटो पुस्तक में दिया जाय। परन्तु प्रयत्न करने पर भी सेठ साहब ने अपना फोटो या ब्लाक भेजने से इन्कार कर दिया है। निष्काम सेवा इसी का नाम है स्वल्प दे कर अपना विज्ञापन कराने वालों के लिए सेठ साहब की भावना बोध पाठ देती है।

अन्त में यह प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि पूज्य श्री के व्याख्यान तो साधुओं की मर्यादायुक्त भाषा में ही होते थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन और प्रकाशन में कहीं किसी प्रकार का विपर्यास हुआ हो, प्रतिपादन में कोई न्यूनता या अधिकता हुई हो तो उसके लिए सम्पादक और प्रकाशक ही उत्तरदाता हो सकते हैं। सौजन्यपूर्वक जो सज्जन किसी त्रुटि की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे, हम उनके आभारी होंगे और अगले संस्करण में यथोचित्त संशोधन करने का ध्यान रक्खेंगे। इतिशम।

बालचन्द श्रीश्रीमाल सेक्रेटरी — हीरालाल नांदेचा

प्रकाशक— — प्रेसिडेन्ट

इस ग्रन्थके सम्पादन एवं प्रकाशन में द्रव्य सहायक-
श्रीमान् सेठ-इन्दरचंद्रजी सा. गेलड़ा-मद्रास

संक्षिप्त परिचय

श्रीमान् सेठ सा० श्री इन्द्रचन्दजी गेलड़ा कुचेरा (मारवाड़) निवासी हाल मुकाम मद्रास शिम्भुमल अमोलकचन्दजी गेलड़ा फर्म के मालिक हैं।

आपके पिताश्री अमोलकचन्दजी मद्रास के प्रसिद्ध व्यवसायियों में से एक थे एवं बडे ही उदार दानी एवं परोपकारी महानुभाव थे। आपने अपने जीवन काल में कई संस्थाओं को यथा मारवाड़ी औषधालय, कन्याशाला, पाठशाला और गोहिंद स्कूल आदि को हजारों रुपयों का गुप्त दान दिया था आप कई संस्थाओं के संस्थापक एवं संचालक थे। आप गुप्त दान के पूरे हिमायती थे, यही कारण है कि समाज में जाहिर रूप से ख्याति प्राप्त न कर सके। आपके पश्चात् आपके सुपुत्र श्रीमान् इन्द्रचन्दजी

साहब भी आपही के समान उदार दानी एवं दयालु निकले। आपने भी अल्प काल ही में लाखों रुपयों का दान दिया। आपने पूज्य पिताश्री के नाम से एक मुश्त ५५०००)) रू० श्री श्वे० स्था० जैन एज्युकेशनल सोसाइटी को देकर मद्रास में एक हाई स्कूल की स्थापना करवाई तथा इसके अतिरिक्त स्कूल एवं बोर्डिङ्ग हाउस, हाई स्कूल एवं बोर्डिङ्ग हाउस के भवन-निर्माण में भी हजारों रुपयों का दान दिया। आपही की कृपा का फल है कि कुचेरा (मारवाड़) में एक जिनेश्वर औषधालय चल रहा है, जहाँ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती है। आपने अपने पिता श्री की स्मृति में एक बहुत बड़ा फण्ड निकला है, जिसमें से हमें भी इस ग्रन्थ के सम्पादन तथा प्रकाशनार्थ रूपे दो हजार की सहायता प्राप्त हुई तथा आवश्यकता पड़ने पर अधिक सहायता प्राप्त होने की आशा है। हम इसके लिये सेठ साहब को कोटिशः धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में भी आपके द्वारा समाज के कई अवश्यक अङ्गों की कमी की पूर्ति होगी। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर समुन्नत, यशस्वी एवं ऐश्वर्य सम्पन्न बनावे हमारी यही शुभ कामना है।

प्रकाशक—
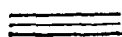
श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (पञ्चमाङ्गम्)

द्वितीय भागः

प्रथम शतकः—प्रथम उद्देशक

प्रश्नोत्तर

—★—

मूल—से णूणं भंते! चलमाणे चलिए? उदीरिज्जमाणे उदीरिए? वेइज्जमाणे वेइए? पहिज्जमाणे पहीणे? छिज्जमाणे छिन्ने? भिज्जमाणे भिन्ने? डज्झमाणे डड्ढे? मिज्जमाणे मडे? निज्जरिज्जमाणे निज्जिराणे? (२)

मूलार्थ–हे भगवन्! जो चल रहा हो वह चला, जो उदीरा जा रहा हो वह उदीरा गया, जो वेदा जा रहा हो वह वेदा गया, जो नष्ट हो रहा हो वह नष्ट हुआ, जो छिद रहा है वह छिदा, जो भिद रहा है वह भिदा, जो जल रहा है वह जला, जो मर रहा है वह मरा, जो खिर रहा है वह खिरा? इस प्रकार कहा जा सकता है? (२)

व्याख्या–गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से उक्त नौ प्रश्न किये। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गौतम स्वामी ने इन प्रश्नों में पहले 'चलमाणे चलिए'? प्रश्न ही क्यों किया? दूसरा प्रश्न पहले क्यों नहीं किया इस प्रश्न का समाधान यह है।

पुरुषार्थ चार हैं। उनमें मोक्ष पुरुषार्थ मुख्य है। जितने भी पुरुषार्थ हैं, वह सब मोक्ष के लिए ही होने चाहिए। और कोई काम ऐसे पुरुषार्थ का नहीं है, जैसे पुरुषार्थ का काम मोक्ष प्राप्त करने का है। अतएव सब प्राणियों को उचित है कि वे दूसरे काम छोड़ कर मोक्ष प्राप्ति के काम में लगें।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करना सब कामों में श्रेष्ठ है। मोक्ष-प्राप्ति एक कार्य है तो उसका कारण भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। बिना कारण के कार्य का होना मान लेने से बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। अतएव प्राकृतिक नियम के अनुसार यही मानना उचित है कि कारण के होने पर ही कार्य होता है। इस नियम से जब मोक्ष साध्य है तो उसका साधन भी अवश्य होना चाहिए।

मान लीजिए कोई महिला रोटी बनाना चाहती है। रोटी बनाना साध्य है तो उसके लिए साधनों का होना अनिवार्य आवश्यक है। चकला, वेलन, आटा, अग्नि आदि रोटी बनने के साधनों को सामग्री कहते हैं। यह साधन सामग्री होगी तभी रोटी बनेगी। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में साधन की आवश्यकता है। जैसा मनुष्य का साध्य होगा, वैसा ही उसे पुरुषार्थ भी करना पड़ता है। उसके अनुकूल ही साधन करने पड़ते हैं।

मोक्ष रूप साध्य के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप साधनों की आवश्यकता है। जैसे आटा, अग्नि, आदि सामग्री के बिना रोटी नहीं बन सकती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि सामग्री के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे यह साबित होता है कि मोक्ष रूप साध्य के साधन-सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र हैं।

साध्य के अनुकूल साधन और साधन के अनुसार साध्य होता है। अन्य जाति का कारण अन्यजातीय कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। अगर किसी को खीर बनानी है तो उसे दूध, शक्कर और चावल का उपयोग करना होगा। इसके बदले अगर कोई नमक-मिर्च इकट्ठा करने बैठ जाय तो खीर नहीं बनेगी। तात्पर्य यह है कि साध्य के अनुकूल ही साधन जुटाने चाहिए।

साध्य के अनुसार साधन जुटाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। खीर बनाने वाले को जानना चाहिए कि खीर के लिए दूध, शक्कर आदि की आवश्यकता है और

शाक बनाने वाले को जानना चाहिए कि उसके लिए नमक-मिर्च का उपयोग किया जाता है। ऐसा ज्ञान न होने से न खीर ही ठीक बन सकती है और न तरकारी ही। तात्पर्य यह है कि कार्य करने के लिए कर्त्ता को कारणों का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। यथावत् ज्ञान के अभाव मे कार्य यथावत् नही हो सकता।

यहाँ मोक्ष साध्य है और सम्यग्ज्ञान आदि उसके साधन हैं। साध्य और साधन के व्यभिचार को हटाकर, जो उनका जोड़ मिलाने की शिक्षा दे, वह शास्त्र कहलाता है। अच्छे पुरुष इस बात की शिक्षा चाहते है कि साध्य (मोक्ष) और साधन (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्-चारित्र) समान मिल जावे। इनमें व्यभिचार न हो। इसलिए अच्छे पुरुष शास्त्रश्रवण की इच्छा रखते हैं।

भगवती-सूत्र शास्त्र है। इस शास्त्र में कार्य-कारण का व्यभिचार न होने देने की शिक्षा दी गई है। साध्य और साधन में व्यभिचार न आने देने के लिए साध्य और साधन दोनों पर विचार करने की आवश्यकता है। अगर साध्य को भूलकर दूसरे ही कार्य के लिए साधन जुटाते रहे अथवा साधन को भूलकर साध्य दूसरे को ही मानते रहे तो कैसे कार्य होगा? साध्य है खीर और बना डाली तरकारी। यहाँ साध्य का ज्ञान न होने से दूसरे ही कार्य के साधन जुटाये और उन साधनों से खीर की जगह तरकारी बन गई। भले ही तरकारी अच्छी बनी, मगर साध्य वह नहीं थी। साध्य तो खीर थी, जो बनी नहीं। इसी प्रकार साध्य बनाया जाय मोक्ष और साधन जुटाए जाएँ संसार के, तो मोक्ष कैसे

मिलेगा ? कारण कार्य में व्यभिचार नहीं होना चाहिए। दोनों एक हो जावें। इस बात की शिक्षा देने वाला शास्त्र कहलाता है।

यहाँ कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधन हैं और मोक्ष साध्य है। इन साधनों के द्वारा मोक्ष को साधा जाय तो कोई गड़बड़ न होगी।

हमारे आत्मा की शक्तियाँ बन्धन में हैं। उन शक्तियों पर आवरण पड़ा है। उस आवरण को हटाकर आत्मा की शक्तियों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र की शक्ति स्वभावतः विद्यमान है, लेकिन वह दब रही है। रत्नत्रय की इस शक्ति में आत्मा की अन्य सब शक्तियों का समावेश हो जाता है ज्यों-ज्यों इस शक्ति का विकास होता है, मोक्ष समीप से समीपतर होता चला जाता है।

तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करेगा वह मोक्ष की आराधना करेगा और जो मोक्ष की आराधना करेगा वह इन साधनों को अपनावेगा। जैसे खीर को दूध, चावल और शक्कर कहो या दूध, चावल, शक्कर को खीर कहो एक ही बात है। इसी प्रकार सम्यक्-ज्ञान-दर्शन चारित्र की आराधना करो या मोक्ष की आराधना करो, दोनों एक ही बात है।

सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र मोक्ष के ही साधन हैं। यह साधन मोक्ष को ही सिद्ध करेंगे, और किसी कार्य को सिद्ध नहीं करेंगे। मोक्ष को साधने वाला इन तीनों कारणों को साधेगा और इन्हीं कारणों से मोक्ष सधेगा।

मोक्ष को वही जान सकता है जो इन शक्तियों के बन्धन को जानेगा। जो बन्धन को न जानेगा वह मोक्ष को क्या समझेगा! जो कैद या परतन्त्रता को जानेगा वही स्वतंत्रता चाहेगा। आज जो भारतीय परतंत्रता को जानते हैं वही स्वतन्त्रता को चाहते हैं। जिन्हें परतंत्रता का ही ज्ञान नहीं है, वे स्वतंत्रता को नहीं समझ सकते। इसी प्रकार जो बन्धन को समझेगा, वही मोक्ष को भी समझेगा।

वस्तु दो प्रकार से जानी जाती है-स्वपक्ष से और विपक्ष से। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होना स्वपक्ष से जानना है और उसके प्रतिपक्षी विरोधी वस्तु को जानकर और फिर उससे व्यावृत्त करके मूल वस्तु को जानना विपक्ष से जानना है। इसे विधिमुख से और निषेधमुख से जानना भी कहा जा सकता है। प्रकाश को जानने के लिए अन्धकार को जान लेना भी आवश्यक होता है। इसी प्रकार धर्म को जानने के लिए अधर्म को और अधर्म को जानने के लिए धर्म को जान लेना आवश्यक है। मोक्ष का प्रतिपक्ष बन्धन है। बन्धन है, इसी से मोक्ष भी है। बन्धन न होता तो मोक्ष भी न होता। मोक्ष को जानने के लिए बन्धन को जानना पड़ता है।

आत्मा के साथ कर्मों का एकमेक हो जाना बन्ध है। जैसे दूध और पानी आपस में मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मप्रदेशों का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना बन्धन है। और इस कर्मबन्ध का नाश हो जाना मोक्ष है। मोक्ष के लिए कर्मबन्धन काटना अनिवार्य है।

मूल बात यह है कि गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से जो नौ प्रश्न किये हैं, उनमें पहले 'चलमाणे चलिए?' प्रश्न

ही क्यों किया? इस प्रश्न को हल करने से पूर्व हमें यह देखना चाहिए कि कर्म बंध का नाश क्रमशः होता है या एक साथ?

प्रत्येक कार्य में क्रम देखा जाता है। एक सड़े-गले कपड़े को फाड़ने में भी पहले और पीछे के तार टूटने का क्रम है। कपड़े के तमाम तार एक साथ नहीं टूटते। इस प्रकार ससार में किसी भी कार्य को लीजिए, उसके सम्पन्न होने में क्रम अवश्य दिखलाई पड़ेगा। जो सूक्ष्म दृष्टि से कार्य के क्रम को समझ लेगा वह गड़बड़ में नहीं पड़ेगा। जो मनुष्य बारीक नज़र से किसी कार्य के क्रम को नहीं समझेगा उसका गड़बड़ में पड़ जाना स्वाभाविक है।

जैसे अन्यान्य कार्य क्रम से होते हैं उसी प्रकार कर्मबंध का नाश भी क्रम से होता है। इसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं होना चाहिए। अब देखना सिर्फ यही है कि कर्मबंध का नाश किस क्रम से होता है?

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से 'चलमाणे चलिए' से लगाकर 'निज्जरिज्जमाणे निज्जरिए' तक जो नौ प्रश्न किये हैं, उनमें कर्मबंध के नाश का क्रम सन्निविष्ट है। यह क्रम 'चलमाणे चलिए' से आरंभ होता है और 'निज्जरिज्जमाणे निज्जरिए' तक रहता है। इस अंतिम क्रम के पश्चात् कर्मबंध नहीं रहता। कर्मबंध के नष्ट होने में पहला क्रम 'चलमाणे चलिए' ही है, इसी कारण यह प्रश्न सब से पहले उपस्थित किया गया है।

अब यह देखना चाहिए कि कर्मबंध के नाश का यह क्रम दिखाकर कौन-सी बात समझाई गई है, और इन पदों

का अर्थ क्या है ? सब से पहले 'चलमाणे चालिए" इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर कर्म उदयावलिका में आते हैं। आवलिका कहते हैं— चक्कर को। स्थिति पूर्ण होने पर कर्म अपना फल देने के लिए जिस चक्कर में आते हैं, उसे उदय-आवलिका कहते हैं। इस प्रकार कर्म का फल देने के लिए सामने आना ही चलित होता है।

उदय-आवलिका का शास्त्र में बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन है, जिसे कहने का अभी समय नहीं है।

कर्मों को उदय-आवलिका में आने में असंख्यात समय लगते हैं असंख्यात समय में कर्म उदय आवलिका में आते हैं। जो समय असंख्यात हैं उनकी आदि भी है, मध्य भी है और अन्त भी है। असंख्यात में आदि, मध्य और अन्त होता ही है। कर्म पुद्गल अनन्त हैं और उनके उदय-आवलिका में आने का क्रम है। एक समय में अनन्त पुद्गलों का कितना दल चले, दूसरे समय में कितना चले और तीसरे समय में कितना दल चले, आदि। इस प्रकार क्रमपूर्वक कर्मपुद्गल उदय-आवलिका में आते हैं। इस प्रकार क्रम से चलते चलते कर्मपुद्गलों को उदय-आवलिका में आने में असंख्यात समय लग जाते हैं। लेकिन

चलमाणे चालिए—जो चलता है वह चला।

इस सिद्धान्त के अनुसार पहले समय में कर्मपुद्गलों का जो दल चला है, उसे दृष्टि में रखकर, आगे के असंख्यात

समयों में जो दल चलेगा, उसके लिए भी 'चला' कहा जायगा। अर्थात् पहले समय में जो कर्मपुद्गल का दल चला है, उसे लक्ष्य करके कर्मपुद्गल के सब दलों के लिए कहना चाहिए कि वे सब 'चले हैं'।

अब प्रश्न यह है कि जो कर्मपुद्गल चल रहे हैं, वे वर्त्तमान में हैं, उन्हें 'चले' इस प्रकार भूतकाल में क्यों कहा? वर्त्तमान को भूतकाल में क्यो कहा?

इस शंका का समाधान युक्ति से किया जाता है। शास्त्रकार का कथन है कि ऐसा न मानने से सारा व्यवहार ही बिगड़ जायगा, और जब व्यवहार बिगड़ जायगा तो आत्मिक क्रिया भी नष्ट होगी ही। कल्पना कीजिए एक आदमी कपड़ा बुन रहा है। कपड़ा बुनने में अनेक तार डालने पड़ेंगे। तभी कपड़ा पूरा बुना जायगा। इस प्रकार कपड़ा बुनने में असंख्यात समय लगेंगे। यद्यपि अभी कपड़ा पूरा बुना नहीं गया है, बुना जायगा, लेकिन बुनने के लिए एक तार डालने पर भी कपड़ा बुना गया कहलाता है। इस प्रकार वर्त्तमान की बात भी भूतकाल में बतलाई जाती है। यह नित्य के लोक व्यवहार में हम देख सकते हैं। हम देखते हैं कि पहले समय में जो तार बुना गया है, उसी के आधार पर 'कपड़ा बुना गया' ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार का लोक-व्यवहार भी निराधार नहीं है। बुनना भी उत्पत्ति एक क्रिया है। अन्यान्य क्रियाओं की भाँति इस क्रिया में भी असंख्यात समय लगते हैं। अतएव बुनने की क्रिया में जितने समय लगेंगे, उनके प्रारम्भिक समय से ही 'कपड़ा बुना गया' यह कहा जायगा। अगर ऐसा न

का अर्थ क्या है ? सब से पहले 'चलमाणे चालिए ?' इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर कर्म उदयावलिका में आते हैं। आवलिका कहते हैं— चक्कर को। स्थिति पूर्ण होने पर कर्म अपना फल देने के लिए जिस चक्कर में आते हैं, उसे उदय-आवलिका कहते हैं। इस प्रकार कर्म का फल देने के लिए सामने आना ही चलित होता है।

उदय-आवलिका का शास्त्र में बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन है, जिसे कहने का अभी समय नहीं है।

कर्मों को उदय-आवलिका में आने में असंख्यात समय लगते हैं असंख्यात समय मे कर्म उदय आवलिका में आते हैं। जो समय असंख्यात है उनकी आदि भी है, मध्य भी है और अन्त भी है। असंख्यात में आदि, मध्य और अन्त होता ही है। कर्म पुद्गल अनन्त है और उनके उदय-आवलिका मे आने का क्रम है। एक समय मे अनन्त पुद्गलों का कितना दल चले, दूसरे समय में कितना चले और तीसरे समय में कितना दल चले, आदि। इस प्रकार क्रमपूर्वक कर्मपुद्गल उदय-आवलिका मे आते हैं। इस प्रकार क्रम से चलते चलते कर्मपुद्गलों को उदय-आवलिका में आने में असंख्यात समय लग जाते हैं। लेकिन

चलमाणे चालिए-जो चलता है वह चला।

इस सिद्धान्त के अनुसार पहले समय में कर्मपुद्गलों का जो दल चला है, उसे दृष्टि में रखकर, आगे के असंख्यात

समयों में जो दल चलेगा, उसके लिए भी 'चला' कहा जायगा। अर्थात् पहले समय में जो कर्मपुद्गल का दल चला है, उसे लक्ष्य करके कर्मपुद्गल के सब दलों के लिए कहना चाहिए कि वे सब 'चले हैं'।

अब प्रश्न यह है कि जो कर्मपुद्गल चल रहे हैं, वे वर्त्तमान में हैं, उन्हें 'चले' इस प्रकार भूतकाल में क्यों कहा? वर्त्तमान को भूतकाल में क्यों कहा?

इस शंका का समाधान युक्ति से किया जाता है। शास्त्रकार का कथन है कि ऐसा न मानने से सारा व्यवहार ही बिगड़ जायगा, और जब व्यवहार बिगड़ जायगा तो आत्मिक क्रिया भी नष्ट होगी ही। कल्पना कीजिए एक आदमी कपड़ा बुन रहा है। कपड़ा बुनने में अनेक तार डालने पड़ेंगे। तभी कपड़ा पूरा बुना जायगा। इस प्रकार कपड़ा बुनने में असंख्यात समय लगेंगे। यद्यपि अभी कपड़ा पूरा बुना नहीं गया है, बुना जायगा, लेकिन बुनने के लिए एक तार डालने पर भी कपड़ा बुना गया कहलाता है। इस प्रकार वर्त्तमान की बात भी भूतकाल में बतलाई जाती है। यह नित्य के लोक-व्यवहार में हम देख सकते हैं। हम देखते हैं कि पहले समय में जो तार बुना गया है, उसी के आधार पर 'कपड़ा बुना गया' ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार का लोक-व्यवहार भी निराधार नहीं है। वस्त्र की उत्पत्ति एक क्रिया है। अन्यान्य क्रियाओं की भाँति इस क्रिया में भी असंख्यात समय लगते हैं। अतएव बुनने की क्रिया में जितने समय लगेंगे, उनके प्रारम्भिक समय में ही 'कपड़ा बुना गया' यह कहा जायगा। अगर ऐसा न

कहा जाय या न माना जाय तो फिर कहना होगा कि अन्यान्य तार डालने पर भी कपड़ा उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे एक तार डालने पर वस्त्र बुना गया नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार दो, तीन, चार, दस, बीस और सौ तार डालने पर भी बुना गया नहीं कहलाएगा। ऐसी स्थिति मे पहला तार डालने की क्रिया निरर्थक हुई, इसी प्रकार आगे के तार डालना भी निरर्थक होगा और फिर सभी तार निरर्थक हो जाएँगे। तात्पर्य यह है कि यदि पहला तार डालने की क्रिया करने पर भी कपड़ा उत्पन्न नहीं हुआ, तो कहना होगा कि तार डालने की क्रिया निष्फल गई। जो चीज़ बनानी है, क्रिया करने पर भी अगर वह नही बनी तो यही कहना चाहिए कि क्रिया निष्फल हुई। मगर इस प्रकार की निष्फलता स्वीकार करने से बड़ी गड़बड़ी होगी। फिर अगले तार डालने की क्रियाँ भी निरर्थक होगी और इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक तार डालना जब निरर्थक हुआ तो कपड़ा बुना ही नहीं गया। इस प्रकार प्रत्यक्ष से विरोध उत्पन्न होगा।

जो लोग पहला तार डालने पर वस्त्र की उत्पत्ति नही मानते, मगर अन्तिम तार डालने पर ही उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए कि पहले तार की अपेक्षा अन्तिम तार मे क्या विशेषता है? जैसे पहला तार एक था, उसी प्रकार अन्तिम तार भी एक है। अगर एक तार से वस्त्र नहीं उत्पन्न होता तो अन्तिम तार से उसकी उत्पत्ति कैसे कही जा सकती है? प्रथम और अंतिम तार समान है। अगर अंतिम तार से वस्त्र उत्पन्न हुआ माना जाय तो प्रथम तार से भी उसे उत्पन्न हुआ मानना चाहिए। जो शक्ति प्रथम तार में है, वही अंतिम में भी है। ऐसी अवस्था में पहला

तार पड़ने पर वस्त्र उत्पन्न हुआ न मानना और अंतिम तार पड़ने पर मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

कपड़े में पड़ने वाले तार पूरक हैं और कपड़ा पूर्य है। जो सूत एक ही गांठ में बँधा है, उस सबका कपड़ा बनेगा। इसलिए सब धागों में समान शक्ति है। चाहे जिस धागे को पहले डाला जाय, चाहे जिसे पीछे डाला जाय। अगर पहले तार के डालने पर कपड़े को उत्पन्न न कहोगे तो पिछला तार डालने पर कपड़े को उत्पन्न क्यों कहोगे? सभी तार एक ही गांठ के हैं और समान शक्ति वाले हैं, फिर उनमें यह भेद-भाव क्यों किया जाता है? अगर पहले वाले तार को अंत में डाला जाय और अंत में डाले जाने वाले तार को पहले ही डाल दिया जाय तब तो कपड़े को उत्पन्न हुआ मानने में कोई आपत्ति न होगी? अंतिम तार डालने से ही अगर कपड़ा उत्पन्न हुआ कहलाता है तो अंतिम तार को पहले ही डाल देने पर 'कपड़ा उत्पन्न हुआ' ऐसा मानने में आनाकानी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि आप अंतिम तार से ही कपड़े का उत्पन्न होना स्वीकार करते हैं। अगर इतने पर भी कपड़े को उत्पन्न हुआ न मानो तो फिर दुराग्रह ही कहलाएगा। इस दुराग्रह के कारण क्रिया में निरर्थकता आएगी। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पहला, दूसरा और तीसरा तार डालने से भी कपड़ा उत्पन्न हुआ है। अतएव यह मानना उचित है कि पहला धागा डालने से भी वस्त्र किंचित् उत्पन्न हुआ है। अगर ऐसा न माना जायगा तो फिर कभी भी वस्त्र उत्पन्न हुआ नहीं कहलाएगा।

यह हुआ तार की अपेक्षा वस्त्र को उत्पन्न माना जाना। काल की अपेक्षा भी यही बात मानना युक्ति संगत है। कपड़ा

उत्पन्न करने में जो काल लगता है, उसके तीन स्थूल विभाग किये जा सकते हैं—प्रथम प्रारंभकाल, दूसरा मध्यकाल और तीसरा अंतिमकाल। अगर कपड़े के प्रारंभकाल, में उसे उत्पन्न हुआ न माना जायगा तो मध्यकाल और अंतिमकाल में उत्पन्न हुआ क्यों माना जायगा? तीनों काल समान हैं और तीनों कालों में वस्त्र उत्पन्न होता है—किसी एक काल में नहीं। जैसे प्रारभकाल में कपड़ा बना, उसी प्रकार मध्य-काल में भी और उसी प्रकार अंतिमकाल में भी। फिर क्या कारण है जिससे प्रारंभ और मध्य के काल में कपड़े को उत्पन्न हुआ न मानकर अंतिम काल में ही उत्पन्न हुआ माना जाय?

प्रारम्भकाल में, एक तार डालने पर कपड़े का एक अंश उत्पन्न हुआ है या नहीं? अगर यह कहा जाय कि एक अंश भी उत्पन्न नहीं हुआ, तो इस का अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार सारा समय समाप्त हो गया और वस्त्र उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि जैसे प्रारम्भ काल में उत्पन्न कपड़े के अंश को अनुत्पन्न माना जाता है, उसी प्रकार मध्यकाल में भी अनुत्पन्न मानना होगा और अन्तिम काल में भी एक अंश ही उत्पन्न होता है, इसलिए उस समय में भी वस्त्र का उत्पन्न होना नहीं माना जा सकेगा। ऐसी स्थिति में वस्त्रो-त्पादन की सम्पूर्ण क्रिया और सम्पूर्ण समय व्यर्थ हो जायगा। इस दोष से बचने के लिए यह मानना ही उचित है कि आरम्भ-काल में भी अंशतः वस्त्र की उत्पत्ति हुई है।

तात्पर्य यह है कि जैसे एक तार पड़ जाने से ही वस्त्र का उत्पन्न होना मानना युक्ति संगत है, उसी प्रकार कर्मों

की उदय-आवलिका असंख्यात समय वाली होने से, पहले समय में जो कर्म उदय-आवालिका में आने के लिए चले हैं, उन कर्मों की अपेक्षा उन्हें 'चला' कहा जाता है। अगर ऐसा न माना जायगा तो जो कर्म उदय-आवलिका में आने के लिये चले हैं, उन कर्मों की चलन-क्रिया वृथा हो जायगी। और यदि प्रथम समय में कर्मों का चलना नहीं माना जायगा तो फिर दूसरे, तीसरे आदि समयों में भी उनका चलना नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि पहले समय में और पिछले समय में कोई अन्तर नहीं है। जैसे पहले समय में कुछ ही कर्म चलते हैं, सब नहीं, उसी प्रकार अन्तिम समय में भी कुछ ही कर्म चलते हैं—सब नहीं। (क्योंकि बहुत से कर्म पहले ही चल चुके हैं और जो थोड़े-से शेष रहे थे, वही अंतिम समय में चलते हैं) इस प्रकार सब समय समान हैं। किसी में कोई विशेषता नहीं है। अतः प्रथम समय में अगर 'कर्म चले' ऐसा न माना जाय तो फिर किसी भी समय में उनका चलना न माना जा सकेगा। इसलिए जिस प्रकार अंतिम क्रिया से 'कर्म चले' मानते हो, उसी प्रकार प्रथम क्रिया से भी 'कर्म चले' ऐसा मानना चाहिए।

यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि अगर एक तार डालने से वस्त्र उत्पन्न हो जाता है तो फिर दूसरे तार डालने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि अगर अन्तिम तार डालने से ही वस्त्र उत्पन्न हुआ, ऐसा माना जाय तो (अंतिम तार को छोड़कर) पहले के तमाम तार डालने की क्या आवश्यकता है? उन तारों का डालना निष्फल क्यों न जाय! असल बात यह है कि एक तार डालना एक समय की क्रिया हुई और दूसरा तार डालना दूसरे समय की

क्रिया हुई। पहले समय में पहला तार डाला है और उससे अंशतः वस्त्र उत्पन्न हुआ है, मगर दूसरे समय मे दूसरा तार डालना शेष है। लेकिन जो तार डाला है, उसकी क्रिया और समय निरर्थक तो नहीं गया ? उस समय में उस क्रिया से वस्त्र उत्पन्न तो हुआ ही है।

कर्म की स्थिति परिमित है। चाहे वह अन्तर्मुहूर्त्त की हो या सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की हो, लेकिन है परिमित ही। परिमित स्थिति वाले कर्म अगर उदय मे नहीं आवेंगे तो उनका परिमितपन मिट जायगा और सारी व्यवस्था भंग हो जायेगी। कर्मस्थिति की मर्यादा है और उस मर्यादा के अनुसार कर्म उदय आवलिका में आते ही हैं। उदय-आवलिका में आने के लिए सभी कर्म एक साथ नहीं चलते हैं। प्रत्येक समय में उनका कुछ अंश ही चलता है। प्रथम समय में जो कर्मांश चला है, उसकी अपेक्षा कर्म को 'चला' न माना जायगा तो प्रथम समय की क्रिया और वह समय व्यर्थ होगा। अतएव चलमान कर्म को चलित मानना ही उचित है। इसके सिवाय जो कर्मदल प्रारम्भ में उदय आवलिका के लिए चला है, वह अन्त में फिर चलता नही है। अतएव इस समय यह कर्मांश चला है और इस समय यह कर्मांश चला है ऐसा मानने से ही कर्मों के चलने का क्रम रह सकता है। एक कर्मदल, दूसरे कर्मदल से स्वतंत्र होकर चलता है। अतएव प्रथम समय मे जो कर्मदल चला है, उसके आधार पर 'चला' मानना युक्तिसंगत है।

यह पहला प्रश्न और इसके सम्बन्ध का समाधान हुआ। दूसरा प्रश्न यह है कि—

उदीरिज्जमाणे उदीरिए ?

अर्थात्—जो उदीरा जा रहा है वह उदीर्ण हुआ ?

कर्म दो प्रकार से उदय में आते हैं। कोई कर्म अपनी स्थिति परिपक्व होने पर उदय में आता है और कोई कर्म उदीरणा से। किसी विशेष काल में उदय होने योग्य कर्म को, जीव अपने अध्यवसाय विशेष से, स्थिति का परिपाक होने से पूर्व ही, उदयावलिका में खींच लाता है। इस प्रकार नियत समय से पहले ही प्रयत्न विशेष से किसी कर्म का उदय आवलिका में आ जाना 'उदीरणा' है। कर्म की उदीरणा में भी असंख्यात समय लगते हैं। परन्तु पहले समय में उदीरणा होने लगी तो 'उदीर्ण हुआ' कहना चाहिए। ऐसा न कहा जाय तो वही सब गड़बड़ी होगी, जिसका उल्लेख 'चलमाणे चलिए' के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

कई लोग कहते हैं कि कर्म जिस रूप में बँधे हैं, उसी रूप में भोगने पड़ते हैं। दूसरी तरह से उनका नाश नहीं हो सकता। लेकिन, ऐसा मान लेने पर तप आदि क्रियाएँ व्यर्थ हो जाएँगी। जब तप करने पर भी कर्म उदय में आवेगा और तप न करने पर भी उदय में आवेगा, तो फिर तप करने से क्या लाभ है? अतएव यह कथन समीचीन नहीं है कि कर्म का नाश दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता। स्थिति परिपक्व होने पर कर्म का उदय होना और हाय-हाय करके उन्हें भोगना यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। लेकिन कर्मों की उदीरणा करके उन्हें उदय-आवलिका में ले आने से फिर कर्म नहीं बंधते।

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि-आत्मा और कर्म का संबंध अनादि काल का है। अनादिकालीन होने से वह अनंत काल तक रहना चाहिए। इस प्रकार कर्मों का नाश हो ही नहीं सकता। यह छिछोरों की बात है। ज्ञानी जनों ने इस विषय में सत्य वस्तु-तत्त्व प्रकट किया है। ज्ञानियों का कथन है कि कर्म और आत्मा का संबंध प्रवाह की अपेक्षा अनादि होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा सादि है। अर्थात् प्रत्येक कर्म किसी न किसी समय आत्मा में बँधता है, अतएव सभी कर्म सादि हैं, फिर भी कर्म-सामान्य की परम्परा सदैव चालू है, इस दृष्टि से वह अनादि हैं।

प्रवाह या परम्परा किसे कहते हैं? मान लीजिए, आप यमुना के किनारे खड़े होकर उसकी धारा देख रहे हैं। धारा देखकर आप साधारणतया यह समझते हैं कि वह एक सी है इसमें वही पहलेवाला पानी है लेकिन वात ऐसी नहीं है। धारा का जल प्रतिक्षण आगे आगे बढ़ता जाता है। एक मिनिट पहले जो जल आपने देखा था, वह चला गया है और उसकी जगह दूसरा नया जल आ पहुँचा है। इस प्रकार पहले वाले जल का स्थान दूसरा जल ग्रहण करता चलता है। इसी कारण धारा टूटती नज़र नही आती और ऐसा जान पड़ता है मानों वही जल मौजूद है। लेकिन जसे पानी ऊपर से और न आता हो तो धारा खंडित हो जायगी उसी प्रकार नये कर्म न आवे तो कर्मों की परम्परा भी विच्छिन्न हो जायगी, तात्पर्य यह है कि प्रतिक्षण अपूर्व- अपूर्व कर्म आते रहते है, और इस प्रकार का कर्म प्रवाह अनादिकाल से चल रहा है।

हाँ, तो कर्म, स्थिति पूर्ण होने पर भी उदय--आवलिका में आते हैं और उदीरणा से भी आते हैं। मान लीजिए आपको किसी का ऋण चुकाना है। आप दो तरह से ऋण चुका सकते हैं। एक तो आप नियत समय आने पर ही कर्ज़ अदा करें, दूसरे नियत समय से पहले ही अदा कर दें। नियत समय पर कर्ज़ चुकाने में कोई विशेषता नहीं हुई; मगर समय से पहले ही चुकाने में गौरव है और आनन्द है। इसी प्रकार कर्म, एक तो उदय की स्थिति पर भोगे जाते हैं और दूसरे स्थिति के पूर्व ही उदीरणा करके क्षय किये जाते हैं।

शास्त्रकारों का कथन है कि–समय पर कर्म भोगोगे, इसमें क्या विशेषता होगी? समय से पहले ही, उदय–आवलिका में लाकर उनका क्षय क्यों नहीं कर देते? कर्मों के नाश होने के इन दोनों तरीकों में पर्याप्त अन्तर है। जो कर्म करोड़ों भव करने पर भी नहीं छूटते, वे कर्म धर्माग्नि, ध्यानाग्नि और तप की अग्नि में एक क्षण भर में भस्म किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रदेशी राजा को देखिए। उसने ऐसे घोर कर्म बाँधे थे कि एक एक नरक में अनेक-अनेक बार जाने पर भी सब कर्म पूरे न भोगे जावें। उसने निर्दयता से प्राणियों की हिंसा की थी। वह अपने मत की परीक्षा के लिए चोरों को कोठी में बंद कर देता था और कोठी को चारों ओर से ऐसी मूँद देता था कि कहीं हवा का प्रवेश न हो सके। वह मानता था कि जीव और काय एक है, अलग नहीं। इसी बात को देखने के लिए वह ऐसा करता था। अगर जीव और शरीर अलग-अलग होंगे तो चोर के मरने पर भी जीव दिखाई देगा। कोठी एकदम बंद है तो जीव निकलकर जायगा कहाँ? कई दिनों बाद वह चोर को कोठी से बाहर निकालता। चोर

मरा हुआ मिलता। राजा प्रदेशी कहता देखो, काय के अतिरिक्त आत्मा अलग नहीं है। यहां अकेला शरीर ही दिखाई दे रहा है।

कभी-कभी प्रदेशी राजा किसी चोर को चीर डालता और उसके टुकड़े टुकड़े करके आत्मा को देखता था। जब आत्मा दिखाई न देता तो अपने मत का समर्थन हुआ समझता और कहता कि शरीर से अलग आत्मा नहीं है। तात्पर्य यह कि प्रदेशी राजा घोर हिंसक था और महान् पाप करता था।

जो आत्मा अज्ञान अवस्था में घोर पाप करता है, ज्ञान होने पर वही किस प्रकार ऊँचा उठ जाता है, इसके लिए प्रदेशी का उदाहरण मौजूद है।

धन धन केशी सामजी, सारया प्रदेशी ना काम जी।

केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा को समझाया, तब वह जीव और शरीर को अलग अलग मानने लगा। पहले वही प्रदेशी, लोगों की आजीविका छीन लेता था और साधु सन्तों के प्राण लेने में संकोच नहीं करता था। चित नामक प्रधान ने केशी स्वामी से प्रार्थना की कि—'महात्मन्! आप सिताम्बिका नगरी में पदार्पण कीजिये। वहां अतीव उपकार होने की संभावना है। वहां के लोग बड़े धर्मात्मा हैं। वे बहुत प्रेम से आपका उपदेश सुनेंगे। तब केशी श्रमण ने उत्तर दिया—हे चित्त! एक सुन्दर बगीचा है। उसमें तरह तरह के फल लगे हैं। अत्यन्त आनन्द दायक वह बगीचा है। बताओ, ऐसे उद्यान में पक्षी आना चाहेगा कि नहीं?

चित –'क्यों नहीं महाराज ! अवश्य आना चाहेगा।

केशी श्र०—'लेकिन उस उद्यान में एक पारधी, धनुष चढ़ाकर पक्षियों को मार डालने के लिए उद्यत खड़ा है। ऐसी दशा में वहां कोई पक्षी जायगा' ?

चित-अपने प्राण गँवाने कौन जायगा ?

के.श्र.-इसी प्रकार सिताम्बिका नगरी उद्यान की भाँति सुन्दर है, किन्तु वहाँ का राजा प्रदेशी हम साधुओं के लिए पारधी के समान है। वह साधुओं के प्राण लिए बिना नहीं मानता। वह अपने अज्ञान से साधुओं को अनर्थ-की जड़ समझता है। ऐसी दशा में, तुम्ही बताओ, हमारा वहाँ जाना उचित होगा ?

चित-भगवन्, आपको राजा से क्या प्रयोजन ? उपदेश तो वहाँ की जनता सुनेगी।

चित की बात सुनकर केशी श्रमण ने सोचा-आखिर चित वहाँ का प्रधान है। इसका आग्रह है तो जाने में क्या हानि है ? सम्भव है राजा भी सुधर जाय। परीषह और उपसर्ग आऍंगे तो हमारा लाभ ही होगा-कर्मों की विशेष निर्जरा होगी।

इस प्रकार विचार कर केशी श्रमण ने सिताम्बिका जाने की स्वीकृति दे दी और वहाँ पधार भी गये। चित प्रधान घोड़े फिराने के बहाने प्रदेशी राजा को उनके पास ले आया। केशी श्रमण ने राजा को उपदेश दिया। उपदेश से प्रभावित हो राजा ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये।

जब राजा जाने लगा तो केशी स्वामी ने उससे कहा-'राजन्' अब तुम रमणिक हुए हो; मगर हमारे चले जाने पर फिर अरमणिक न बन जाना।

राजा ने उत्तर दिया-नहीं महाराज! मेरे नेत्र आपने खोल दिये हैं। अब देखते हुए गड्ढे में नहीं गिरूँगा। बल्कि अपने राज्य के सात हजार ग्रामों के चार भाग आपके सामने ही किये देता हूँ। एक हिस्सा राज्य-भण्डार के लिए, दूसरा अन्तःपुर के लिए, तीसरा राज्य की रक्षा के लिए और चौथे हिस्से से श्रमणों-माहणों के लिए एवं भिखारियों के लिए देता हुआ तथा अपने व्रतों का पालन करता हुआ विचरूँगा।

मित्रो! राजा प्रदेशी एक दिन दूसरों के हाथ का ग्रास छीन लेता था, अब छीनता नहीं वरन् देता है। क्या उसके यह दोनों कार्य बराबर हैं? अगर कोई जैनदर्शन के नाम पर इन दोनों कार्यों को समान बतलाकर एकान्त पाप कहता है तो उसे क्या कहना चाहिए?

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने घोर पाप करके कर्मों का बंध किया था। कथा में उल्लेख है कि उसने बेले-बेले पारणा किया और शास्त्र में कहा है कि उसने समभाव धारण किया। इस प्रकार प्रदेशी ने अपने इन कर्मों का नाश कर दिया।

राजा प्रदेशी ने हती सूरीकन्ता नार।
इष्टकान्त वल्लभ धणी सरे, शास्तर में अधिकार।
निज स्वारथ वश पापिणी सरे, मार्यो निज भर्तार।

राजा प्रदेशी की सूरीकान्ता नाम की रानी थी। राजा को वह बहुत प्यारी थी। राजा ने जब केशी श्रमण के बारह व्रत धारण कर लिए और वह धर्मात्मा बन गया, तब सूरीकान्ता ने सोचा—'राजा, धर्म के ढोंग में पड़ा रहता है। विषय भोग का आनन्द बिगड़ गया है। इसे मरवा कर और कुँवर को राजसिंहासन पर बिठलाकर राजमाता होने का नवीन सुख क्यों न भोगा जाय ?

इस प्रकार दुष्ट संकल्प करके रानी ने अपने पुत्र सूरीकान्त को बुलवाया। रानी ने उससे कहा—बेटा, तुम्हारा पिता ढोंगियों के चक्कर में पड़कर राज्य को मटियामेट किये देता है। थोड़े दिनों में ही सफाया हो जायगा, तब तुम क्या करोगे ? अतएव अपने भविष्य को देखो और अपना भला चाहते हो तो राजा को इस संसार से उठादो। मैं तुम्हें राजा बनाऊँगी।

राजकुमार को अपनी माता के वचन ज़हर से लगे। उसने पिता को मारने से इन्कार कर दिया। मन ही मन सोचा तुम मेरे देव-गुरु के समान पिता को मार डालने को कहती हो ! तुम माता हो, तुमसे क्या कहूँ ? कोई दूसरा होता तो इस बात का ऐसा मज़ा चखाता कि वह भी याद रखता।

राजकुमार के चले जाने पर रानी ने सोचा-यह बहुत बुरा हुआ। मुँह से बात भी निकल गई और काम भी सिद्ध न हुआ। कहीं राजकुमार ने यह बात प्रकट करदी तो घोर अनर्थ होगा। मैं कहीं की नहीं रहूँगी। अतएव बात फूटने से पहले ही राजा को मार डालना श्रेयस्कर है।

ऐसा भीषण संकल्प करके रानी पौषधशाला में, जहाँ राजा मौजूद था, आई, उसने राजा के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—आप तो बस, यहीं के हो गये हैं ? किस अपराध के कारण मुझे भुला दिया है ? आपके लिए तो और रानियाँ भी हो सकती हैं, मगर मेरे लिए आपके सिवाय और कौन है ? अतएव आज कृपा करके मेरे ही महल में पधारिये और वहीं भोजन कीजिए।

राजा ने सोचा—स्त्री-सुलभ पति भक्ति से प्रेरित होकर रानी उलाहना और निमंत्रण दे रही है। उसने रानी के महल में भोजन करना स्वीकार किया। रानी अपने महल में लौट आई। उसने राजा के लिए विषमिश्रित भोजन बनाया। जल में भी विष मिलाया और आसन आदि पर भी विष का छिटकाव किया। इस प्रकार विष ही विष फैलाकर रानी ने राजा को भोजन करने के लिए बैठाया और राजा के सन्मुख विषमिश्रित भोजन पानी रख दिया। रानी पतिभक्ति का दिखावा करने के लिए खड़ी होकर पंखा झलने लगी। ज्यों ही राजा ने भोजन आरंभ किया, उसे मालूम हो गया कि भोजन में विष का मिश्रण किया गया है। वह चुपचाप उठकर पौषधशाला में आ गया।

राजा किस प्रकार अपने कर्मों की उदीरणा करता है, यह ध्यान देने की बात है। इसे ध्यान से सुनिये और विचार कीजिए।

पौषधशाला में आकर राजा विचारने लगा—रानी ने मुझे ज़हर नहीं दिया है। मैंने रानी के साथ जो विषयभोग किया है, यह ज़हर उसी के प्रताप से आया है।

यद्यपि प्रदेशी राजा चढ़े हुए जहर को उतार सकता था और रानी को दंड भी दे सकता था, लेकिन जिन्हें कर्म की उदीरणा करनी होती है, वे दूसरे की बुराइयों का हिसाब नहीं लगाते।

राजा प्रदेशी सोचने लगा—हे आत्मन्! यह विष तुझे नहीं मिला है, किन्तु तेरे कर्म को मिला है। तू ने जो प्रगाढ़ कर्म बांधे हैं; उन्हें नष्ट करने के लिए इस ज़हर की जरूरत थी। मैंने जीव और शरीर को अलग-अलग समझ लिया है। यह स्पष्ट हो रहा है कि यह ज़हर आत्मा पर नहीं, शरीर पर अपना असर कर रहा है। आत्मा तो वह है कि—

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
> नैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

अर्थात्—आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती। आतमा छिदने योग्य नहीं है, सड़ने-गलने योग्य नहीं है, सूखने योग्य नहीं है। वह नित्य है, प्रत्येक शरीर में रहता है, स्थायी है, अचल है और सनातन है।

राजा प्रदेशी सोचता है-हे आत्मा! यह विष तुझे मार नहीं सकता, यह तेरे कर्मों को ही काट रहा है। इस लिए चिन्ता न कर। तू बैठा बैठा तमाशा देख।

मित्रों! इसका नाम प्रशस्त परिणाम है। इसी से कर्मों की उदीरणा होती है। ऐसा परिणाम उदित होने पर

कर्मों की ऐसी दशा होती है, जैसे उन्हें ज़हर ही दे दिया गया हो।

राजा ने फिर सोचा—प्रिये! तू ने खूब किया। मेरे कर्मों को अच्छा ज़हर दिया। तू ने मेरी बड़ी सहायता की। ऐसा न करती तो मुझ में उत्तम भावना न आती। पतिव्रता के नियमों का पालन तू ने ही किया है।

राजा ने प्रमार्जन, प्रतिलेखन तथा आलोचना—आदि करके अरिहंत-सिद्ध भगवान् की साक्षी से संथारा धारण कर लिया।

इधर रानी के हृदय में अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे। उसने सोचा 'ऐसा न हो कि राजा जीवित रह जाए अगर ऐसा हुआ तो भारी विपदा में पड़ना पड़ेगा। अतएव इस नाटक की पूर्णाहुति करना ही उचित है।' इस प्रकार सोचकर वह राजा के पास दौड़ी आई और प्रेम दिखलाती हुई कहने लगी मैं ने सुना, आपको कुछ तकलीफ हो गई है?

राजा ने, रानी से कुछ भी नहीं कहा। वह चुपचाप अपने आत्मचिन्तन में निमग्न रहा। संसार का असली स्वरूप उसके सामने नाचने लगा। तब रानी ने राजा का सिर अपनी गोद में ले लिया। और अपने सिर के लम्बे-लम्बे बालों से उसका सिर ढँक लिया। इस प्रकार तसल्ली करके और चारों ओर निगाह फेरकर उसने राजा का गला दबोच दिया।

रानी ने जब अपने पति का-राजा का गला दबाया तो वह सोचने लगा-रानी मेरा गला नहीं दबा रही है, मेरे शेष कर्मों का नाश कर रही है।

राजा प्रदेशी ने इस प्रकार कर्मों की उदीरणा की। इस उदीरणा के प्रताप से, वह सूर्याभ विमान में देव हुआ। उदीरणा ने उसे नरक का अतिथि होने से बचा लिया और स्वर्ग सुख का अधिकारी बनाया। राजा प्रदेशी ने अल्पकालीन समाधिभाव से ही अपना बेड़ा पार कर लिया। अगर वह दूसरे का हिसाब करने बैठता तो ऐसा न होता।

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने उदीरणा के प्रताप से न जाने कितने भवों का पाप क्षय करके आत्मा को हल्का बना लिया। इस प्रकार उदीरणा के द्वारा करोड़ों भवों में भोगने योग्य कर्म क्षण भर में ही नष्ट किये जा सकते हैं। दूसरा प्रश्न इसी उदीरणा के संबंध में है।

गौतम स्वामी ने तीसरा प्रश्न किया—

वेइज्जमाणे वेइए ?

अर्थात् जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया ?

आत्मा को सुख दुःख होना, यही कर्म वेदना है। जब कर्म की स्थिति पूर्ण हो जाती है तब वे उदय-आवलिका में आते हैं। मान लीजिए किसी ने तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाले कर्म बांधे। जब तक वह स्थिति-काल पूर्ण न हो जायगा, तब तक वह कर्म फल नहीं देंगे—सत्ता में विद्यमान रहेंगे। जब यह काल पूर्ण हो जायगा तब कर्म उदय आवलिका में आएँगे। उदय-आवलिका में आये हुए कर्मों के फल को भोगना निर्जरा कहलाता है, क्योंकि फल भोग के पश्चात् कर्म खिर जाते हैं। जब तक कर्मों की निर्जरा नहीं होती तभी तक कर्म भोगने पड़ते हैं और जब

तक कर्म भोगने पड़ते हैं तभी तक वेदना है। जब तक कर्म उदय-आवलिका में नहीं आये थे तब तक वेदना नहीं थी और जब कर्म की निर्जरा हो जाती है तब भी उस कर्म की वेदना नहीं होगी। जब कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार सुख या दुःख देंगे वह वेदना-काल कहलाएगा। अर्थात् कर्म के फल स्वरूप दुःख या सुख का अनुभव होना वेदना है।

कर्म-वेदना दो प्रकार से होती है—(१) स्थिति के क्षय से और (२) उदीरणा से। यद्यपि वेदना दोनों तरह से होती है तथापि जैसे समय पर कर्ज़ चुकाने में और समय से पहले ही महाजन को बुलाकर कर्ज़ चुकाने में अन्तर होता है, ऐसा ही अन्तर स्थिति के क्षय होने पर कर्म भोगने में और उदीरणा करके कर्म भोगने मे है। यद्यपि दोनों अवस्थाओं में कर्ज़ चुकाना पड़ता है, लेकिन बुलाकर चुकाने में जिस प्रसन्नता से कर्ज़ चुकाया जाता है उस प्रसन्नता से समय पूरा होने पर तकाज़ा होने पर नहीं चुकाया जाता। यही बात दोनों प्रकार के कर्मभोग में भी है।

वेदना किस प्रकार भोगी जाती है, इत्यादि विचार बहुत लम्बा है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। अतएव यहाँ उसका विचार नहीं किया जाता।

यद्यपि वेदना के समय असंख्यात हैं, लेकिन एक ही समय में जो वेदना होने लगी उसे 'वेदना हुई' ऐसा मानना चाहिए।

गौतम स्वामी का चौथा प्रश्न है:—

पडिज्जमाणे पडीणे ?

अर्थात्–जो गिरता है-पतित होता है, वह गिरा, पतित हुआ, ऐसा मानना चाहिए ?

आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म एकमेक होगये हैं, उन्हें गिराना-हटाना 'प्रहाण' कहलाता है। आत्म-प्रदेशों से कर्म को गिराने में भी असंख्य समय लगते हैं। परन्तु पहले समय में जो कर्म गिर रहे हैं, उनके लिए 'गिरे' यह कहा जा सकता है ? पहले प्रश्न में जिन युक्तियों का उल्लेख किया गया है, वही युक्तियाँ प्रत्येक प्रश्न के संबंध में लागू होती हैं। उनका संबंध सब के साथ जोड़ लेना चाहिए।

गौतम स्वामी का पाँचवाँ प्रश्न है:-

छिज्जमाणे छिन्ने ?

अर्थात्—जो छेदा जा रहा है वह छिदा, ऐसा कहा जा सकता है ? 'छिज्जमाणे का अर्थ है वर्त्तमान काल में जिसका छेदन किया जा रहा है। कर्म की दीर्घ काल की स्थिति को अल्पकाल की स्थिति में कर लेना, छेदन करना कहलाता है। यद्यपि कर्म वही है, लेकिन उसकी स्थिति को कम कर लेना 'छेदन' है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य बारह वर्ष के लिए जेल गया। लेकिन राजा के यहाँ पुत्र-जन्म होने से या कोई अच्छा काम करने से कैद की मियाद घटा भी दी जाती है। इसी प्रकार कर्म की स्थिति बहुत है, लेकिन अपवर्त्तना नामक करण द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर लेना उसका छेदन करना कहलाता है।

उपकरण, उपाय या साधन को करण कहते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में करण के दो भेद बतलाए गये हैं। पहला भेद है उपकर्म अर्थात् वस्तु को ज्यादा बना लेना। दूसरा भेद वस्तु विनाश है यानी बहुत दिन टिकने वाली चीज़ को बिगाड़ देना या कम कर देना। तात्पर्य यह है कि जिस करण के द्वारा बहुत दिन टिकने वाली वस्तु बिगाड़ दी जाती है-कम कर दी जाती है, वह वस्तुविनाशकरण है और जिसके द्वारा वस्तु ज्यादा बनाई जाती है वह उपकर्म-करण कहलाता है।

करण के प्रकारान्तर से दो भेद हैं-(१) उद्वर्त्तनाकरण और (२) अपवर्त्तनाकरण। इनमें से अपवर्त्तनाकरण के द्वारा कर्म की स्थिति कम की जाती है। इस करण द्वारा स्थिति का कम हो जाना ही कर्म का छेदन करना कहलाता है।

अपवर्त्तना करण द्वारा होने वाली कर्म-छेदन की इस क्रिया में भी असंख्यात समय लगते हैं, मगर जो छीज रहे हैं उन्हें 'छीजे' कहना चाहिए। अर्थात् छिद्यमान को छिन्न कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का छठा प्रश्न हैः—

भिज्जमाणे भिराणे ?

अर्थात्—जो भेदा जा रहा है वह भेदा गया, ऐसा कहना चाहिए ?

शुभ कर्म को अशुभ रूप में और अशुभ को शुभ रूप मे परिणत करना कर्म का भेदन करना कहलाता है। जैसे कच्चा आम स्वाद में खट्टा होता है, मगर उसे ठीक तरह रखकर पका लिया जाय तो मीठा हो जाता है। आम में यह मिठास कहीं बाहर से नहीं आती यह आम का 'भिद्यमान' होना है। इसी आम को ज्यादा देर तक दबा रक्खा जाय तो वह सड़ जाता है। जैसे आम में नाना अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार कर्म में भी अनेक अवस्थाएँ उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। मान लीजिए किसी जीव ने शुभ कर्मों का बंध किया, लेकिन बाद में ऐसा कुछ हो गया कि वे शुभ कर्म अशुभ हो गये। इसी प्रकार अशुभ कर्म, उपकरण द्वारा शुभ हो गये। ऐसा होना कर्म का भिद्यमान होना कहलाता है। तात्पर्य यह है कि बुरे का अच्छा हो जाना और अच्छे का बुरा हो जाना भेदन करना कहलाता है।

बँधे हुए कर्मों में तीन प्रकार से भेदन होता है-रसघात स्थिति-घात और प्रदेशघात। तीव्र रस को मंद रस, मंद रस को तीव्र रस रूप परिणत करना, अल्पकालीन स्थिति को दीर्घकालीन करना और दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करना, बहुत प्रदेशों को अल्प प्रदेश रूप और अल्प प्रदेशों को बहुत प्रदेश रूप में परिणत करना, यह सब कर्मों का भिद्यमान होना है। यह भेदन रस, प्रदेश और स्थिति तीनों में होता है।

कर्म में यह परिवर्त्तन कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे राजा प्रदेशी का हुआ था और जैसे पुण्डरीक तथा पुण्डरीक का हुआ था। प्रदेशी का वृत्तान्त बतलाया जा चुका है। पुण्डरीक ने हजार वर्ष तक

तपस्या करके शुभ कर्म उत्पन्न किये थे। लेकिन तीन दिन के पाप से वे शुभ कर्म भिद्यमान हो कर अशुभ हो गये। मगर उसी के भाई पुण्डरीक ने हजार वर्ष तक राज्य करके जो अशुभ कर्म बाँधे थे, वे तीन दिन की तपस्या से शुभ कर्म के रूप में परिणत हो गये। करण की विशेषता, कर्म में इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देती है। यह शुभ या अशुभ विशेषता उत्पन्न होना कर्म का भिद्यमान होना कहा जाता है। कर्मभेदन की इस क्रिया में असंख्यात समय लगते हैं, मगर प्रथम समय में जो भिद्यमान हो रहा है, उसे 'भेदा गया' कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का सातवाँ प्रश्न है:—

डज्झमाणे डड्ढे ?

अर्थात्—जो जलता है वह जला, ऐसा कहना चाहिए ?

कर्म रूपी काष्ठ को ध्यान रूपी अग्नि से जलाकर उसका रूपान्तर कर देना-अकर्म रूप परिणत कर देना, दग्ध कर देना कहलाता है। जैसे लकड़ी अग्नि से जलकर राख रूप में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ जो कर्म परमाणु लगे हुए हैं और सुख दुख देने वाले कर्म कहलाते हैं, उन्हें ध्यान रूपी प्रज्वलित अग्नि से फिर पुद्गल रूप बना देना, अर्थात् उन्हें अकर्म के रूप में पहुँचा देना दग्ध करना कहा जाता है।

ध्यान की अग्नि से भस्म किये हुए कर्म फिर भोगने नहीं पड़ते। ध्यान-अग्नि से भस्म हुए कर्म, कर्म ही नहीं रहते, अकर्म रूप पुद्गल बन जाते हैं।

ध्यान रूपी अग्नि से कर्म को अकर्म रूप परिणत करने में-दग्ध करने में अन्तर्मुहूर्त्त काल लगता है। इतने ही समय में ध्यान के परम प्रभाव से कर्म भस्म हो जाते हैं। मगर इस अन्तर्मुहूर्त्त काल में भी असंख्यात समय होते हैं। इन असंख्यात समयों में से पहले समय में जब कर्म दग्ध होने लगते हैं, तो उन्हें दग्ध हुए कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का आठवाँ प्रश्न हैः—

मिज्जमाणे मडे ?

अर्थात्—जो मर रहा है वह मरा, ऐसा कहना चाहिए?

पूर्व बद्ध आयु कर्म से रहित होना मरना कहलाता है। मरने का अर्थ आत्मा का नाश हो जाना नहीं है। आत्मा आयु कर्म के साथ शरीर में रहकर चेष्टा करता है। जब आत्मा आयु कर्म से रहित हो जाता है, आयु कर्म के साथ नहीं रहता है तब चेष्टा बन्द हो जाती है और आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आयु के पुद्गलों का नाश हो जाना मरण है। यद्यपि आयु के पुद्गलों का नाश असंख्यात समय में होता है, फिरभी उनमें असंख्यात समयों में से प्रथम समय में भी 'मरा' कहा जा सकता है। शास्त्र का कथन है कि एक समय के जन्मे हुए बालक का भी आवीचि मरण हो रहा है। आवीचि मरण के द्वारा प्रत्येक प्राणी प्रति-समय मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार यद्यपि मरने में असंख्यात समय लगते हैं, तथापि जो मरने लगा है, उसे मरा कहना चाहिए।

कल्पना कीजिए, गर्म पानी का एक हंडा चूल्हे पर से उतारकर नीचे रक्खा है। वह गर्म पानी प्रतिक्षण ठंडा होता है, लेकिन छूने वाले को प्रथम क्षण में नहीं मालूम होता कि यह ठंडा हो रहा है। मगर प्रथम क्षण में उसका कुछ ठंडा होना निश्चित है। अगर प्रथम क्षण में वह जरा भी ठंडा न हो तो फिर कभी ठंडा न होगा-ज्यों का त्यों गर्म बना रहेगा। अतएव यह मानना चाहिए कि पानी एक-एक क्षण में ठंडा हो रहा है। भले ही प्रतिक्षण का ठंडा होना किसी को प्रत्यक्ष ज्ञात न हो मगर उसके ठंडे होने में शंका को अवकाश नहीं है।

ठीक यही बात मृत्यु के संबंध में है। जीव ने जितने आयुकर्म के दलिक बांधे हैं, उनमें से थोड़े-थोड़े प्रतिक्षण उदय में आकर क्षीण हो जाते हैं और आयुकर्म के दलिकों का क्षीण होना ही मृत्यु कहलता है। अगर यह कहा गया जिस समय समस्त आयुकर्म के दलिक क्षीण हो जाते हैं, उसी समय मृत्यु होती है, तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि समस्त आयुकर्म के दलिक किसी भी समय क्षीण नहीं होते। अंतिम समय में वही आयु के दलिक क्षीण होते हैं जो पहले क्षीण होने से बच रहते हैं— समस्त नहीं। मतलब यह है कि अंतिम समय में भी जब समस्त दलिक क्षीण नहीं होते शेष रहे हुए कुछ दलिक ही क्षीण होते हैं और पहले भी कुछ दलिक क्षीण हैं तो क्या कारण है कि अंतिम समय में मृत्यु होना माना जाय और पहले (जीवित अवस्था में) न माना जाय? आयु कर्म का क्षीण होना ही मृत्यु है। अतएव प्रतिक्षण मृत्यु मानना ही युक्तिसंगत है। अगर प्रतिक्षण मरना न माना जायगा तो जीव कभी नहीं मरेगा।

गौतम स्वामी का नवमाँ प्रश्न है :—

निज्जरिज्जमाणे निज्जिराणे ?

अर्थात्-जो निर्जरता है वह निर्जीर्ण हुआ, ऐसा माना जाय?

साधारण तया फल देने के पश्चात् कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है किन्तु यहाँ निर्जरा का अर्थ मोक्ष प्राप्ति रूप है। कर्म, फिर कभी कर्म रूप से उत्पन्न न हो, उसे निर्जरमान कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करने वाले जो महापुरुष कर्म की निर्जरा करते हैं, उनके निर्जीर्ण कर्म, फिर कभी कर्म रूप से उन्हें उत्पन्न नहीं होते। उन्हें फिर कभी कर्मों को भोगना नहीं पड़ता। इस प्रकार कर्मों का आत्यन्तिक क्षीण होना यहाँ निर्जरा कही गयी है।

निर्जरा भी असंख्यात समयों में होती है। मगर जब कर्म निर्जीर्ण होने लगा, तभी-पहले समय में ही निर्जीर्ण हुआ, ऐसा कहना चाहिए।

यहाँ पर भी पहले के समान ही शंका की जा सकती है, और उसका उत्तर भी पहले के ही समान दिया जा सकता है। पहले वस्त्र का दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि असंख्यात समय में होने वाली क्रिया को प्रथम समय मे भी 'हुई' ऐसा कहा जा सकता है।

भगवान् का उत्तर—

श्री गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी के समक्ष यह नौ प्रश्न किये। इन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—

मूल—हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए, जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिरणे।

संस्कृत-छाया--हन्त गोतम! चलन चालित· यावन्निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः।

मूलार्थ—हाँ गौतम ! जो चलता है 'वह चला' से लेकर जो निर्जर रहा है वह निर्जरा; (ऐसा कहना चाहिए।)

व्याख्या—भगवान् महावीर के सामने गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किये हैं। इनके संबंध मे एक तर्क किया जा सकता है। वह यह है—गौतम स्वामी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे द्वादशांगी के प्रणेता हैं। भगवती सूत्र भी इसी द्वादशांगी के अन्तर्गत है और इसकी आदि में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं। यह कैसे संभव है ? इसके अतिरिक्त प्रत्येक समझने और समझाने योग्य विषय को गौतम स्वामी सम्यक् प्रकार

से समझते हैं। उन्हें सर्वाक्षरसन्निपाती कहा गया है। ऐसी अवस्था में उन्हें तो कोई संशय रहना ही नहीं चाहिए। फिर उन्होंने भगवान् से उक्त प्रश्न क्यों किये हैं? शास्त्रानुसार गौतम स्वामी केवली नहीं, तथापि केवली सरीखे हैं और सब शास्त्रों के ज्ञाता हैं। शास्त्र में जिनकी इतनी महिमा बतलाई गई है, वे इस प्रकार के प्रश्न क्यों करते हैं?

यद्यपि यह प्रश्न श्रोताओं के मस्तिष्क में उत्पन्न होना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ अतएव वक्ता आप ही प्रश्न खड़ा करके उसका समाधान करता है।

इस प्रश्न का समाधान यह है कि शास्त्र में गौतम स्वामी के जितने गुण वर्णन किये गये हैं, उनमें वह सभी गुण विद्यमान हैं। वे सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता भी हैं और संशयातीत भी हैं। यह सब होने पर भी गौतम स्वामी छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ होने के कारण ज्ञान में कुछ कमी रहती है। जिसके ज्ञान में कुछ कमी न हो वह छद्मस्थ ही कैसा? अतएव छद्मस्थ के लिए कुछ भी अनाभोग न रहे, यह संभावना नहीं की जा सकती। ज्ञान को ढँकने वाला ज्ञानावरण कर्म छद्मस्थ के विद्यमान रहता है। अगर छद्मस्थ में अज्ञान की जरा भी मात्रा नहीं है तो फिर ज्ञानावरण ने किसे ढँक रक्खा है? ज्ञानावरण कर्म क्या व्यर्थ है? नहीं। जब ज्ञानावरण कर्म है तो किन्हीं अंशों में अज्ञान भी अवश्य है। ऐसी अवस्था में गौतम स्वामी ने अगर भगवान् महावीर से प्रश्न किये तो क्या आश्चर्य की बात है?

एक बात और है। यह नियम नहीं कि अनजान ही प्रश्न करे, जानकार न करे। जो जानता है वह भी प्रश्न कर

सकता है। कदाचित् गौतम स्वामी इन प्रश्नों का उत्तर जानते भी हों, तब भी प्रश्न करना संभव है। आप पूछ सकते हैं कि जानी हुई बात पूछने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर होगा-उस बात पर अधिक प्रकाश डलवाने के लिए-अपना बोध बढ़ाने के लिए। अथवा जिन लोगों को प्रश्न पूछते नहीं आता, या जिन्हें इस विषय में विपरीत धारणा हो रही है, उनके लाभ के लिए, उन्हें बोध कराने के लिए गौतम स्वामी ने यह प्रश्न पूछे हैं। भले ही गौतम स्वामी उन्हें स्वयं समझाने में समर्थ होंगे, तथापि भगवान् के मुखारविन्द से निकलने वाला प्रत्येक शब्द विशेष प्रभावशाली और प्रामाणिक होता है, इस विचार से उन्होंने भगवान् के द्वारा ही इन प्रश्नों का उत्तर प्रकट करवाया है।

केशी स्वामी को स्वयं कोई संदेह नहीं था, लेकिन शिष्यों का सन्देह हरण करने के लिए गौतम स्वामी से उन्होंने प्रश्न किये थे। उन प्रश्नों का रूप भी ऐसा है, मानो उन्हें स्वयं ही संदेह हो और स्वयं ही प्रश्न करते हों।

साहु गोयम पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ॥
अन्नोवि संसओ, मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥

श्री उ० सूत्र २३ अ०

अर्थात्—हे गौतम! आपने मेरा यह संशय तो दूर कर दिया, लेकिन एक और संशय कहता हूँ।

न्यायालय में, न्यायाधीश के समक्ष वकील यह नहीं कहता कि 'उसका यह दावा है', मगर वह कहता है-'मेरा

यह दावा है।' गौतम स्वामी संसार के अज्ञ जीवों के वकील बने हैं। वे हम लोगों की ओर से भगवान् के समक्ष वकालत करते हैं। हम लोगों पर गौतम स्वामी का कैसा महान् उपकार है! अगर उन्होंने यह वकालत न की होती तो आज हम लोगों को इन बातों का ज्ञान किस प्रकार होता? आज गुणग्राहक कम होने से चाहे इन वचनों का उतना महत्व न समझा जाय, लेकिन सच्चा तत्त्व-जिज्ञासु इन वचनों को अमृत समझता है और इनका पान करके अपने को कृतार्थ समझता है। एक जगह किसी कवि ने कहा है—

ते न यहां नागर बड़े, जिन्हें चाह तव आव।
फूल्यो अनफूल्यो रह्यो, गँवई गाँव गुलाब॥

आज श्रेणिक, कामदेव और आनन्द जैसे जिज्ञासु श्रोता नहीं रहे, इसी कारण इन वचनों का सम्मान कम है। यह लोग साधु तो क्या, श्रावक से भी इन वचनों को सुनकर आनन्द की हिलोरों में उतराने लगते थे। यह लोग गुलाब के पानी की चाह करने वाले नागरिकों के समान थे। जो गँवार हैं उन्हें गुलाब की कद्र का क्या पता? वे उसे कटीला वृक्ष समझकर काट फेंकेंगे।

तात्पर्य यह है कि गौतम स्वामी जानते हुए भी अनजानों की पहचान करने के लिए, अपने ज्ञान में विशदता लाने के लिए, शिष्यों को ज्ञान देने के लिए और अपने वचन में प्रतीति उत्पन्न करने के लिए यह सब प्रश्न कर रहे हैं।

का उत्तर दिया। लेकिन उस जिज्ञासु को यह संदेह उत्पन्न हुआ कि इस विषय में भगवान् न मालूम क्या कहते ? उसने जाकर भगवान् से वही प्रश्न पूछा। भगवान् ने वही उत्तर दिया। श्रोता को उन महात्मा के वचनों पर प्रतीति हुई। इस प्रकार अपने वचनों की, दूसरों को प्रतीति कराने के लिए भी स्वयं प्रश्न किया जा सकता है।

इसके सिवाय सूत्र-रचना का क्रम गुरु-शिष्य के संवाद में होता है। अगर शिष्य नहीं होता तो गुरु स्वयं शिष्य बनता है इस तरह सुधर्मा स्वामी इस प्रणाली के अनुसार भी गौतम स्वामी और भगवान् महावीर से प्रश्नोत्तर करा सकते हैं। यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि गौतम स्वामी ने उक्त कारणों में से किस कारण से प्रेरित होकर प्रश्न किये थे, तथापि यह निश्चित है इन प्रश्नों के संबंध में उक्त तर्क को स्थान नहीं है। तर्क निर्मूल है।

भगवान् ने उत्तर में जो 'हन्ता' शब्द कहा है, उसका अर्थ आमंत्रण या संबोधन करना है और 'हां' भी है।

प्रश्न—'हंता गोयमा !' इतना कहने से ही गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर हो जाता है। फिर भगवान् ने 'चलमाणे चलिए, जाव निज्जरिज्जमाणे णिज्जिरणे' इतने शब्द क्यों कहे हैं ?

उत्तर—यद्यपि 'हंता गोयमा' अर्थात् हाँ गौतम ऐसा ही है, इतना कहने से काम चल जाता तथापि अपनी आज्ञा दोहराने के लिए भगवान् ने ऐसा फरमाया है। प्रश्न के शब्दों को दोहरा देने से वक्तव्य स्पष्ट हो जाता है। शिष्यों के अनुग्रह के लिए इतनी स्पष्टता आवश्यक है।

प्रश्न—'जाव' शब्द कहने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर— पाठ का संकोच करने के लिए 'जाव' शब्द कहा गया है। 'चलमाणे चलिए' कहकर यह प्रश्न का प्रथम पद 'णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिरणे' यह अंतिम पद कहा गया है और 'जाव' शब्द से बीच के सब पदों का ग्रहण हो जाता है।

इन पदों की व्याख्या समाप्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह नो पद कर्म के विषय में कहे गये हैं। कर्मों के ही संबंध में यहां विचार किया गया है। यहां मुख्य प्रश्न यह था कि वर्त्तमान के लिए भूतकाल का निर्देश करना क्या उचित है ? गौतम स्वामी ने इसी जिज्ञासा से यह प्रश्न किये थे। भगवान् ने उत्तर में कहा—हाँ गौतम ! यह ठीक है।

इस विषय में कुछ व्यावहारिक विवेचन की आवश्यकता है। संक्षेप में कुछ प्रकाश डाला जाता है—

यहाँ मोक्ष प्राप्ति के नौ पद कहे हैं; मगर देखना चाहिए कि मोक्ष क्या चीज़ है ? मोक्ष को जानने के लिए बंधन को जानना आवश्यक है। मोक्ष का अर्थ है—बंधन से छूटना। जब तक बंधन को भली-भाँति न जान लिया जाय, तब तक मोक्ष को भली भाँति नहीं जाना जा सकता।

लोग काम करने से पहले फल का विचार करते हैं। कार्य चाहे पूरा न हो मगर फल पहले ही मिल जाना चाहिए। अगर तत्काल फल न मिला तो उनकी निराशा का पार नहीं रहता। किन्तु ज्ञानीजनों का कथन यह है कि फल न दिखने से घबराओ मत। कार्य करना ही अपना कर्त्तव्य समझो, फल

की कामना न करो। जो कर्त्तव्य आरंभ किया है, उसी में जुटे रहो, फल आप ही दिखाई देने लगेगा। 'चलमाणे चालिए' का सिद्धान्त यही सिखलाता है कि मोक्ष गया नहीं है लेकिन जाने लगा कि गया ही समझो। इसलिए असंख्यात भवों में जिस मोक्ष को जाना है वह मोक्ष आज ही हुआ क्यों न कहा जाय ?

यह नौ प्रश्न विश्वासमय बनाते हैं। जिस मनुष्य के मन मे निराशा छाई रहती है वह कोई भी काम दृढ़तापूर्वक नही कर सकता। उसका तन काम करता है, और मन विद्रोह करता है। तन और मन के संघर्ष में उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और उसे सफलता भाग्य से ही मिल सकती है। इस निराशा को रोकने का सर्वश्रेष्ठ साधन यही है कि फल की आशा ही न की जाय। 'न रहेगा बांस, न बजेगी बासुरी' आशा ही न होगी तो निराशा कहाँ से आएगी ? आशा ही निराशा की जननी है। सफलता के लिए आशा-त्याग की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से जैनशास्त्रों मे निदान शल्य को त्याज्य कहा है और इसीलिए गीता में भी निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

अर्थात्—स्वल्प सा धर्म होने पर भी अपना कल्याण हुआ समझ, घबरा मत उसी से तुझे निर्भयता प्राप्त होगी।

काल के हिस्से के हिस्से करने पर अन्त में 'समय' हाथ आता है। लकड़ी के दो, चार आठ आदि टुकड़े करते-करते आखिर कभी न कभी यह होगा कि अब और टुकड़े

नहीं हो सकते । जिस टुकड़े के फिर टुकड़े नहीं हो सकते वह अंतिम टुकड़ा परमाणु कहलाता है । इसी प्रकार काल के जिस अंश के विभाग नहीं हो सकते, वह अंतिम विभाग 'समय' कहलाता है ।

प्रश्न हो सकता है कि स्वल्प धर्म होने पर ही कल्याण समझ लेने से 'बस हो गया' इस तरह की निराशा क्यों नहीं उत्पन्न होगी ? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति स्वल्प धर्म का भी महान् फल देखता है वह आगे के धर्म को कैसे भूलेगा ? कलकत्ता की ओर एक डग भरने वाले के संबंध में भी कहा जाता है कि 'वह कलकत्ता गया ।' मगर ऐसा कहने से वह जाने वाला अगर कलकत्ता जाने से रुक जाय तो मूर्ख गिना जायगा । जब कलकत्ता की ओर एक पैर भरने से ही 'कलकत्ता गया' कहते हैं तो अधिक पैर भरने से क्या वह कलकत्ता से दूर होगा ? थोड़ा-सा उद्योग सफल होता देखकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिए । सोचना चाहिए कि यह थोड़ी सी क्रिया भी निष्फल नहीं है तो अधिक क्रिया निष्फल कैसे हो सकती है ? तब आरंभ किये हुए कार्य को आगे बढ़ाने से क्यों रोका जाय ? चाहे धर्म हो या राजनीति, सर्वत्र यह बात लागू होती है । ऐसा विचार करने वाला कभी निराश नहीं होगा, बल्कि उसमें नई स्फूर्त्ति और नया उत्साह उत्पन्न होगा और वह आगे बढ़ता हुआ अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगा ।

कई लोग कहते हैं 'खादी पहनने से स्वराज्य नहीं मिलेगा किन्तु तलवार से मिलेगा ।' उन का कहना है—एक आदमी के विलायती वस्त्र और शराब छोड़ देने से क्या कल्याण होगा ?

इस प्रकार की निराशा बहुत-से लोगों में व्यापी हुई है। तब शास्त्र कहते हैं—'चलमाणे चलिए।' शास्त्र का यह विधान मनुष्य के हृदय को आश्वासन देता है और बतलाता है कि एक समय मात्र की क्रिया भी व्यर्थ नहीं जाती। जब असंख्य समयो में होने वाला कार्य एक समय में भी 'हुआ' माना जाता है तो कोई कारण नहीं है कि असंख्य मनुष्यों से होने वाला कार्य एक मनुष्य से 'हुआ' न माना जाय। शास्त्र कहता है—तू अपनी तरफ से जो करता है, वह किये जा। दूसरों का विचार मत कर। अगर तुझे इतना भी विश्वास न होगा तो आगे सामायिक से मोक्ष पर विश्वास कैसे होगा? कदाचित् यह कहा जाय कि सामायिक और मोक्ष में कार्य-कारण संबंध है, तो क्या खादी और स्वराज्य में कोई संबंध नहीं है? मनचाहा खाना-पीना स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतन्त्रता कुछ और ही चीज़ है।

एक तो आपके घर में, घर की खादी है, जिसे आपकी माता ने कात-बुनकर तैयार की है। एक दूसरा आदमी आपसे कहता है—अगर मेरे द्वार पर आकर, हाथ जोड़ कर माँगो तो मैं तुम्हें कीमती जरी का जामा दूँगा। इस प्रकार एक ओर माँ खादी देता है और दूसरी ओर दूसरा आदमी गुलाम बना कर ज़री का वस्त्र देता है। इन दोनो में से स्वतंत्रता किसमें है?

'खादी में।'

यद्यपि यह बात समझना कठिन नहीं है, फिर भी इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। लोग समझते हैं कि गुलाम चाहे हों, मगर ज़री का जामा पहनने से लोगो में आदर होगा और अच्छा लगेगा। खादी मोटी है, इसलिए बुरी है। इस प्रकार की मिथ्या धारणाएँ लोगों को अपना शिकार बनाए हुए हैं।

तुम्हारी माँ ने जो कपड़ा कष्ट उठाकर बुना है, उसे मोटा कहकर न पहनना और गुलाम बनकर ज़री का जामा पहनना, कोई अच्छी बात नहीं है। इससे तुम्हारी कद्र न होगी। गुलाम बनाकर वस्त्र देने वाले जब अपना हाथ खींच लेंगे तब तुम पर कैसे बीतेगी? इसके अतिरिक्त विदेशी कपड़ा मुफ्त में तो मिलता नहीं, फिर गुलाम बनने से क्या लाभ है?

याद रक्खो, हिन्दुस्तान तुम्हारी मातृ-भूमि है। इसका तुम्हारे ऊपर असीम उपकार है। किसी ने ठीक कहा है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

जो अपनी मातृभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर नहीं मानता, उसे उस भूमि पर पैर रखने का क्या अधिकार है?

शास्त्र कहता है—धर्म की आराधना करने वालों पर भी पाँच का उपकार है। उन पाँच में प्रथम षट्काय का उपकार है और षट्काय में भी सर्वप्रथम पृथ्वी का उपकार है। जो पृथ्वी का उपकार नहीं मानता वह कृतघ्न है।

सुना जाता है कि अमेरिका के थोर नामक डाक्टर के शरीर पर साँप रेंगते रहते हैं, लेकिन उसे नहीं काटते। मधु-मक्खियाँ उसके शरीर पर बैठती रहती हैं, लेकिन उसे नहीं काटतीं। उसने भारतीय साहित्य का अध्ययन करके योग द्वारा साधना की है। एकबार वह अपने शिष्य के साथ जंगल में गया। शिष्य ने डाक्टर से पूछा—'सब भूमियों में कौन सी भूमि उत्तम है?' डाक्टर थोर ने हँसकर उत्तर

दिया-'जिस भूमि पर तू दो पैर रखकर खड़ा है, उसे स्वर्ग की भूमि से भी अच्छी न माने तो तुझे उस पर पैर रखने का क्या अधिकार है?' शिष्य ने कहा-'क्या यह भूमि स्वर्ग की भूमि से भी अधिक महिमा वाली है?' सुनते हैं, स्वर्ग की भूमि रत्नमयी है, फिर इस भूमि को स्वर्ग-भूमि से बड़ी क्यों मानना चाहिए?' डाक्टर ने उत्तर दिया-स्वर्ग की भूमि चाहे जैसी हो, तेरे किस काम की? वहाँ के कल्पवृक्ष तेरे किस काम के? स्वर्ग की भूमि को बड़ा मानना, तेरा जिस भूमि ने भार वहन किया और कर रही है, उसका अपमान करना है। इस भूमि का अपमान करना घोर कृतघ्नता है। अपनी मातृभूमि का अपमान करने वाले के समान कोई नीच नहीं है।

सच्चे हृदय से सेवा करने वाली घर की स्त्री का अनादर करके वेश्या की प्रशंसा करने वाला जैसे नीच गिना जाता है, वैसे ही वह व्यक्ति भी नीच है जो भारत में रहकर अमेरिका, फ्रांस आदि की प्रशंसा करता है और भारतवर्ष की निन्दा करता है। अमेरिका और फ्रांस की प्रशंसा के गीत गाने वाले विना पास-पोर्ट लिए वहाँ जाकर देखें और वहाँ की नागरिकता के अधिकार प्राप्त करें तो सही! जिस देश में पैदा हुए हैं, उसकी निन्दा करके, दूसरे देश की प्रशंसा करने वाले गिरे हुए है, भोग के कीड़ा है, उनसे किसी प्रकार का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि भोगों की लालसा से प्रेरित होकर आत्मिक कार्यों को छोड़ देना, यही गुलामी है, यही बंधन है और इसी से विविध प्रकार के दुःखों का उद्गम होता है।

भोगमय कपड़े छोड़कर त्याग को अपनाने वाले के लिए मुक्ति भी समीप है। भोगमय वस्त्रों का त्याग आनन्द श्रावक ने भी तो किया था। उसने कपास के बने एक युगलपट (क्षौम वस्त्र) का आगार रखकर शेष समस्त वस्त्रों का त्याग कर दिया था। क्या इस त्याग को मोक्ष का मार्ग न मानोगे? इस प्रकार पापमय वस्त्रों का त्याग कर हम अपने आत्मा का भी कल्याण क्यों न करें? इन पापमय-भोगी-कपड़ों का त्याग करना सामायिक का अंग क्यों न कहा जाय? बारहों व्रत सामायिक के अंग हैं, अतएव इन वस्त्रों का त्याग भी सामायिक है। त्याग द्वारा अपने-भाइयों पर अनुकम्पा करना धर्म है। त्याग को जीवन में जितना स्थान मिलेगा, जीवन उतना ही कल्याणमय बनेगा।
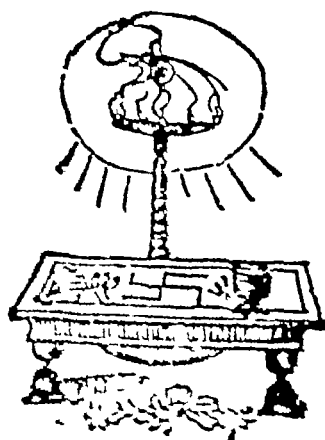
एकार्थ-अनेकार्थ-प्रश्नोत्तर

श्री गौतम स्वामी के प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत नौ प्रश्नों का उत्तर भगवान् महावीर ने दिया। तत्पश्चात् गौतम स्वामी भगवान् के प्रति पुनः प्रश्न करते हैं—

मूल—एए णं भंते! नव पया किं एगट्ठा? णाणा घोसा? णाणा वंजणा? उदाहु णाणट्ठा? णाणा घोसा? णाणा वंजणा?

गोयमा! चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए, पहिज्जमाणे पहीणे, एए णं चत्तारि पया एगट्ठा, णाणा घोसा, णाणा वंजणा उप्पण्णपक्खस्स। छिज्जमाणे छिण्णे, भिज्जमाणे भिण्णे, दड्ढमाणे दड्ढे, मिज्जमाणे मडे, निज्जरिज्जमाणे, निज्जिण्णे एए पंच पया णाणट्ठा, णाणा घोसा, णाणा वंजणा विगयपक्खस्स।

संस्कृत-छाया--एतानि भगवन्! नव पदानि किमेकार्थानि, नानाघोषाणि, नानाव्यञ्जनानि; उताहो नानार्थानि, नानाघोषाणि, नानाव्यञ्जनानि ?

गौतम! चलत् चलितम्, उदीर्यमाणमुदीरितम्, वेद्यमानं वेदितम्, प्रहीयमाण प्रहीणम्, एतानि चत्वारि पदानि एकार्थानि, नाना घोषाणि, नानाव्यञ्जनानि, उत्पन्नपक्षस्य। छिद्यमान छिन्नम्, भिद्यमान भिन्नम्, दह्यमान दग्धम्, म्रियमाण मृतम्, निर्जीर्यमाण निर्जीर्णम्, एतानि पञ्चपदानि नानार्थानि, नाना घोषाणि, नाना व्यञ्जनानि, विगतपक्षस्य।

मूलार्थ-भगवन्! यह नौ पद क्या एक अर्थ वाले, नाना घोष वाले और नाना व्यञ्जनों वाले हैं? अथवा नाना अर्थ वाले, नाना घोष वाले नाना व्यञ्जनों वाले हैं?

हे गौतम! जो चल रहा है वह चला, जो उदीरा जा रहा है वह उदीरा गया, जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया, जो नष्ट हो रहा है वह नष्ट हुआ, यह चार पद उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एक अर्थ वाले, नाना घोष वाले और नाना व्यञ्जनों वाले हैं। तथा जो छिद रहा है वह छिदा, जो भिद रहा है वह भिदा, जो जल रहा है वह जला, जो मर रहा है वह मरा, जो खिर रहा है वह खिरा, यह पाँच पद विगत पक्ष की अपेक्षा से नाना अर्थ वाले, नाना घोष वाले और नाना व्यञ्जनों वाले हैं।

व्याख्यान—गौतम स्वामी का प्रश्न यह है की इन नौ पदों के घोष और व्यंजन तो निराले-निराले हैं ही, परन्तु अर्थ भी इनका निराला-निराला है या एक ही ? अर्थात् यह पद एकार्थक हैं या नानार्थक हैं ?

एकार्थक पद दो प्रकार के होते हैं—प्रथम तो एक ही विषय की बात को एकार्थक कहते है, दूसरे जिन पदों का मतलब एक हो उन्हें भी एकार्थक कहते है।

घोष तीन प्रकार के होते हैं—(१) उदात्त—जो उच्च स्वर से बोला जाय (२) अनुदात्त—जो नीचे स्वर से बोला जाय और (३) स्वरित्त--जो न विशेष उच्च स्वर से, न विशेष नीचे स्वर से बल्कि मध्यम स्वर से बोला जाय। इस विषय का विशेष ज्ञान स्वर--विज्ञान को समझने से हो सकता है।

शास्त्रकार ने एकार्थक और नानार्थक की एक चौभंगी बनाई है—

(१) समानार्थक समान व्यंजन
(२) समानार्थक विविध व्यंजन
(३) भिन्नार्थक समान व्यंजन
(४) भिन्नार्थक भिन्न व्यंजन

कई पद समान अर्थ वाले और समान व्यंजन एवं समान घोष वाले होते हैं। जैसे-क्षीर--क्षीर। इन दोनों पदो का अर्थ एक है, घोष भी एक है और व्यंजन भी एक ही है। अतएव यह पद समानार्थक समान व्यंजन वाले पहले भंग के अन्तर्गत है।

कई एक पद समान अर्थ वाले और भिन्न व्यंजन वाले होते हैं। जैसे क्षीर, पय। यहां इन दोनों पदों का अर्थ तो समान है- दूध, लेकिन इनके व्यंजन अलग-अलग हैं, और घोष भी अलग हैं।

कई पद ऐसे होते हैं कि उनका अर्थ तो भिन्न-भिन्न होता है, मगर व्यंजन समान होते हैं। जैसे-अर्कक्षीर (आक का दूध), गो क्षीर (गाय का दूध), महिषीक्षीर (भैंस का दूध) आदि। इन पदों में क्षीर शब्द समान व्यंजन वाला है, लेकिन उसका अर्थ भिन्न-भिन्न है। अर्थात् अक्षरों की समानता होने पर भी अर्थ में विलक्षणता है।

अनेक पद ऐसे होते हैं जिनके व्यंजन भी भिन्न-भिन्न होते हैं। और अर्थ भी भिन्न-भिन्न होता है। जैसे—घट, पट, लकुट, आदि। यहाँ न व्यंजनों की समानता है, न अर्थ की समानता है। यह पद चौथे भंग के अन्तर्गत हैं।

गौतम स्वामी ने प्रश्न करते हुए यहाँ चौभंगी के दूसरे और चौथे भंग को ग्रहण किया है। अर्थात् उन्होंने इन दो भंगों को लेकर ही प्रश्न किया है। प्रश्न किया जा सकता है कि गौतम स्वामी ने उक्त चौभंगी के प्रथम और तृतीय भंग को क्यों छोड़ दिया? उनके विषय में प्रश्न क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि पहले और तीसरे भंग का इन नौ पदों में समावेश नहीं होता, क्योंकि नव पदों के व्यंजन भिन्न भिन्न हैं, यह स्पष्ट रूप से प्रकट है। इसमें प्रश्न को अवकाश ही नहीं है। इसी कारण गौतम स्वामी ने प्रथम और तृतीय भंग को छोड़ कर दूसरे और चौथे भंग को ग्रहण करके ही प्रश्न किया है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने फरमाया है कि—चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए और पहिज्जमाणे पहीणे, इन चार पदों के व्यंजन और घोष निराले निराले हैं, लेकिन अर्थ एक ही है। और आगे के पाँच पद भिन्न घोषों वाले, भिन्न व्यंनों वाले और भिन्न अर्थ वाले हैं।

यहां यह आशंका होती है कि चलमाणे चलिए इत्यादि जिन चार पदों को एक अर्थ वाला वतलाया गया है, उनका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है और पहले भिन्न-भिन्न अर्थ ही किया भी गया है। ऐसी स्थिति में भगवान् ने किस अपेक्षा में चारों पदों का अर्थ एक फरमाया है?

इस संबंध में शास्त्रकार का कथन है कि जो भी बात कही जाती है, वह किसी न किसी अपेक्षा से ही कही जाती है। यहां चारों पदों को उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एकार्थक वतलाया गया है।

वादी और प्रतिवादी के द्वारा बोला जाने वाला आदि वचन पक्ष कहलाता है। यहां इन चारों पदों को उत्पाद नामक पक्ष-पर्याय को ग्रहण करके एक अर्थ वाला कहा है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक चार पदों का अर्थ उत्पाद पर्याय की अपेक्षा एक ही अर्थ है और यह चारों एक ही काल में होने वाले हैं। एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में चलन क्रिया, उदीरणा क्रिया, वेदना क्रिया, और प्रहीण क्रिया-भी हो जाती है। इन चारों की स्थिति एकही अन्तर्मुहूर्त्त है। इस प्रकार तुल्य काल की अपेक्षा से भी यह चार पद एक अर्थ वाले कहलाते हैं।

अथवा—यह चारों पद एक ही कार्य को उत्पन्न करने के कारण एकार्थक कहलाते हैं। उदाहरणार्थ—पत्र लिखने में कागज़, कलम, दावात और लिखने वाला, यह चार हुए; मगर यह सब मिलकर एक ही कार्य के साधक होते हैं, अतएव एकार्थक हैं।

यह चारों मिल कर एक कार्य कौन-सा करते हैं, जिस की अपेक्षा से इन्हें एकार्थक कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर है—केवलज्ञान का प्रकट करना। यह चारों मिलकर केवलज्ञान को प्रकट करने रूप एक ही कार्य के कर्त्ता होने से एक ही अर्थ वाले कहलाते हैं।

इन नौ पदों में कर्म का विचार किया गया है और कर्म का नाश होने पर दो फल उत्पन्न होते हैं-पहला केवलज्ञान और दूसरा मोक्षप्राप्ति। पहले के चार पदों ने मिलकर केवलज्ञान उत्पन्न किया। इस पक्ष की अपेक्षा चारों पदों का अर्थ एक बतलाया गया है।

आत्मा के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति अपूर्व है। आत्मा को पहले कभी केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि केवलज्ञान एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी मिटता नहीं है। जो वस्तु आकर फिर चली जाती है वह प्रधान नहीं है। प्रधान तो वही है जो आकर फिर कभी न जावे। केवलज्ञान ऐसी ही वस्तु है, अतएव प्रधान है। प्रधान पुरुष इसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

समाधान—सब ज्ञानों में केवलज्ञान ही उत्कृष्ट है। वही क्षायिक ज्ञान है। कर्मों का क्षय होने से वही उत्पन्न होता है। इन चार पदों से अन्य ज्ञानों की उत्पत्ति मानी जाय तो अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। अतः इन पदों से केवलज्ञान की उत्पत्ति मानना ही समुचित है। और इसी अपेक्षा से इन चार पदों को समान अर्थ वाला बतलाया गया है।

शंका—केवलज्ञान की उत्पत्ति में यह चार पद क्या काम करते हैं? दो या तीन पदों से ही केवलज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता? केवलज्ञान के लिए इन चारों की आवश्यकता क्यों है?

समाधान—पहला पद 'चलमाणे चलिए' है। वह केवलज्ञान की प्राप्ति में यह काम करता है कि इससे कर्म उदय में आने के लिए चलित होते हैं। कर्म का उदय दो प्रकार से होता है-उदय भाव से और उदीरणा से। स्थिति का क्षय होने पर कर्म अपना जो फल देता है वह उदय कहलाता है और अध्यवसाय-विशेष या तपस्या आदि क्रियाओं के द्वारा जो कर्म स्थिति पूर्ण होने से पहले ही उदय में लाये जाते हैं, उसे उदीरणा कहते हैं। दोनों ही जगह उदय तो समान ही है, मगर एक जगह स्थिति का परिपाक होता है और दूसरी जगह नहीं। उदय या उदीरणा होने पर कर्म की वेदना होती है अर्थात् कर्म के फल का अनुभव होता है।

जिस कर्म के फल का अनुभव हो गया, वह कर्म नष्ट हो जाता है-आत्मा के प्रदेशों से पृथक् हो जाता है। उसे कर्म का 'पहीण' होना कहते हैं।

इस प्रकार यह चारों पद आत्मप्रदेश से कर्मों को हटा देते हैं, तब केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान के इस उत्पन्न पक्ष को ग्रहण करके ही इन चारों पदों को एकार्थक कहा है।

टीकाकार आचार्य का कथन है कि यह व्याख्या भगवती-सूत्र की प्राचीन टीका के आधार पर की गई है। अन्य आचार्यों का अभिप्राय इस संबंध में भिन्न प्रकार का है। उनका कथन है कि यह चार पद स्थितिबंध-विशेष रहित अर्थात् सामान्य कर्म के आश्रित होने से एकार्थक हैं और केवलज्ञान की उत्पत्ति के साधक हैं। एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में, यह केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए व्यापार करते हैं। अतएव इन्हें एकार्थक कहा गया है।

प्रश्न—पहले के चार पदों को एकार्थक बतलाने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शेष अंत के पाँच पद अनेकार्थक हैं। फिर उन्हें अलग अनेकार्थक क्यों कहा है?

उत्तर—सूत्र की रचना दो प्रकार से होती है-एक विद्वत्तापूर्वक, दूसरी दयापूर्वक। विद्वत्तापूर्वक जो रचना होती है उसमें संक्षेप का बहुत ध्यान रखना पड़ता है। वही अर्थ कायम रहे और रचना में एक मात्रा की कमी हो जाय तो ऐसे लेखकों को इतनी खुशी होती है, मानों पुत्र की उत्पत्ति हुई हो। 'एकमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' यह कथन प्रसिद्ध है। मगर ऋषियों की रचना इस दृष्टि से नहीं रची जाती। वे अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए रचना में संक्षेप करने की आवश्यकता नहीं समझते। अल्प से अल्प बुद्धि वाला भी जिस प्रकार वस्तु तत्त्व को समझ सके, इसी प्रकार का यत्न वे करते हैं। चाहे अक्षर बढ़ जाएँ

तो बढ़ जाएँ । यही कारण है कि शास्त्रकार ने पहले के चार पदों को एकार्थक बतलाकर भी, अंत के पांच पदों को अलग अनेकार्थक बतलाया है।

तात्पर्य यह कि 'छिज्जमाणे छिण्णे' से लगाकर 'निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे' तक के पांच पद भिन्न-भिन्न व्यंजन वाले, विभिन्न घोष वाले और भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं। यह बात विगत पक्ष की अपेक्षा से कही गई है। यहां इन पांच पदों का जरा विस्तार से विचार किया जाता है।

अंतिम पाँच पदों में 'छिज्जमाणे छिण्णे' यह प्रथम पद है । यह पद कर्मों की स्थिति की अपेक्षा से है। केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के अनन्तर, तेरहवें गुणस्थान वाले सयोग केवली, जब अयोग केवली होने वाले होते हैं, मन, वचन, काय के योग को रोक कर अयोगी अवस्था में पहुँचने के उन्मुख होते हैं, तब वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की जो प्रकृति शेष रहती है, उसकी लम्बे काल की स्थिति को सर्वापवर्त्तन नामक करण द्वारा अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति बना डालते हैं। अर्थात् लम्बी स्थिति को छोटी कर लेते हैं। यही कर्मों का छेदन करना कहलाता है।

यद्यपि कर्मों का यह छेदन असंख्यात समयों में होता है लेकिन प्रथम समय में ही, जब छेदन-क्रिया होने लगी तभी छीजे-छिन्न हुए, ऐसा कहना चाहिए।

कर्मों के छेदन होने में और भेदन होने में अन्तर है। छेदन स्थिति बंध के आश्रित है और भेदन अनुभागबंध के के आश्रित हैं। स्थिति का छेदन होना 'छिज्जमाण' होना

कहलाता है और कर्मों के रस का भेदन करना 'भिज्जमाण' होना कहलाता है। तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती सयोग केवली स्थितिघात के साथ रसघात भी करते हैं।

स्थितिघात और रसघात का काल एक ही होता है, लेकिन स्थितिघात के खंडवें में रसघात के खंडवें अनन्त होते हैं। अर्थात् स्थिति से कर्म के परमाणु अनंत गुणे हैं। स्थिति खंड की क्रम-रचना होती है-कि इस समय इतने स्थिति खंड का नाश होगा। अतएव यद्यपि कर्म स्थिति और कर्म-रस का नाश एक ही समय होता है, लेकिन स्थितिघात के पुद्गल अलग हैं और रसघात के अलग हैं। इस कारण छिज्जमान और भिज्जमाण पदों का अर्थ अलग-अलग है।

जैसे स्थिति कम की जाती है उसी प्रकार रस भी सोखा जाता है। इस रस के सोखने में भी असंख्य समय लगते हैं, परन्तु पहले समय से जो रसघात होता है, उसकी अपेक्षा रसघात हुआ, ऐसा कहा जा सकता है।

तीसरा पद 'दह्यमान' है। कर्म के प्रदेशों का घात होना कर्म का दाह कहा गया है। अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों को अकर्म रूप में परिणत कर देना कर्म का दाह करना कहलाता है।

मोक्ष प्राप्त करने वाले महात्मा किस स्थिति से, किस प्रकार आन्तरिक विशुद्धि करके मुक्त होते हैं, इस बात को ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखा है और आज शास्त्र द्वारा उसे सुनकर हम पवित्र हुए हैं।

प्रदेश का अर्थ है—कर्म का दल। पाँच ह्रस्व अक्षर उच्चारण-काल जितने परिमाणवाली और असंख्यात समय युक्त गुणश्रेणी की रचना द्वारा कर्म प्रदेश का क्षय किया जाता है। यद्यपि वह गुणश्रेणी है सिर्फ पाँच ह्रस्व अक्षर उच्चारण-काल के बराबर काल वाली है, लेकिन इतने-से काल में ही असंख्यात समय हो जाते हैं। वह गुणश्रेणी पूर्वरचित होती है। तेरहवें गुणस्थान से ही उस गुणश्रेणी की रचना होती है। इस गुणश्रेणी से समुच्छिन्न क्रिया नामक शुक्लध्यान का चौथा पाया उत्पन्न होता है। उसमें पहले समय से असंख्य समय तक प्रतिसमय असंख्य गुणा वृद्धि से कर्म-पुद्गल को दग्ध किया जाता है। अर्थात् पहले समय में जितने कर्म-पुद्गल दग्ध होते हैं, उससे असंख्यात गुणे दूसरे समय में दग्ध होते हैं। इसी प्रकार तीसरे समय में, दूसरे समय की अपेक्षा भी असंख्यात गुणे कर्मों को दग्ध किया जाता है, इस प्रकार दग्ध करने का क्रम बढ़ता जाता है। इसका कारण यह है कि ज्यों२ कर्मपुद्गल दग्ध होते जाते हैं, त्यों त्यों ध्यानाग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है और वह अधिकाधिक कर्मपुद्गलों को दग्ध करती है।

इस प्रकार भिद्यमान और दह्यमान पदों का अर्थ भी अलग-अलग है। पाँच ह्रस्व अक्षर उच्चारण करने में असंख्यात समय लगते हैं। इन असंख्यात समयों मे से पहले ही समय में जो कर्मपुद्गल दग्ध होते हैं, उनकी अपेक्षा उन्हें 'दग्ध हुए' ऐसा कहा जा सकता है।

यद्यपि जला देना दूसरी वस्तुओं के संबंध में भी लोक में प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

यहाँ मोक्ष-विचार का प्रकरण है अतः कर्मों को जलाना अर्थ ही मानना उचित है।

चौथा पद है—'मिज्जमाणे मडे।' अर्थात् जो मर रहा है वह मरा। इस पद से आयु कर्म के नाश का निरूपण किया गया है। अन्य पदों से इस पद का अर्थ भिन्न है। आयु कर्म के पुद्गलों का क्षय करना ही मरण है।

प्रत्येक योनि वाला संसारी जीव मरण करता है। संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जिसे लगातार जन्म-मरण न करना पड़ता हो। लेकिन यहाँ सामान्य मरण से अभिप्राय नहीं है। यहाँ उस मरण से तात्पर्य है कि जिसके पश्चात् फिर कभी जन्म-मरण न करना पड़े—अर्थात् वह मरण जो मोक्ष प्राप्त करने से पहले, एक बार करना पड़ता है। पहले बँधे हुए आयु कर्म का क्षय होजाय और नया आयु कर्म न बँधे, यही मोक्ष का कारण है।

यद्यपि मरण असंख्यात समय में होता है, लेकिन पहले समय में ही जो मरने लगा, उसे 'मरा' कहा जा सकता है।

पाँचवा पद है-'निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे।' समस्त कर्मों को अकर्म रूप में परिणत कर देना यहाँ निर्जरा करना कहा गया है। यह स्थिति संसारी जीव ने कभी नहीं प्राप्त की है। उसने कभी शुभ कर्म किये, कभी अशुभ कर्म किये, परन्तु समस्त कर्मों का नाश कभी नहीं किया। आत्मा के लिए यह स्थिति अपूर्व है। अतएव इस पद का अर्थ अन्य पदों से भिन्न है। इस प्रकार अन्त के पाँचों पद भिन्न भिन्न अर्थ वाले हैं।

शंका—पहले के जिन चार पदों को एकार्थक कहा है, उनमें भी काम अलग-अलग हुआ है, और अन्त के जिन पाँच पदों को भिन्नार्थक कहा है, उनमें भी काम अलग-अलग हुआ है, ऐसी स्थिति में चार को एकार्थक कहकर इन पाँच पदों से, और पाँच पदों को भिन्नार्थक कहकर पूर्ववर्त्ती चार पदों से अलग क्यों किया गया है ?

उत्तर—पूर्ववर्त्ती चार पदों से केवलज्ञान की उत्पत्ति रूप एक ही कार्य होता है अतः उन्हें एकार्थक कहा है; और पिछले पाँच पद विगत पक्ष की अपेक्षा भिन्न अर्थ वाले कहे गये हैं। 'विगत' का अर्थ है विनाश। वस्तु की एक पर्याय का नाश होकर दूसरी पर्याय होना विनाश है—अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था होना विनाश होना कहलाता है। एकान्त नाश किसी वस्तु का नहीं हो सकता; क्योंकि कोई भी पदार्थ सत् से असत् नहीं हो सकता। इस प्रकार वस्तु विनाश की अपेक्षा से पांच पदों को भिन्नार्थक माना गया है। इनकी भिन्नार्थकता इस प्रकार है—

(१) छिद्यमान पद में कर्म-खंडवे का नाश होना बतलाया गया है।
(२) भिद्यमान पद में कर्म-पुद्गल का नाश बताया गया है।
(३) दह्यमान पद में कर्म का अकर्म होना कहा गया है।
(४) म्रियमाण पद में आयु कर्म का अभाव होना कहा है।
(५) निर्जीर्यमाण पद में समस्त कर्मों का नष्ट होना सूचित किया है।

इस प्रकार विगत पक्ष की अपेक्षा इन पाँचों पदों को भिन्न अर्थ वाला माना गया है।

प्रश्न यह था कि पाँचवें अंग के पहले शतक के, पहले उद्देशक में, पहले-पहल 'चलमाणे चलिए' यह पद क्यों आया ? इस प्रश्न उत्तर इस व्याख्या से हो गया कि केवलज्ञान की उत्पत्ति और समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष का क्रम प्रतिपादन करने के लिए इन नौ पदों की चर्चा की गई थी। केवलज्ञान और मोक्ष दोनों ही परम मांगलिक हैं। अतएव आरंभ में इनकी चर्चा करना असंगत नहीं है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने राजा विक्रमादित्य को बोध दिया था। कहते हैं कल्याणमन्दिर उन्हीं की रचना है। इन आचार्य ने सम्मति तर्क नामक ग्रन्थ की भी रचना की है। उसमें आचार्य ने 'चलमाणे चलिए' इत्यादि सूत्र को पुष्ट करते हुए कहा है—

> उप्पज्जमाणकालं उप्पण्णं विगयं विगच्छन्तं।
> दवियं पण्णवयंतो, तिकालविसयं विसेसेइ ॥

अर्थात्—उत्पद्यमान कालिक (वर्त्तमान कालीन) द्रव्य को उत्पन्न कालिक (भूत कालीन) तथा विगच्छत् कालिक (वर्त्तमान कालीन) द्रव्य को विगत कालिक (भूत कालीन) प्ररूपण करने वाले भगवान् ने द्रव्य को त्रिकाल विषयक प्रतिपादन किया है। तात्पर्य यह है कि वस्तु अपनी उत्पत्ति के प्रारंभ समय से अंतिम समय तक उत्पद्यमान होती है, अतएव 'उत्पद्यमान' पद से वर्त्तमान और भविष्य काल विषयक वस्तु का प्रतिपादन किया है और 'उत्पन्न' पद से भूत कालीन वस्तु का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार 'विगच्छत्' पद से और 'विगत' पद से तीनों कालों का निरूपण समझ

झना चाहिए। इस तरह 'चलमाणे चलिए' आदि पदों से भगवान् ने यह सूचित किया है कि वस्तु तीनों कालों में विद्यमान रहती है।

श्रीसिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि 'चलमाणे' इस कथन से वर्त्तमान काल और भविष्यकाल का बोध होता है; अतएव गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते हैं कि द्रव्य भूतकाल में भी होगा या नहीं ?

आरम्भिक क्रिया से लेकर अन्तिम समय की क्रिया तक वर्त्तमान और भविष्य का बोध होता है और 'उत्पन्न' कहकर भगवान् ने भूतकाल का बोध कराया है। इस प्रकार पूर्वोक्त नौ पदों से यह सिद्ध होता है कि द्रव्य भूत, वर्त्तमान और भविष्य-तीनों कालों में विद्यमान रहता है। इस प्रकार इन पदों में कर्म की चर्चा होने पर भी द्रव्य की चर्चा का भी समावेश हो जाता है।

किसी-किसी आचार्य का अभिप्राय यह है कि इन नौ पदों के विषय में शास्त्र में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है कि यह पद कर्म के विषय में ही कहे गये हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें कर्म के सम्बन्ध में ही मानने का कोई कारण नहीं है। अतएव इन्हें कर्म के विषय में सीमित न रखकर वस्तु-मात्र के विषय में लागू करना चाहिए।

पहले के चार पद उत्पत्ति के सूचक हैं और अन्त के पाँच पद विनाश के सूचक हैं। इन्हें प्रत्येक वस्तु पर घटाया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उत्पाद और विनाश से युक्त है। मगर प्रश्न यह है कि इन्हें सामान्य रूप से पदार्थ

मात्र पर कैसे घटाया जा सकता है ? इस व्याख्या में पहले के चार पद नाना व्यंजन, नाना घोष वाले और एकार्थक का हिसाब कैसे बैठेगा ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वह आचार्य कहते हैं कि हमारे अर्थ में नाना-व्यंजन, नाना घोष और एक अर्थ घटाने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि शास्त्र में उत्पत्ति पक्ष और विगत पक्ष को स्पष्ट कर दिया है। नौ पदों को सामान्य रूप कहने का कारण यह है।

पहला पद है—' चलमाणे चलिए। ' यह चलन अकेले कर्म में नहीं, वरन् पदार्थ मात्र में पाया जाता है। चलन का अर्थ है-अस्थिरता। अस्थिरता रूप पर्याय को मुख्य करके यहाँ पदार्थ की उत्पत्ति बतलाई गई है।

दूसरा पद है—' उदीरिज्जमाणे उदीरिए। ' जो वस्तु स्थिर है उसे प्रेरणा करके चला देने को ' उदीरणा ' कहते हैं। अतएव उदीरणा भी एक प्रकार की चलन-क्रिया ही है।

तीसरा पद है—' वेइज्जमाणे वेइए। ' ' वि ' उपसर्ग-पूर्वक ' एजृ ' धातु से ' व्येजन ' शब्द बना है। व्येजन का अर्थ है—काँपना। काँपना स्वरूप की अपेक्षा उत्पन्न होना ही है।

चौथा पद है -'पहिज्जमाणे पहीणे।' अर्थात् जो प्रभ्रष्ट हो रहा है वह भ्रष्ट हुआ। अपने स्थान से पतित होना-गिर जाना-भ्रष्ट होना कहलाता है। यह भी एक प्रकार की चलन-क्रिया ही है। जिन। चले कोई वस्तु अपने स्थान से

गिर नहीं सकती, इसलिए चलन है। इस प्रकार यह चारों पद एकार्थक ही हैं।

उत्पत्ति—चलन क्रिया इन चारों पदों में विद्यमान है, अतएव शास्त्रकार ने इन्हें एकार्थक कहा है और व्यंजनों एवं घोषों की विभिन्नता तो स्पष्ट ही है।

इन आचार्य का अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त कर्म संबंधी विशेष पक्ष ग्रहण करने से उसमें इस सामान्य पक्ष का समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि वह कर्म तक ही सीमित रहता है, मगर इस सामान्य पक्ष में विशेष पक्ष का अन्तर्भाव हो आता है। जैसे 'मनुष्य' में राजा-रंक सभी का समावेश होता है, मगर 'राजा' कहने में रंक का समावेश नहीं होता। इसी प्रकार हमारी व्याख्या में कर्म का भी समावेश हो जाता है, तथा अन्य पदार्थों का भी समावेश हो जाता है; मगर कर्म रूप विशेष पक्ष में अन्य पदार्थों का समावेश नहीं होता। इसलिए सामान्य पक्ष ग्रहण करके इन पदों की व्याख्या करनी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि शेष पाँच पदों की संगति किस प्रकार बिठलाई जायगी? इस प्रश्न का समाधान यह है:—

इन पाँच पदों का कर्म रूप विशेष पक्ष स्वीकार करके व्याख्यान किया गया है, मगर यह भी वास्तव में सामान्य रूप ही हैं। कर्म को विशेष करने से यह पद विशेष हो गये हैं, लेकिन वास्तव में यह पद सामान्य है। 'छिज्जमाणे' आदि पद सामान्य रूप से क्रिया वाचक हैं। छेदन चाहे कर्म का हो, चाहे किसी अन्य वस्तु का, सभी के लिए समान रूप से वह

लागू हो सकते हैं। इसी प्रकार भेदन कर्म का भी होता है और अन्य वस्तुओं का भी। जलना, मरना, जर्जरित होना, आदि क्रियाएँ भी अकेले कर्म से ही संबंध नहीं रखती, अपितु सभी से उनका संबंध है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पद भी सामान्य रूप ही है, विशेष रूप नहीं।

इन पदों को भिन्न अर्थ वाला क्यों कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि छेदन-भेदन आदि भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। जैसे कुल्हाड़ी से वृक्ष की शाखा को छेद डालना पृथक् है और तीर से शरीर को भेद डालना पृथक् है। छेदन तो अलग-अलग कर देता है और भेदन भीतर घुसने को कहते हैं। इस प्रकार छेदन और भेदन में अन्तर है। इसी प्रकार अग्नि से घास फूस को जलाना छेदन-भेदन से पृथक् है। मरण, प्राण त्याग करने को अथवा वस्तु के बदल जाने को कहते हैं। अतएव यह भी छेदन भेदन और ज्वलन से भिन्न ही हुआ, क्योंकि जीव बिना छेदन, भेदन किये और बिना जलाये भी मर जाता है। अगर मरण इन क्रियाओं से भिन्न न होता तो ऐसा क्यों होता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मरने की क्रिया पूर्वोक्त क्रियाओं से न्यारी है।

बहुत पुराने को जीर्ण कहते हैं। निर्जरना का अर्थ है—जर्जरित होना। पदार्थ बिना छेदे, भेदे, जलाये भी ऐसा जर्जरित हो जाता है कि दीखता तो है मगर हाथ लगाते ही बिखरने लगता है। अतएव निर्जीर्ण होना भी छेदन-भेदन आदि से भिन्न समझना चाहिए। इस तरह उक्त पाँचों पद भिन्नार्थक हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब यह पूछा जा सकता है कि विगत पक्ष का अर्थ क्या है ? विगत का अर्थ है विनाश होना । यह पाँचों पद भिन्नार्थक हैं, लेकिन विगत पक्ष का समावेश इन पाँचों में होता है । छेदन, भेदन आदि से वस्तु का विनाश हो जाता है, अतः यह पाँचों पद विगत पक्ष की अपेक्षा हैं, यह कहना उचित ही है ।

इस प्रकार सामान्य पक्षके समथक आचार्यों का कथन है कि आपका पक्ष एक देशीय और हमारा पक्ष सर्वदेशीय है।

शंका—शास्त्र तत्त्व का निरूपण करता है। वह संसार की साधारण बातों पर प्रकाश नहीं डालता। अतएव हमने विशेष पक्ष लेकर इन पदों के द्वारा तत्त्व का व्याख्यान किया है, वही ठीक है। सामान्य पक्ष स्वीकार कर आपने संसार की सभी बातों का समावेश कर दिया है। संसार के छेदन-भेदन की क्रिया तो चलती ही रहती है । उस पर विचार की क्या आवश्यकता है। वह तो अतत्त्व रूप है। शास्त्र को उससे क्या प्रयोजन ? शास्त्र तो केवल तत्त्व की बात बतलाता है।

समाधान—इस कथन से यह प्रकट होता है कि आप को तत्त्व-अतत्त्व का समीचीन बोध नहीं है। क्या अकेला मोक्ष ही तत्त्व हैं ? दूसरे तत्त्व नहीं हैं ? अगर ऐसा होता तो शास्त्रकारों ने नरक, स्वर्ग आदि का वर्णन क्यों किया है ? अगर मोक्ष ही अकेला तत्त्व रूप माना जाय तो उसके सिवा सभी अतत्त्व ठहरते हैं। मगर ऐसा नहीं है। हमने जो व्याख्या की है वह तात्त्विक ही है, अतात्त्विक तनिक भी नहीं है।

तो क्या शाक-भाजी का छिदना, भाले से किसी चीज़ का भिदना, घास-फूस का जलना, मर जाना और जर्जरित होना भी तत्त्वरूप है ? इसका उत्तर है—हाँ, अवश्य। विना तत्त्व की कोई बात ही नहीं है। संसार के समस्त पदार्थों का जिन-प्रणीत तत्त्वों में समावेश हो जाता है। ऐसा कोई पदार्थ विद्यमान नहीं, जो तत्व से वहिर्भूत हो।

शंका—विना तत्व की कोई वात नहीं है, इसे स्पष्ट कीजिए ?

समाधान—पहला पद 'चलमाणे चलिए' है। इसके विरुद्ध जो 'चलमाणे अचलिए' कहता है उसे निश्चयनय का ज्ञान नहीं है। यदि 'चलमाणे' को 'चलिए' न कहा जाय तो निश्चयनय उठ जाता है। अतः निश्चयनय का ज्ञान कराने के लिए ही उक्त नौ पद कहे गये हैं। यह वात तनिक और स्पष्टता से समझाई जाती है।

कल्पना कीजिए—एक मनुष्य कह रहा है कि अमुक पुरुष कलकत्ता की ओर चल रहा है। अब उसे 'गया हुआ' कहें या 'नहीं गया हुआ' कहें ? अभी उस पुरुष ने कलकत्ता की ओर एक ही पैर उठाया है, वह कलकत्ता पहुँचा नहीं है। कलकत्ता सौ योजन दूर है। चला कम है और चलना अधिक है। ऐसी दशा में उसे गया कैसे कहा जाय ?

जो ऐसा प्रश्न करता है उसे व्यवहार का ज्ञान तो है, पर निश्चय का ज्ञान नहीं है। ज्ञानी जन निश्चय की अपेक्षा जो कथन करते हैं, उसका प्रश्नकर्त्ता को भान नहीं है। इन

न जानी हुई बात को समझा देने का नाम ही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त और निश्चय नय की अपेक्षा चल रहे को चला कहना चाहिए।

व्यवहार नय की अपेक्षा, जो कलकत्ता जा रहा है, उसे 'चलता' माना जाता है, 'गया' नहीं माना जाता। निश्चय नय कहता है कि जो चलने लगा वह चला अर्थात् जिसने गमन क्रिया आरंभ करदी वह गया, ऐसा मानना चाहिए।

विशेषावश्यक भाष्य में इस प्रश्न की विस्तार पूर्वक विवेचना की गई है। वहां जमाली के 'चलमाणे अचलिए' इस मत पर विचार कर इसका सहेतुक खंडन किया गया है और 'चलमाणे चलिए' इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है।

जो लोग यह कहते हैं कि मोक्ष की चर्चा ही तत्व है, उन्हें यह भी समझना चाहिए कि क्या शास्त्र में परमाणु की चर्चा, काल की चर्चा, क्षेत्र की चर्चा नहीं की गई है? अगर की गई है तो किस दृष्टि से? शास्त्र में अगर पुण्य की बात कही है तो क्या पाप की बात नहीं कही है? बंध का विवेचन है तो क्या निर्जरा का विवेचन नहीं है? शास्त्र में सभी विषयों की यथोचित चर्चा है और यह सभी मोक्ष में निमित्त होते हैं।

'चलमाणे चलिए' इस सिद्धान्त को स्वीकार न करने से अनेक दोष आते हैं। भगवती सूत्र में आगे वर्णन आएगा कि गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया—प्रभो! एक मुनि भिक्षा-चर्या के लिए गया। मोहनीय कर्म के उदय से वहाँ उसे कोई दोष लग गया। दोष तो लग गया मगर बाद में मुनि को पश्चाताप हुआ। उसने विचार किया कि मैं गुरु

महाराज की सेवा में उपस्थित होकर इस दोष की आलोचना करूँगा। आलोचना करने का संकल्प करके उसने गुरु महाराज की सेवा में प्रस्थान किया। किन्तु वहाँ पहुँचने से पहले ही—मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया। ऐसी स्थिति में दोष लगाने वाला वह मुनि आराधक कहलाएगा या नहीं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—आराधक होगा।

गौतम स्वामी ने फिर पूछा—अभी उसने आलोचना तो की ही नहीं है, फिर आराधक कैसे हो गया ?

भगवान् ने फरमाया—'चलमाणे चलिए' अर्थात् जो चलने लगा वह चला, इस सिद्धान्त के अनुसार वह मुनि आराधक है। वह आलोचना करने चला, मगर कार्य पूर्ण न हुआ तो यह उसके अधिकार की बात नहीं है।

अगर 'चलमाणे चलिए' सिद्धान्त न माना जाय तो आराधक पद में भी कमी आ जायगी और इस प्रकार मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

इस प्रकार निश्चय नय की अपेक्षा जो चलने लगा वह चला, ऐसा मानना उचित है। लेकिन केवल निश्चय नय को ही मानकर बैठ रहने से और व्यवहार का त्याग कर देने से भी काम नहीं चल सकता। निश्चय और व्यवहार-दोनों का ही यथायोग्य आश्रय लेना चाहिए। एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाला नय ही सम्यक् होता है अन्य-निरपेक्ष नय एकांत रूप होने से मिथ्या है। एकान्त व्यवहारवादी परमार्थ से दूर रहता है और एकान्त निश्चयवादी भी परमार्थ तक नहीं पहुँच सकता। इसीलिए कहा है—

निरपेक्षा नया मिथ्य , सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ।

यहाँ एक शंका और होती है। वह यह कि 'चलमाणे चलिए' यह प्रश्न पहले क्यों पूछा गया है? पहले इस शंका के विषय में कहा गया था कि यह पद मोक्ष के लिए है; मगर अब तो वह मोक्ष के लिए नहीं रहा, सामान्य रूप से सभी के लिए हो गया। अतएव जहाँ पहले पद को मांगलिक कहा था, वहाँ अब यह मांगलिक न रहा तब फिर इस अमांगलिक पद को सर्वप्रथम स्थान देने का क्या प्रयोजन है?

इसका उत्तर दूसरे आचार्यों ने यह दिया है कि सर्वप्रथम 'नमोत्थुणं' कहकर मंगल किया ही है; फिर तत्त्व-चिन्ता की सभी बातें मांगलिक ही होती हैं। इस 'चलमाणे-चलिए' रूप तत्व चिन्ता का अन्त मोक्ष है। अतएव यह पद भी मांगलिक ही है। इसमें मोक्ष प्राप्ति का विवेचन भी अन्तर्भूत हो जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति जीव को ही होती है। अतएव जीव तत्व का मूल स्वरूप समझ लेने पर ही मोक्ष का स्वरूप ठीक ठीक समझ में आ सकता है। जीव का स्वरूप समझने के लिए यह समझना भी आवश्यक है कि वह कितने प्रकार के हैं और वर्त्तमान में किस किस स्थिति में विद्यमान है।

जीव के भेद बतलाने के लिए संक्षेप में कहा गया है—

नेरइया असुराई पुढवाई बेइंदियादओ चेव ।
पंचिंदिय-तिरिय-नरा, विंतरजोइसियवेमाणी ॥

नय के मत के अनुसार जीव के चौवीस भेद हैं। इन चौवीस भेदों में पहला दण्डक नारकी का है, दस दण्डक असुरकुमार आदि के हैं, पाँच दण्डक पृथ्वीकाय आदि के हैं, तीन दण्डक दो इन्द्रिय आदि के अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के हैं, एक दण्डक पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का है, एक दण्डक मनुष्य का, एक दण्डक व्यन्तर देवों का, एक दण्डक ज्योतिषी का और एक दण्डक वैमानिक का। इन चौवीस भेदों में ही संसार के समस्त (अनन्तानन्त) प्राणियों का समावेश हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि अनन्तानन्त प्राणियों का चौवीस भेदों में अन्तर्भाव करने का प्रयोजन क्या है ? इस इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब किसी वस्तु की गणना करना शक्य न हो तो वर्गीकरण का सिद्धान्त काम में लाया जाता है। कल्पना कीजिए, एक वन है। उसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हैं। उन वृक्षों की गणना की जाय तो बड़ी ही कठिनाई उपस्थित होगी, लेकिन उन्हीं वृक्षों की कोटियां बना ली जाएं तो सुगमता होगी। जब संख्यात की गणना करने में ही कठिनाई आती है तो असंख्य की गणना किस प्रकार हो सकती है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। अतएव अनन्तानन्त जीवों का चौवीस श्रेणियों में वर्गीकरण करने से उनका पता लग जाता है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी वस्तु को श्रेणी-बद्ध करने के लिए कोई एक निश्चित नियम नहीं है। वह विभाजक की इच्छा पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। विभाजक

अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी सदृश धर्म को आधार मानकर अभेद और विसदृश धर्म को आधार बनाकर भेद की कल्पना करता है; क्योंकि वस्तुओं में अनेक सदृश और विसदृश धर्म विद्यमान हैं। यहाँ व्याख्या की सुगमता के लिए चौवीस भेदों की कल्पना की गई है, यद्यपि इससे भी कम या अधिक की कल्पना की जा सकती है और अन्यत्र की भी गई है।

यहाँ इन चौवीस भेदों को दण्डक इसलिए कहा है कि इन स्थानों में रहकर आत्मा ने घोर कष्ट सहन किये हैं। यह चौवीस दण्ड के स्थान हैं। अनादि काल से अब तक आत्मा इनमें निवास करके दण्ड भोग रहा है। यद्यपि इस जन्म में कुछ सुख मिला है, लेकिन वह सुख, स्थायी शान्ति देने वाला नहीं है, अतएव इसे भी दण्डक कहा है। आत्मा ने नरक आदि पर्यायों में रहकर किस प्रकार दुःखमय स्थिति भोगी है, इस बात को दिखाने के लिए ही शास्त्रकारों ने नरक आदि के भेद दिखलाये हैं। इनका विवरण क्रम से आगे किया जायगा।
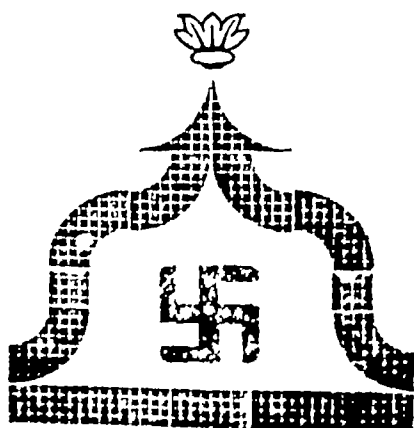
नारकी जीवों का स्थित्यादि वर्णन
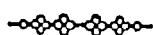
प्रश्न–णेरइयाणं भंते! केवइयं कालं ठिई पराणत्ता ?

उत्तर–गोयमा ! जहराणेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पराणत्ता ?

प्रश्न–णेरइया णं भंते! केवइ कालस्स आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति वा ? नीससंति वा ?

उत्तर–जहा ऊसासपए।

प्रश्न–णेरइया णं भंते! आहारट्ठी ?

उत्तर–जहा पराणवणाए आहारुद्देसए, तहा भाणियव्वं ।

गाथा:-

ठिई उस्सासाहारे किं वाऽऽहारेंति सव्वओ वा वि।
कतिभागं सव्वाणि वं, कीस व भुज्जो परिणमंति॥

संस्कृत-छाया—प्रश्न-नैरयिकाणां भगवन्! कियत्काल स्थितिः प्रज्ञप्ता ?

उत्तर-गौतम ! जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

प्रश्न-नैरयिका भगवन्! कियत् कालाद् आनन्ति वा प्राणन्ति वा ? उच्छ्वसन्ति वा निःश्वसन्ति वा ?

उत्तर-यथा उच्छ्वासपदे।

प्रश्न-नैरयिका भगवन्! आहारार्थिनः ?

उत्तर-यथा प्रज्ञापनायां प्रथम आहारोद्देशके, तथा भणितव्यम्।

गाथा-स्थितिरुच्छ्वासाऽऽहार, किं वाऽऽहरन्ति सर्वतो वाऽपि।
कतिभागं सर्वाणि वा, किं स्वतया वा भूयः परिणमन्ति॥

मूलार्थ:—

प्रश्न-हे भगवन्! नारकों की स्थिति कितने समय की कही है ?

उत्तर-हे गौतम! जघन्य से दस हजार वर्ष की स्थिति कही है और उत्कृष्ट रूप से तेतीस सागरोपम की स्थिति कही है।

प्रश्न- हे भगवन्! नारकी कितने समय में श्वास लेते हैं? और कितने समय में श्वास छोड़ते हैं?

उत्तर-उच्छ्वास पद के अनुसार समझना चाहिए।

प्रश्न--भगवन्! नारकी आहारार्थी हैं?

उत्तर-गौतम! पराणवणासूत्र के आहारपद के पहले उद्देशक के अनुसार समझना।

गाथा का अर्थ—नारकी जीवों की स्थिति, उच्छ्वास, तथा आहार सम्बन्धी कथना करना चाहिए। नारकी क्या आहार करते हैं? समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं? समस्त आहारक द्रव्यों का आहार करते हैं? और आहार के द्रव्यों को किस रूप में परिणमाते हैं?

व्याख्या—श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं कि हे भगवन्! आपने जीव के चौवीस दंडक कहे हैं, उन में से नरक योनि के जीव की स्थिति कितनी है? अर्थात् जीव नरक में कितने समय तक बना रहता है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया हे गौतम! स्थिति दो प्रकार की होती है—एक जघन्य, दूसरी

उत्कृष्ट। अर्थात् एक कम से कम और दूसरी ज्यादा से ज्यादा। जहाँ ऊँच और नीच होता है वहाँ मध्यम होता ही है। नरक के जीवों की कम से कम स्थिति दस हजार वर्ष की है अर्थात् नरक में गया हुआ जीव कम से कम दस हजार वर्ष तक नरक में रहता है। और अधिक से अधिक तेतीस सागर की स्थिति है।

प्रश्न हो सकता है कि नरक किसे कहते हैं? इसका उत्तर व्युत्पत्ति के अनुसार यह है कि-जिनके पास से अच्छे फल देने वाले शुभ कर्म चले गये हैं, जो शुभ कर्मों से रहित हैं, उन्हें 'निरय' कहते हैं और 'निरय' में जो हों वह 'नैरयिक' कहलाते हैं।

जैसे, जिसके पास से सम्पत्ति चली जाती है उसे दरिद्र कहते हैं। जहाँ सम्पत्ति नहीं है वहाँ दरिद्रता होती ही है और दरिद्रता वाले को दरिद्र कहते है। यह गुण गुणी का भेद है। दरिद्रता गुण है और गुणी वह प्राणी है जो दरिद्र हो। इसी प्रकार जो सुख से अतीत है और पुण्य-फल से भ्रष्ट है उसे नैरयिक कहते हैं।

आयु कर्म के पुद्गलों के रहने की मर्यादा स्थिति कहलाती है। आत्मा रूपी दीपक में, आयु कर्म रूपी तेल के विद्यमान रहने की सामयिक मर्यादा का नाम स्थिति है।

जो जीव अशुभ कर्म बाँध कर नरक योनि में जाते हैं, वे वहाँ कम से कम दस हजार वर्ष अवश्य रहते हैं। कोई भी जीव दस हजार वर्ष से पहले नरक से लौट कर नहीं आ सकता। इसी प्रकार नरक में अधिक से अधिक तेतीस

सागरोपम तक जीव रहता है। कोई भी जीव तेतीस सागरोपम से अधिक समय तक नरक में नहीं रह सकता। यही नरक की जघन्य और उत्कृष्ट आयु कहलाती है।

सागरोपम किसे कहते हैं, यह जान लेना आवश्यक है। यह संख्या लोकोत्तर है। अंकों द्वारा उसे प्रकट नहीं किया जा सकता। अतः उसे समझाने का उपाय उपमा है। उपमा द्वारा ही उसकी कल्पना की जा सकती है। इसी कारण उसे उपमा-संख्या कहते हैं, और इसी कारण 'सागर' शब्द के बदले 'सागरोपम' शब्द का व्यवहार भी किया जाता है, सागरोपम का स्वरूप इस प्रकार है।

चार कोस लम्बा और चार कोस चौड़ा तथा चार कोस गहरा एक कुआ हो। कुरु युगलिया के सात दिन के जन्मे बालक के बाल लिये जावें। युगलिया के बाल अपने बालों से ४०९६ गुने सूक्ष्म होते हैं। इन बालों के बारीक से बारीक टुकड़े- काजल की तरह किये जावें। चर्म चक्षु से दिखाई देने वाले टुकड़ों से असंख्य गुने छोटे टुकड़े हों। अथवा सूर्य की किरणों में जो रज दिखाई देती है उससे असंख्य गुने छोटे हों। ऐसे टुकड़े करके उस कूप में ठसाठस भर दिये जावें। सौ-सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक-एक टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जब वह कूप खाली हो जाय, तब एक पल्योपम होता है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी कूप जब खाली हो जाएं तब एक सागरोपम होता है। एक करोड़ को एक करोड़ की संख्या से गुणा करने पर जो गुणन-फल आता है वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है। ऐसे तेतीस सागरोपम की या ३३० कोड़ाकोड़ी पल्योपम की नरक की उत्कृष्ट स्थिति है। यह आत्मा ऐसी स्थिति में रह आया है।

नरक की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच की समस्त स्थिति मध्यम स्थिति कहलाती है। दस हजार वर्ष से एक समय अधिक से लेकर तेतीस सागरोपम से एक समय कम तक की स्थिति मध्यम समझनी चाहिए।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि-भगवन्! नरक के जीव क्या श्वासोच्छ्वास भी लेते हैं? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दिया है। तब गौतम स्वामी पूछते हैं कि उनको श्वासोच्छ्वास कितने समय में होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि पएणवणा सूत्र में इसका वर्णन किया है, वहाँ से जान लो।

इस प्रश्नोत्तर में 'आणमंति' और 'पाणमंति' शब्द आये हैं। इनका क्रमशः अर्थ है—श्वास लेना और छोड़ना। शरीर के भीतर हवा खींचने को आणमन या श्वास लेना कहते हैं और शरीर के बाहर हवा निकालने को प्राणमन या श्वास छोड़ना कहते हैं।

किसी-किसी आचार्य के मत से श्वासोच्छ्वास दो प्रकार के होते हैं-एक आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास और दूसरा बाह्य श्वासोच्छ्वास। आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास को आणमन और प्राणमन कहते हैं और बाह्य को उच्छ्वास-निःश्वास कहते हैं।

श्वास की क्रिया में समस्त योग का समावेश हो जाता है। जो महाभाग पुरुष श्वासोच्छ्वास को समझ लेता है

और बाह्य श्वासोच्छ्वास को अभ्यन्तर कर लेता है अर्थात् श्वासोच्छ्वास पर अधिकार कर लेता है, उसके लिए कोई कार्य कठिन नहीं रह जाता। जो लोग अधिक उम्र तक जीते हैं, वे इसी क्रिया के प्रताप से। खाना-पीना आदि सब श्वास पर ही निर्भर है। अभी श्वास पर थोड़ा-सा काबू है। अगर इतना भी काबू न रहे तो शरीर में मल-मूत्र भी टिकना कठिन हो जाय। शरीर में मल मूत्र का न टिकना श्वास पर अधिकार न होने का फल है। कई लोगों को दम उठने लगता है, यह भी श्वास पर नियंत्रण न होने के कारण है। आप लोग अपने को सुखी मानते हैं, लेकिन सारे सुख का आधार श्वास ही है। जिस समय श्वास पर से अधिकार उठ जाता है, उसी समय सारे सुख हवा में उड़ जाते हैं। श्वास की क्रिया बिगड़ने से आत्मा को कितनी असाता होती है, यह तो भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं। वास्तव में साता-असाता श्वास पर ही निर्भर है। योगीजन बाह्य श्वासोच्छ्वास को अभ्यन्तर कर लेते हैं, अतः उन्हें न रोग होता है, न शोक होता है।

एक बार किसी समाचार पत्र में पढ़ा था कि अमेरिका में एक स्त्री अस्सी वर्ष की है, मगर दिखती यह तीस वर्ष की है। उसने श्वासोच्छ्वास की क्रिया की सुन्दर साधना की है। लोग बाहरी क्रियाओं की ओर दौड़ते हैं, परन्तु इस विषय में उदासीन रहते हैं। जो पुरुष अपने बाह्य श्वासोच्छ्वास को आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास में ले जाता है, उसे अपूर्व शक्ति और अद्भुत सुख की प्राप्ति होती है।

प्राणी किसी भी योनि में पहुँच जाए, उसे श्वासोच्छ्वास अवश्य लेना पड़ता है। यह शरीर श्वासोच्छ्वास की क्रिया

नरक की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच की समस्त स्थिति मध्यम स्थिति कहलाती है। दस हजार वर्ष से एक समय अधिक से लेकर तेतीस सागरोपम से एक समय कम तक की स्थिति मध्यम समझनी चाहिए।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि-भगवन्! नरक के जीव क्या श्वासोच्छ्वास भी लेते हैं? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दिया है। तब गौतम स्वामी पूछते है कि उनको श्वासोच्छ्वास कितने समय में होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि पराणवणा सूत्र मे इसका वर्णन किया है, वहाँ से जान लो।

इस प्रश्नोत्तर में 'आणमंति' और 'पाणमंति' शब्द आये हैं। इनका क्रमशः अर्थ है—श्वास लेना और छोड़ना। शरीर के भीतर हवा खींचने को आणमन या श्वास लेना कहते हैं और शरीर के बाहर हवा निकालने को प्राणमन या श्वास छोड़ना कहते हैं।

किसी-किसी आचार्य के मत से श्वासोच्छ्वास दो प्रकार के होते है-एक आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास और दूसरा बाह्य श्वासोच्छ्वास। आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास को आणमन और प्राणमन कहते हैं और बाह्य को उच्छ्वास-निःश्वास कहते हैं।

श्वास की क्रिया में समस्त योग का समावेश हो जाता है। जो महाभाग पुरुष श्वासोच्छ्वास को समझ लेता है

और वाह्य श्वासोच्छ्वास को अभ्यन्तर कर लेता है अर्थात् श्वासोच्छ्वास पर अधिकार कर लेता है, उसके लिए कोई कार्य कठिन नहीं रह जाता। जो लोग अधिक उम्र तक जीते हैं, वे इसी क्रिया के प्रताप से। खाना-पीना आदि सब श्वास पर ही निर्भर है। अभी श्वास पर थोड़ा-सा काबू है। अगर इतना भी काबू न रहे तो शरीर में मल-मूत्र भी टिकना कठिन हो जाय। शरीर में मल मूत्र का न टिकना श्वास पर अधिकार न होने का फल है। कई लोगों को दम उठने लगता है, यह भी श्वास पर नियंत्रण न होने के कारण ही। आप लोग अपने को सुखी मानते हैं, लेकिन सारे सुख का आधार श्वास ही है। जिस समय श्वास पर से अधिकार उठ जाता है, उसी समय सारे सुख हवा में उड़ जाते हैं। श्वास की क्रिया बिगड़ने से आत्मा को कितनी असाता होती है, यह तो भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं। वास्तव में साता-असाता श्वास पर ही निर्भर है। योगीजन बाह्य श्वासोच्छ्वास को अभ्यन्तर कर लेते हैं, अतः उन्हें न रोग होता है, न शोक होता है।

एक वार किसी समाचार पत्र में पढ़ा था कि अमेरिका में एक स्त्री अस्सी वर्ष की है, मगर दिखती वह तीस वर्ष की है। उसने श्वासोच्छ्वास की क्रिया की सुन्दर साधना की है। लोग बाहरी क्रियाओं की ओर दौड़ते हैं, परन्तु इस विषय में उदासीन रहते हैं। जो पुरुष अपने बाह्य श्वासोच्छ्वास को आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास में ले जाता है, उसे अपूर्व शक्ति और अद्भुत सुख की प्राप्ति होती है।

प्राणी किसी भी योनि में क्यों न हो, उसे श्वासोच्छ्वास अवश्य लेना पड़ता है। यह शरीर श्वासोच्छ्वास की क्रिया

पर ही टिका हुआ है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया बंद हो जाने पर शरीर भी नहीं रहता।

गौतम स्वामी ने भगवान् से नारकी जीवों के श्वासोच्छ्वास के संबंध में प्रश्न किया है। प्रश्न के उत्तर में पण्णवणा सूत्र का हवाला दे दिया गया है। मगर टीकाकार ने संक्षेप रूप से यह बतला दिया है कि पण्णवणासूत्र में प्रस्तुत विषय में क्या वर्णन किया गया है। उस सूत्र में भगवान् ने कहा है कि नारकी जीव सतत श्वासोच्छ्वास लेते रहते हैं।

जो अधिक दुखी होता है उसे अधिक श्वास आता है। श्वास ज्यादा आने लगा कि दुःख की मात्रा बढ़ी। श्वास अधिक आने पर कैसी घबराहट होती है, यह हम लोग संसार में देख सकते हैं। श्वास की बीमारी में जिसे श्वास चलता हो उससे पूछो। वह अपने दुःख का वर्णन नहीं कर सकेगा।

निरंतर श्वासोच्छ्वास क्यों आता है? इसलिए कि जीव अति दुखी है।

प्रश्न हो सकता है कि सतत कहने से ही निरन्तर की प्रतीति हो गई थी, फिर भी 'संतत' पद क्यों कहा है * ? इसका उत्तर यह है कि अकेला सतत कहने से कुछ कमी रह

---

* पण्णवणा सूत्र का पाठ इस प्रकार है —

'गोयमा ! सययं संतयामेव आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊससंति वा, नीससंति वा।'

जाती है, अतएव संतत पद और कहा है। उदाहरण के लिए—'लोक में मनुष्य कहते हैं कि हम निरंतर भोजन करते हैं।' यहां निरंतर पद का प्रयोग करने पर भी कोई मनुष्य प्रतिक्षण सदा नहीं खाता रहता। बीच में काफ़ी समय रहता ही है। फिर भी रोज-रोज भोजन करने को निरन्तर भोजन करना कह दिया जाता है। यहां श्वासोच्छ्वास के विषय में ऐसा न समझा जाय, इस अभिप्राय से सतत और संतत-दो निरंतरतावाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन दो शब्दों के प्रयोग से यह सूचित हो गया कि बीच में समय खाली नहीं रहता—नारकी जीवों की श्वासोच्छ्वास-क्रिया सदा-सर्वदा-प्रतिक्षण चालू रहती है।

आंख बन्द करके खोलने में भी असंख्य समय लगते हैं इस समय में भी नरक के जीवों का श्वासोच्छ्वास बराबर जारी रहता है। वह किसी भी समय बंद नहीं होता।

नरक के जीवों के श्वासोच्छ्वास का वर्णन करके यह दिखलाया गया है कि-'हे प्राणी! समझ ले, पहले ही सावधान हो ले। देख, नरक के जीवों को कितना कष्ट होता है।'

नरक के दुःखों का वर्णन देखकर आत्मा सचेत हो जाय, इसीलिए श्री गौतम स्वामी ने नरक का वर्णन पूछा है और भगवान् ने नरक का वर्णन किया है। भगवान् महावीर ने नरक का वर्णन ही नहीं किया है, अपितु नरक को अपना पुराना घर बतलाया है। उन्होंने गौतम से कहा है कि—हे गौतम! मैं और तू-दोनों नरक में भी गये है और स्वर्ग में भी गये हैं। संसार की कोई योनि शेष नहीं, जिसमें संसारी जीव अनेक वार न भटक आया हो। असंख्य काल ऐसी

स्थितियों में व्यतीत किया है। ऐसा विचार कर समय भर का भी प्रमाद न करो।

मित्रो! आप को भी यही बात सोचनी चाहिए। अगर आप इस ओर ध्यान न देंगे तो याद रखिए, नरक का द्वार अभी तक खुला हुआ है। वह बंद नहीं हुआ है।

यहां एक बात लक्ष्य देने योग्य है। भगवान् ने प्रत्येक उत्तर के प्रारंभ में 'हे गौतम!' इस प्रकार संबोधन किया है। सिर्फ उत्तर ही न देकर संबोधन भी करने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने ऐसा करके हमें शिष्य को उत्तर देने की विधि बतलाई है। जिस शिष्य ने प्रश्न पूछा है, उत्तर देते समय उस शिष्य का नाम लेने से, शिष्य के हृदय में आदर बुद्धि उत्पन्न होती है। शिष्य के प्रति यह मृदुतापूर्ण व्यवहार को सूचित करता है।

अगर कोई प्रश्न करे कि गुरू को, शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये? तो इसका उत्तर होगा—जैसे भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी के प्रति किया था।

शिष्य को सम्बोधन करने से एक बात और होती है। इससे शिष्य का उत्साह बढ़ता है और शिष्य वारम्वार प्रश्न पूछता है। गुरु, शिष्य का नाम लेकर उत्तर देता है, इससे प्रश्न का निर्णय भी ठीक घटता है और वचन आदरणीय हो जाता है।

भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर से ऐसा लक्षित होता है मानों दोनों में पिता-पुत्र का संबंध था। गौतम ने भगवान् से बालक की तरह प्रश्न किये हैं और

भगवान् ने गौतम के प्रश्नों का उत्तर उसी भाँति दिया है, जैसे पिता, पुत्र की बात का उत्तर देता है। पिता अपने पुत्र की तोतली बोली की त्रुटि से नहीं खीझता, वरन् उसकी जिज्ञासावृत्ति को जानकर प्रसन्न होता है।

किसी एम. ए. परीक्षोत्तीर्ण अध्यापक के पास अगर कोई छोटा बालक कुछ पूछने जाता है, तब वह अध्यापक अगर उसे उच्च श्रेणी की विद्या सिखलाने लगे तो वह उस बालक के क्या काम की ?

आज बालकों के दिमाग में उनकी शक्ति से अधिक शिक्षा भरी जाती है। बालक के संरक्षक चाहते हैं कि उनका बेटा शीघ्र से शीघ्र बृहस्पति बन जाए। मगर इस हवस का जो परिणाम हो रहा है वह स्पष्ट है। बालक के मस्तिष्क पर अधिक बोझ लादने से उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और वह अल्पायुष्क हो जाता है। शास्त्रकारों ने इसीलिए कहा है कि जब तक बालक आठ वर्ष का न हो जाय, तब तक उसे अक्षर-ज्ञान न दिया जाय। प्राचीन काल में इस अवस्था तक बालक को वही ज्ञान दिया जाता था, जो आँख और कान द्वारा दिया जा सके। आँख और कान द्वारा शिक्षा देने के लिए ही बालक के पास अठारह देशों की दासियां रखी जाती थीं।

अगर एम. ए अध्यापक किसी बालक को शिक्षा देना चाहेगा तो उसे भी उस बालक के साथ बालक बनना होगा। वह बालक से जो उच्चारण कराना चाहेगा, वही उसे स्वयं करना होगा। भक्त तुकाराम ने कहा है—

अर्भकाचे साठी, पन्ते हाथात धर ली पाटी।

अर्थात्—ईश्वर हमें उसी तरह ज्ञान सिखाता है, जिस प्रकार बालक के लिए अध्यापक स्वयं पट्टी उठाता है और स्वयं ही उच्चारण करता हुआ 'क' 'ख' लिखता है।

तात्पर्य यह है कि जब किसी बालक को सिखाना होता है, तब सिखाने वाले को भी बालक की चाल चलनी पड़ती है। जब शिक्षक पहले बालक की चाल चलेगा तो आगे चल कर बालक भी शिक्षक की चाल चल सकेगा और तभी शिक्षक बालक को कुछ सिखा सकेगा।

माता, पहले पहल बालक की उंगली पकड़ कर उसे चलना सिखलाती है। तब वह स्वयं बालक की चाल में चलती है। अगर ऐसा न किया जाय और माता, बालक को अपनी चाल में चलाने का प्रयत्न करे तो काम नहीं चल सकता।

सारांश यह है कि भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर पिता-पुत्र के संबंध की तरह हैं। कहाँ तो भगवान् का अनन्त ज्ञान और कहां उनसे किये जाने वाले यह छोटे छोटे प्रश्न! लेकिन भगवान् अगर इन छोटी बातों का ज्ञान गौतम स्वामी को न देते तो आज यह हमारी समझ में कैसे आती?

बच्चे को चलाने के लिए माता, बच्चे की चाल में चले, फिर भी बच्चा अगर बैठ ही जाय—चले ही नहीं, तो इसके लिए माता क्या करेगी? इसी प्रकार भगवान् ने हम लोगों को यह ज्ञान दिया है, लेकिन अगर हम लोग इसे अपने

ध्यान में ही न लें, तो इसके लिए दूसरा कोई क्या कर सकता है? यह तो हमारा ही अपराध है।

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी का नाम दोहरा कर यह सिखाया है कि अगर दूसरों को शिक्षा देनी है तो सादे और सुगम बनो। साथ ही भगवान् ने शिष्य को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि जो गुरु तुम्हारे लिए अपनी महत्ता का भी त्याग करते हैं, उनकी बात पर ध्यान दो। भक्त तुकाराम ने एक जगह कहा है कि परमात्मा का वर्णन करने की ताक़त मेरी ज़बान में नहीं है। उसने बड़ी से बड़ी शक्ति को भी छोटी करके हमारे लिए व्यवहार किया है।

संसार में पारस उत्तम और लोहा नीच माना जाता है, लेकिन पारस अपना बड़प्पन छोड़कर, लोहे का संसर्ग करके उसे सोना बना देता है। इसी में पारस की महिमा है।

यही बात उन महात्मा के विषय में कही जा सकती है, जो तीन ज्ञान लेकर तो जन्मे ही थे, और दीक्षा धारण करते ही जिन्हें चौथा मनःपर्याय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था और कुछ दिनों बाद सर्वज्ञता प्राप्त हो गई थी, जिनके दर्शन के लिए इन्द्र भी लालायित रहता था। इस प्रकार की लोकोत्तर महिमा से मंडित श्रमण भगवान् महावीर स्वामी संसारी जीवों के कल्याण के लिए ग्रामों और नगरों में फिरते और उन्हें सुख का मार्ग दिखलाते थे, नगर-निवासियों का रहन-सहन तो उच्च कोटि का होता है, पर बेचारे ग्रामीणों का वैसा कहाँ? फिर भी भगवान् ने उन ग्रामीणों से घृणा नहीं की और अपने गौरव की परवाह न करके उनका उद्धार करने के हेतु उनके पास पहुँचे।

मित्रो! गरीबों पर घृणा आना ही नरक है। संसार की ऐसी स्थिति हो रही है कि जो धन पैतृक है, उसकी अस्थिरता बैंकों के बंद होने से दिखाई दे रही है, फिर भी सुकृत नहीं सूझता। लक्ष्मी और जीवन की चपलता को जानते हुए भी लोगों के जीवन का एक मात्र साध्य धन बन रहा है।

गौतम स्वामी ने श्वासोच्छ्वास के पश्चात् नारकी जीवों के आहार के विषय में प्रश्न किया है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बतलाया है कि नरक के जीवों को भी आहार की इच्छा होती है। तत्पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं -'नरक के जीव आहार किस प्रकार लेते हैं?' भगवान् ने कहा-प्रज्ञापना सूत्र में आहार नामक अट्ठाइसवाँ पद है। उसके पहले उद्देशक में इस विषय का वर्णन किया गया है। उसमें नरक के जीवों के अतिरिक्त अन्यान्य जीवों के भी आहार का वर्णन किया गया है।

साधारणतया विचार करने से यह समझ में नहीं आता कि ऐसे-ऐसे प्रश्नोत्तर करने से गौतम स्वामी और भगवान् महावीर ने क्या लाभ सोचा होगा! उन्हें नरक के जीवों के आहार को जानने एवं बताने की क्या आवश्यकता थी? लेकिन भगवान् ने नरक के जीवों के आहार के ४० द्वार बतलाये हैं। यह उन महान् पुरुष की असीम करुणा है। जिन जीवों के आहार का वर्णन किया है, उन्हें चाहे अपने आहार की बात इतनी स्पष्ट रूप से ज्ञात न हो, लेकिन ज्ञानियों की दृष्टि से वह छिपी नहीं है। उन्होंने अज्ञ जनों को समझाने के लिए यह सब वर्णन किया है।

प्रश्न—नारकी जीवों के आहार के संबंध में पण्णवणा सूत्र का जहां उल्लेख किया गया हैं वहां पद का उल्लेख न करके सीधा आहारोद्देशक क्यों कहा गया है ? पहले पद बतलाना उचित था, फिर उसके साथ उद्देशक का कथन करना ठीक रहता।

उत्तर—यहां पद-लोपी समास हुआ है। इस समास के कारण 'पद' शब्द का लोप हो गया है, तथापि 'पद' शब्द का अर्थ विद्यमान समझना चाहिए।

पण्णवणा सूत्र में आहार-विषयक जो वर्णन आया है, उसका सामान्य दिग्दर्शन शास्त्रकार ने निम्नलिखित गाथा में किया है:—

ठिई उस्सासाहारे, किं वाऽऽहारेंति सव्वओ वा वि।
कतिभागं सव्वाणि व, कीस व भुज्जो परिणमंति ? ॥

इस संग्रह-गाथा में उन चालीस द्वारों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है।

भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा है कि नारकी जीव भी आहार के अर्थी हैं। 'यहाँ आहार के अर्थी' पद के दो अर्थ शास्त्रकारों ने किये हैं। जिसे आहार की इच्छा हो वह आहारार्थी कहलाता है, और आहार ही जिनका प्रयोजन हो वह भी आहारार्थी कहलाते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर से तत्व यह निकला कि निकृष्ट से निकृष्ट योनि में पड़े हुए

जीव को भी आहार की आवश्यकता पड़ती है। जहां शरीर है वहां आहार भी अनिवार्य है।

नरक दुर्गन्धमय है। वहां रक्त-पीव आदि घोर अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं। वहां की भूमि इतनी त्रासजनक है कि उसका स्पर्श करते ही ऐसी वेदना होती है मानों एक साथ हजार बिच्छुओं ने काट खाया हो। ऐसी भूमि में रहने वाले नारकी जीव क्या आहार करते होंगे ? भगवान् से गौतम स्वामी ने इस अभिप्राय से यह प्रश्न पूछा है कि—नरक में और कोई वस्तु तो है नहीं, फिर क्या जो अशुचिमय वस्तु नरक में है, उसीको नारकी जीव खाने की इच्छा करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—हाँ गौतम! नरक के जीव खाने की इच्छा करते हैं। नारकी उस कनिष्ठ अवस्था में पड़े हुए हैं, और नरक में रक्त, पीव आदि वस्तुएँ ही हैं, तथापि वे इस आहार के लिए प्रार्थना करते हैं।

सुसंस्कारी पुरुष जिस वस्तु से घृणा करते हैं, उसी को संस्कार विहीन या नीच प्रकृति के लोग बड़े उत्साह से खाते-पीते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। जब मनुष्यलोक में ही इतना महान् रुचि-वैचित्र्य देखा जाता है, तो नरक का क्या पूछना है ? वहाँ के जीव निकृष्ट वस्तुओं के आहार की याचना करें, यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

मैं एक बार पनवेल गया था। वहाँ जब जंगल जाता तो जिन मच्छियों को मार कर सुखाया गया था, उनकी बड़ी दुर्गन्ध आती थी। दुर्गन्ध इतनी उग्र थी कि खड़ा रहना कठिन होता था। उन मच्छियों में से बाम नाम की मच्छी तो और भी अधिक बदबू देती थी। मैंने सोचा—जिन मच्छियों

न ऐसी असह्य दुर्गन्ध निकलती है, उन्हें भी लोग बड़े चाव से खा जाते हैं। वह बाम मछली जो अतिशय बदबूदार होती है, उसके विषय में लोगों का कहना है कि खाने वाले लोग बाम मछली को ऐसी रूची से खाते हैं, जैसे दूसरे लोग मिठाई खाते हैं। इस प्रकार मनुष्य प्राणी भी उस चीज को रुचिपूर्वक पेट में डाल लेते हैं, जिसके पास खड़ा भी नहीं रहा जाता। गांधीजी ने एक पुस्तक में तो यहां तक लिखा है कि किसी देश के निवासी विष्ठा भी खा जाते हैं।

जब मनुष्य अनेक प्रकार के उत्तम एवं स्वादिष्ठ भोज्य पदार्थों के रहते भी ऐसी-ऐसी घृणास्पद नीच वस्तुएँ खा जाते हैं और उसमें सुख का अनुभव करते हैं तो नरक के जीवों का. भूख के असह्य दुःख से व्याकुल हो जाने पर अशुचिमय पदार्थों को खाने में सुख मानना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं कि मान लेने से ही सुख नहीं हो जाता। इस प्रकार माना हुआ सुख वस्तुतः दुःख रूप है। जीव सुख की भ्रान्ति से ही बाह्य भोजन की इच्छा करता है; लेकिन वास्तविक सुख वह है जिसमें बाह्य भोजन की आकांक्षा ही न हो, यही नहीं वरन् किसी भी पर-पदार्थ के संयोग की इच्छा न रह जाय। तभी सच्चा सुख प्राप्त होता है।

भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा कि नरक के जीवों के आहार के संबंध में पराणवणा सूत्र के २८ वें पद में जो वर्णन किया है, वही वर्णन यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

पराणवणा सूत्र में नरक आदि के जीवों का आहार-वर्णन छोटे-छोटे हिस्सों में किया गया है। उन हिस्सों को

जीव को भी आहार की आवश्यकता पड़ती है। जहां शरीर हैं वहां आहार भी अनिवार्य है।

नरक दुर्गन्धमय है। वहां रक्त-पीव आदि घोर अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं। वहां की भूमि इतनी त्रासजनक है कि उसका स्पर्श करते ही ऐसी वेदना होती है मानों एक साथ हजार बिच्छुओं ने काट खाया हो। ऐसी भूमि में रहने वाले नारकी जीव क्या आहार करते होंगे? भगवान् से गौतम स्वामी ने इस अभिप्राय से यह प्रश्न पूछा है कि-नरक में और कोई वस्तु तो है नहीं, फिर क्या जो अशुचिमय वस्तु नरक में है, उसीको नारकी जीव खाने की इच्छा करता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते है—हाँ गौतम! नरक के जीव खाने की इच्छा करते है। नारकी उस कनिष्ठ अवस्था में पड़े हुए हैं, और नरक में रक्त, पीव आदि वस्तुएँ ही हैं, तथापि वे इस आहार के लिए प्रार्थना करते हैं।

सुसंस्कारी पुरुष जिस वस्तु से घृणा करते हैं, उसी को संस्कार विहीन या नीच प्रकृति के लोग बड़े उत्साह से खाते-पीते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। जब मनुष्यलोक में ही इतना महान् रुचि वैचित्र्य देखा जाता है, तो नरक का क्या पूछना है? वहाँ के जीव निकृष्ट वस्तुओं के आहार की याचना करें, यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

मैं एक बार पनवेल गया था। वहाँ जब जंगल जाता तो जिन मच्छियों को मार कर सुखाया गया था, उनकी बड़ी दुर्गन्ध आती थी। दुर्गन्ध इतनी उग्र थी कि खड़ा रहना कठिन होता था। उन मच्छियों में से बाम नाम की मच्छी तो और भी अधिक बदबू देती थी। मैंने सोचा—जिन मच्छियों

से ऐसी असह्य दुर्गन्ध निकलती है, उन्हें भी लोग बड़े चाव से खा जाते हैं। वह बाम मछली जो अतिशय बदबूदार होती है, उसके विषय में लोगों का कहना है कि खाने वाले लोग बाम मछली को ऐसी रूची से खाते हैं, जैसे दूसरे लोग मिठाई खाते हैं। इस प्रकार मनुष्य प्राणी भी उस चीज को रूचिपूर्वक पेट में डाल लेते हैं, जिसके पास खड़ा भी नहीं रहा जाता। गांधीजी ने एक पुस्तक में तो यहां तक लिखा है कि किसी देश के निवासी विष्टा भी खा जाते हैं।

जब मनुष्य अनेक प्रकार के उत्तम एवं स्वादिष्ठ भोज्य पदार्थों के रहते भी ऐसी-ऐसी घृणास्पद नीच वस्तुएँ खा जाते हैं और उसमें सुख का अनुभव करते हैं तो नरक के जीवों का. भूख के असह्य दुःख से व्याकुल हो जाने पर अशुचिमय पदार्थों को खाने में सुख मानना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं कि मान लेने से ही सुख नहीं हो जाता। इस प्रकार माना हुआ सुख वस्तुतः दुःख रूप है। जीव सुख की भ्रान्ति से ही बाह्य भोजन की इच्छा करता है, लेकिन वास्तविक सुख वह है जिसमें बाह्य भोजन की आकांक्षा ही न हो; यही नहीं वरन् किसी भी पर-पदार्थ के संयोग की इच्छा न रह जाय। तभी सच्चा सुख प्राप्त होता है।

भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा कि नरक के जीवों के आहार के संबंध में पण्णवणा सूत्र के २८वें पद में जो वर्णन किया है, वही वर्णन यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

पण्णवणा सूत्र में नरक आदि के जीवों का आहार-वर्णन छोटे-छोटे हिस्सों में किया गया है। उन हिस्सों को

द्वार कहते हैं। उन द्वारों में नरक के जीवों के आहार के साथ दूसरे जीवों का आहार भी बतलाया गया है। तथा आहार-विषयक और और बातें भी इसमें बतलाई गई हैं। यहां नारकी जीवों के आहार के विषय में ही पराणवणा के अनुसार दिग्दर्शन कराया जाता है।

पराणवणासूत्र में गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि-हे भगवन्! अगर नारकी जीव आहारार्थी है तो कितने समय में उन्हें आहार की इच्छा होती है? अर्थात् एक बार आहार कर लेने के पश्चात् कितने समय बाद उन्हें आहार की अभिलाषा होती है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं-हे गौतम! नरक के जीवों का आहार दो प्रकार का है-(१) आभोगनिर्वर्त्तित और (२) अनाभोगनिर्वर्त्तित। खाने की बुद्धि से जो आहार किया जाता है वह आभोगनिर्वर्त्तित आहार कहलाता है और आहार की इच्छा न होने पर भी जो आहार होता है वह अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार कहलाता है।

यहां आहार का प्रकरण होने से आहार के विषय में ही यह कहा गया है कि इच्छा न होने पर भी आहार होता है। मगर यह कथन अन्य क्रियाओं के संबंध में भी लागू होता है। इच्छा के बिना अन्यान्य कार्य भी प्रकृति के नियमानुसार होते रहते हैं। छद्मस्थ-अवस्था जब तक बनी हुई है, या जब तक यह स्थूल शरीर विद्यमान है, तब तक अनाभोग पूर्वक कार्य होते रहते हैं। इन कार्यों में कुछ अनजान में होते हैं और कुछ जानकारी में होते हैं। हाँ, अपनी इच्छाओं को नियमित करते रहने से और अच्छे कार्यों में निरंतर संलग्न रहने से अनाभोग आहार कम अवश्य हो सकता है।

प्रश्न—अनाभोग आहार अर्थात् अनजान में, इच्छा न होते हुए भी होने वाला आहार कैसे संभव है ?

उत्तर—मनुष्य यह नहीं चाहता कि मेरे शरीर पर रज लगे या मेरे भोजन में गंदगी आवे, लेकिन जब आँधी चलती है तो शरीर पर रज लग ही जाती है और भोजन में भी आ जाती है। जब कोई बीमारी फैलती है, तब डाक्टर कहते हैं— 'खान-पान में सावधान रहो, गंदगी मत होने दो और दूसरे खराब परमाणुओं को अपने शरीर में प्रवेश मत होने दो'। यद्यपि डाक्टर को रोग मिटाना अभीष्ट है लेकिन वह गंदगी से बचने की बात कहता है। इससे यह स्पष्ट है कि शरीर में गंदगी जाती है। ऐसा न होता तो डाक्टर को मनाई करने की क्या आवश्यकता होती ?

यद्यपि गंदगी खाने की इच्छा कोई करता नहीं है, तथापि किसी न किसी कारण से गंदगी खाने में आ ही जाती है। इसी प्रकार इच्छा न होने पर भी, शरीर के आसपास घूमने वाले परमाणु आहार में आ जाते हैं।

इसी आधार पर अन्यान्य क्रियाओं पर विचार करने से प्रतीत होगा कि किस प्रकार इच्छा के अभाव में भी अनेक कार्य होते रहते हैं।

गौतम स्वामी का मूल प्रश्न है—आहार के समय की मर्यादा का, पर भगवान् ने फरमाया—आहार दो प्रकार का होता है। इन दोनों प्रकार के आहारों में से अनाभोग-आहार तो निरंतर-प्रतिक्षण होता रहता है। एक समय भी ऐसा व्यतीत नहीं होता, जब यह आहार न होता हो। यह आहार

बुद्धि पूर्वक-संकल्प द्वारा नहीं रोका जा सकता। दूसरा इच्छापूर्वक जो आहार होता है, उसकी इच्छा कम से कम असंख्यात समय में होती है।

प्रश्न–असंख्यात समय कहने से काल की कोई निश्चित मर्यादा नहीं प्रतीत होती। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में भी असंख्यात समय होते हैं और आँख बंद कर खोलने में भी असंख्यात समय होते हैं। ऐसी अनिश्चित संख्या बतलाने से क्या समझना चाहिए?

उत्तर–यहां असंख्यात समय एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण लेना चाहिए। अर्थात् नारकी जीवों को अन्तर्मुहूर्त्त में आभोग निर्वर्तित आहार की इच्छा होती है।

एक दिन-रात में ३० मुहूर्त्त होते हैं। मुहूर्त्त प्रमाण समय में कुछ कम समय को अन्तर्मुहूर्त्त कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त में असंख्यात समय होते हैं। इस असंख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त्त के भी असंख्य भेद हैं। किसी अन्तर्मुहूर्त्त में थोड़ा समय होता है, किसी में ज्यादा होता है। लेकिन असंख्यात समय, अन्तर्मुहूर्त्त के सिवाय दूसरे को नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न—नारकी जीवों को अन्तर्मुहूर्त्त में आहार की इच्छा होती है तो क्या इतनी देर तक उनकी भूख मिटी रहती है? इतनी देर तक वह तृप्त रहते हैं?

उत्तर—ऐसा नहीं है। छद्मस्थ को एक इच्छा के बाद जब दूसरी इच्छा होती है तो उसमें असंख्यात समय लग ही जाते हैं। 'क' अक्षर का उच्चारण करने के बाद 'ख' का उच्चारण

करने की इच्छा होने में ही असंख्यात समय बीत जाते हैं। इस नियम के अनुसार यद्यपि नारकी जीवों को कभी तृप्ति नहीं होती, फिर भी एकबार इच्छा करने बाद दूसरी वार इच्छा करने में ही असंख्य समय लग जाते हैं।

नरक के जीव मवाद-मांस आदि पुद्गलों का आहार करते हैं। जब वे आहार करते हैं तब भी उनकी भूख नहीं मिटती—उन्हें तृप्ति नहीं होती; किन्तु फिर खाने की इच्छा होने में असंख्यात समय लग जाते हैं। शास्त्रकारों ने नारकी जीवों की भूख मिट जाने की बात नहीं कही है; किन्तु यह कहा है कि उन्हें असंख्यात समय में भोजन की इच्छा होती है। यह सिर्फ इस अभिप्राय से कहा है कि एक इच्छा के पश्चात् तत्काल ही दूसरी इच्छा होने में असंख्यात समय लग जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि अगर नारकी जीव आहार करते हैं तो किस वस्तु का आहार करते हैं।

यह पंचम द्वार का प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फरमाया है—हे गौतम! नरक के जीव द्रव्य की अपेक्षा अनन्त प्रदेश वाले पुद्गलों का आहार करते हैं। पुद्गल का सबसे छोटा अविभाज्य अंश-जो खुला रहता है अर्थात् बिलकुल अलग होता है, परमाणु कहलाता है। और वही अंश जब जुड़ा रहता है तो प्रदेश कहलाता है। जो पुद्गल अनन्तप्रदेशी होकर भी सूक्ष्मस्कंध रूप होता है वह आकाश के एक प्रदेश में समा सकता है। यहां ऐसे सूक्ष्मस्कंध से अभिप्राय नहीं है। किन्तु बादर अनन्त प्रदेशी स्कंध से तात्पर्य समझना चाहिए।

नारकी जीव काल की अपेक्षा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति वाले पुद्गलों में से किन्हीं भी पुद्गलों का आहार करते हैं।

नारकी जीव भाव की अपेक्षा वर्ण वाले, गंध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! नारकी वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं तो एक ही वर्ण के पुद्गलों का आहार करते हैं या पंच वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फरमाया है—हे गौतम! नारकी पाँचों वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में सामान्य और विशेष की विवक्षा की गई है। सामान्य को स्थानगमन भी कहते हैं और विशेष का विधानगमन नाम भी है। स्थानगमन अर्थात् सामान्य की अपेक्षा एक वर्ण वाले पुद्गल का भी आहार करते हैं और दो वर्ण वाले पुद्गल का भी आहार करते हैं। विधानगमन अर्थात् विशेष की अपेक्षा से अशेष-पाँचों प्रकार के पुद्गलों का आहार करते हैं।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—'भगवन्! आपने काले पुद्गल का आहार करना कहा है तो नारकी, जीव एक गुण काले पुद्गल का आहार करते हैं, या दस गुण काले पुद्गल का आहार करते हैं, या संख्यात, असंख्यात अनन्त गुण काले पुद्गल का आहार करते हैं'?

भगवान ने उत्तर दिया—गौतम! निश्चय में कोई एक गुण काला होता है, कोई दो गुण काला होता है, कोई दस गुण

काला, कोई असंख्यात गुण काला, कोई अनन्त गुण काला होता है। नारकी जीवों के आहार में एक गुण काले पुद्गल भी होते हैं, दसगुण काले भी और असंख्यात तथा अनन्त गुण काले भी होते हैं।

यहां काले पुद्गलों के संबंध में जो कथन किया गया है, वही अन्य वर्ण वाले पुद्गलों के विषय में तथा रस एवं गंध आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। यहां तक अठारह द्वार पूर्ण हो जाते हैं।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी ने स्पर्श की अपेक्षा प्रश्न किया है। उत्तर में भगवान् ने फरमाया है—एक स्पर्श वाले, दो स्पर्श वाले और तीन स्पर्श वाले पुद्गलों का नारकी जीव आहार नहीं करते। कारण यह है कि एक स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करना असंभव है और दो तथा तीन स्पर्श वाले पुद्गल अल्प प्रदेशी और सूक्ष्म परिणमन वाले होने के कारण ग्रहण के योग्य नहीं हैं। अतएव चार स्पर्श वाले पुद्गलों से लगाकर आठ स्पर्श वाले पुद्गलों तक का आहार करते हैं। यह पुद्गल बहुप्रदेशी और बादरपरिमाण वाले होने से ग्रहण करने योग्य होते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि एक गुण काला और अनन्तगुण काला कहने का क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर यह है कि 'गुण शब्द से यहाँ डिगरी या अंश अर्थ समझना चाहिए। उदाहरणार्थ-किसी वस्त्र को काला रंगने के लिए एकबार काले रंग में डुबोया। एकबार डुबोने से वस्त्र में एकगुण (अंश-डिगरी) कालापन आया। इस वस्त्र को एक गुण काला कहेंगे। इसी प्रकार असंख्यात वार डुबोया तो वह असंख्यात गुण काला

कहलायगा। असंख्यात गुण काला हमें प्रतीत नहीं होता। उसे विशिष्ट ज्ञानी ही जान पाते हैं।

इस प्रकार का सूक्ष्म वस्तु-तत्त्व-निरूपण जैन शास्त्रों में ही पाया जाता है, अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका कारण यह है कि जिसने जाना-देखा, उसने वर्णन किया। जिसने जाना-देखा ही नहीं, वह वर्णन कैसे कर सकता है?

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवान्! नारकी एक गुण खुरदरे पुद्गल का आहार करते हैं, या असंख्यातगुण खुरदरे का अथवा अनन्त गुण खुरदरे पुद्गल का?

भगवान् ने फरमाया—गौतम! सभी प्रकार के खुरदरे पुद्गल का आहार करते हैं।

आहार के विषय में यह बीस प्रश्न हुए। स्पर्श आठ हैं उनमें से एक स्पर्श के विषय में प्रश्न और उत्तर हैं। शेष सात स्पर्शों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। अतः कुल सत्ताईस प्रश्न और सत्ताईस उत्तर हुए।

गौतम स्वामी—भगवन्! नारकी जीव स्पर्श किये जा सकने योग्य-छूने में आ सकने योग्य-पुद्गलों का आहार करते हैं या स्पर्श न किये जा सकने योग्य पुद्गलों का?

भगवान्—गौतम! स्पर्श किये जा सकने योग्य पुद्गलों का ही आहार करते हैं। जो पुद्गल छुए नहीं जा सकते, उनका आहार नहीं करते।

स्पष्ट पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—अवगाढ़ अर्थात् जिन प्रदेशों में आत्मा हो उन्हीं प्रदेशों में रहे हुए पुद्गल, और अनवगाढ़ अर्थात् भिन्न प्रदेशों में रहे हुए पुद्गल। इन दो प्रकार के पुद्गलों में से नारकी जीव किस प्रकार के पुद्-गलों का आहार करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि नारकी जीव अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं, अनवगाढ़ का नहीं। तात्पर्य यह है कि जो पुद्गल शरीर के संबध में तो आये, लेकिन आत्मा के साथ एकमेक नहीं हुए, उनका आहार नहीं किया जा सकता।

गौतम स्वामी—भगवन्! नारकी जीव अगर अव-गाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं तो साक्षात् अवगाढ़ पुद्-गलों का आहार करते है या परम्परा अवगाढ़ पुद्गलों का?

भगवान्—हे गौतम! साक्षात् अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं, परम्परा-अवगाढ़ पुद्गलों का नहीं।

गौतम स्वामी—भगवन्! क्षेत्र से साक्षात् अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं या काल से साक्षात् अवगाढ़ पुद्गलों का?

भगवान् महावीर—दोनों से।

गौतम—भगवान्! नारकी जीव अगर साक्षात् अव-गाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं, परम्परा-अवगाढ़ पुद्गलों का नहीं करते, तो वे छोटे पुद्गलों का आहार करते हैं या बड़े पुद्गलों का?

भगवान्—छोटे पुद्गलों का भी और बड़े पुद्गलों का भी।

यहां आशंका की जा सकती है कि छोटे और बड़े पुद्गल से क्या तात्पर्य समझना चाहिए? छोटापन और बड़ापन, सापेक्ष हैं। यह बड़ा है और यह छोटा है, यह नियत नहीं है। जो किसी अपेक्षा छोटा है, वही दूसरी अपेक्षा से बड़ा होता है और जो एक अपेक्षा से बड़ा है, वह दूसरी अपेक्षा से छोटा भी होता है। इस प्रकार छोटापन और बड़ापन सापेक्ष हैं अतएव अनियत हैं।

नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, उनमें से कोई एक पुद्गल अगर दूसरे से एक प्रदेश भी बड़ा है तो वह बड़ा कहलायगा जो अधिक प्रदेश बड़ा है वह भी बड़ा कहलायगा और वह उस बड़े से भी बड़ा कहलायगा, मगर इस अधिक बड़े की अपेक्षा वह बड़ा भी छोटा कहा जा सकता है। पहली उँगली, दूसरी की अपेक्षा छोटी है। दूसरी बड़ी है। मगर तीसरी की अपेक्षा यह दूसरी भी छोटी है। यही बात प्रत्येक वस्तु के विषय में समझी जा सकती है।

गौतम स्वामी--भगवन्! नरक के जीव जिन छोटे-बड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, वे ऊँची दिशा से आये हुए होते हैं, नीची दिशा से आये हुए होते हैं, या तिरछी दिशा से आये हुए होते हैं?

भगवान्--गौतम! नरक के जीव तीनों दिशाओं से आये पुद्गलों का आहार करते हैं।

यहां गौतम स्वामी ने तीन ही दिशाओं को लेकर प्रश्न किया है। ऊर्ध्व-दिशा और अधो-दिशा तो है ही, तिरछी दिशा में चारों ही दिशाओं का समावेश हो जाता है।

सूर्य जिस ओर से निकलता है, उस ओर मुँह करके खड़ा होने से मुँह के सामने की दिशा पूर्व दिशा होगी। दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण दिशा, बायें हाथ की ओर उत्तर दिशा और पीठ की तरफ पश्चिम दिशा होगी। ऊपर की ओर ऊर्ध्व दिशा और नीचे की तरफ अधोदिशा कहलाएगी। यह दिशाएँ मेरू के हिसाब से नहीं हैं, किन्तु अपने हिसाब से हैं। गौतम स्वामी ने जिन तीन दिशाओं को लेकर प्रश्न किया है, वे नरक की अपेक्षा हैं।

गौतम—भगवन्! अगर नरक के जीव तीनों दिशाओं के पुद्गलों का आहार करते हैं तो आदि समय में आहार करते हैं, मध्य समय में आहार करते हैं या अन्त समय में आहार करते हैं।

भगवान्—हे गौतम! तीनों समयों में आहार करते हैं। अर्थात् आभोगनिर्वर्त्तित आहार को आदि समय में भी ग्रहण करते हैं, मध्य समय में और अन्तिम समय में भी ग्रहण करते हैं।

यहां यह शंका हो सकती है कि पहले यह कहा जा चुका है कि नारकी अनन्तर अवगाढ़ पुद्गलों का आहार नहीं करते। मगर यहां आदि समय में आहार करना कहा है-यह अनन्तर अवगाढ़ हो जाता है। ऐसी स्थिति में पूर्वापर-विरोध दोष आता है। इस शंका का समाधान यह है कि दोनों कथनों में विरोध नहीं है। पूर्व कथन ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से है और यह कथन व्यवहारनय से किया गया है। अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार का तो यहाँ प्रकरण ही नहीं है, आभो-

गनिर्वर्त्तित आहार का प्रकरण है। आभोगनिर्वर्त्तित आहार के अन्तर्मुहूर्त्त में तीन भाग करने चाहिए। यह तीन भाग आदि, मध्य और अन्त के होंगे। आहार के भाग न करके काल के भाग करने चाहिए और काल के साथ आने वाले आहार को आदि, मध्य और अवसान का समझो। इस प्रकार समझने से तनिक भी विरोध न होगा। ऋजु-सूत्रनय यही कहेगा कि आदि का ही आहार करना है, क्योंकि उसके हिसाब से जो काम में आ रहा है वह आदि ही है। किन्तु व्यवहार नय के मत से तीनों ही समयों में आहार कह-लाएगा। जैन शास्त्र किसी भी एक नय को स्वीकार न करके सभी नयों को स्वीकार करता है। यहाँ तक तेतीस द्वारों का वर्णन हुवा।

गौतम स्वामी–भगवन्! जो आदि, मध्य और अन्त समय में आहार करता है वह स्वविषय में आहार करता है या अ-स्वविषय में आहार करता है?

भगवान् महावीर--हे गौतम! स्वविषय में आहार करता है, अस्वविषय में नहीं करता।

स्वविषय क्या है? और अस्वविषय किसे कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि अपना स्पृष्ट, अवगाढ़ और अनन्त रावगाढ़ रूप विषय, स्वविषय कहलाता है अर्थात् ऐसे पुद्गलों का आहार करना स्वविषय कहलाता है और इससे विपरीत अस्वविषय कहलाता है।

गौतम स्वामी–भगवन्! स्वविषय में जिन पुद्गलों का आहार नारकी करते हैं, वह आनुपूर्वी से या बिना ही आनु पूर्वी से? अर्थात् क्रम से या अक्रम से?

पांच ऊँगलियों में से क्रम पूर्वक एक के पश्चात् दूसरी का ग्रहण करना आनुपूर्वी से ग्रहण करना कहलाता है और बीच में की किसी उँगली को छोड़कर आगे वाली को ग्रहण करना बिना आनुपूर्वी के ग्रहण करना कहलाता है।

भगवान्-हे गौतम! आनुपूर्वी—क्रम से पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, अनानुपूर्वी से नहीं।

गौतम स्वामी--भगवन्! नारकी जीव आनुपूर्वी से पुद्गलों का आहार करते हैं तो किस दिशा के पुद्गलों का आहार करते हैं? पूर्व आदि में से किसी एक दिशा में स्थित पुद्गलों का या छहों दिशाओं में स्थित पुद्गलों का?

भगवान्-नियम से छहों दिशाओं में स्थित पुद्गलों का आहार करते हैं।

इस प्रश्नोत्तर को किंचित् स्पष्ट करने की आवश्यकता है। नरक के जीव चौदह राजू लोक के मध्यवर्त्ती हैं और मध्यवर्त्ती होने से छहों दिशाएँ लगती हैं। त्रसनाड़ी के बाहर के जीव के आहार की तीन, चार, पाँच या छह दिशाएं भी होती हैं। पृथ्वीकाय का जीव, लोक के कोने में जाकर आहार करता है तो तीन दिशाओं का आहार करता है। इसी प्रकार दो तरफ अलोक और चार तरफ लोक हो तो चार दिशाओं के पुद्गलों का आहार होता है। पांच ओर लोक हो तो पांच दिशाओं के पुद्गलों का और मध्य में छहों दिशाओं के पुद्गलों का आहार हो जाता है।

पहले वर्ण का साधारण वर्णन किया जा चुका है। यहां उसके अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

भगवान् कहते हैं—हे गौतम! यह आहार का समुच्चय वर्णन किया गया है। अब नरक योनि और असुर-योनि के जीवों के आहार का अन्तर बतलाते हैं। नरक के जीव जो आहार करते हैं वह वर्ण से काला और नीला होता है। गंध से दुर्गन्ध युक्त होता है। रस से तिक्त और कटुक होता है। स्पर्श की अपेक्षा भारी, खुरदरा, शीत और रूखा होता है।

निश्चय में यद्यपि पांचों वर्ण विद्यमान हैं, तथापि व्यवहार में काले और नीले वर्ण का आहार करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। यहां जो वर्ण, रस, गंध और स्पर्श बतलाये गये हैं, वह सब अशुभ समझना चाहिए।

नरक के जीवों के आहार में भेद भी है। पहले नरक के जीव जिस प्रकार का आहार करते हैं, दूसरे नरक वाले दूसरी ही तरह का करते हैं। इसी तरह आगे के नरकों का समझ लेना चाहिए।

साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नरक के आहार का यहां जो वर्णन किया गया है, वह मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा है। भावी तीर्थंकर की अपेक्षा यह वर्णन नहीं है।

नरक का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह यद्यपि सत्य है, तथापि यह भी सत्य है कि जब उपादान अच्छा

होता है तो बुराई में से भी अच्छाई निकल आती है । भावी तीर्थंकर पहले से लेकर तीसरे नरक तक रह सकते हैं और चरम शरीरी अर्थात् पहले ही मनुष्य भव में मोक्ष जाने वाले जीव चौथे नरक में भी रहते हैं । लेकिन भावी तीर्थंकर का, तीर्थंकर गोत्र का आयुष्य नरक में ही बँधता है तो वे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आहार-पुद्‌गल खींचते हैं । यद्यपि उत्कृष्ट आहार-पुद्‌गल उनके लिए बाहर से वहां नहीं पहुँचते हैं, लेकिन नरक योनि के पुद्‌गलों में से ही वे ऐसे उत्तम पुद्‌गल ग्रहण करते हैं, जिनसे उनका दिव्य शरीर बनेगा ।

भावी तीर्थंकरों ने तीर्थंकर गोत्र की जो सामग्री मनुष्य जन्म में बाँधी उसके साथ ही दूसरे नरक की भी-सामग्री उपार्जित की । नरक की इस सामग्री से ही वे नरक गये हैं । उनका तीर्थंकर गोत्र का आयुष्य नरक में ही बँधेगा ।

नरक के जीव जिन पुद्‌गलों का आहार करते हैं, वह अशुभ और घृणित होते हैं; लेकिन सम्यग्दृष्टि और भावी तीर्थंकर अशुभ में से भी शुभ को खींचकर आहार करते हैं । अशुभ पुद्‌गलों में शुभ पुद्‌गल उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जैसे मालवा की काली मिट्टी में हिंगलु के समान लाल जानवर रहते हैं । मिट्टी तो काली और खुरदरी होती है मगर उसमें वह जानवर लाल और मुलायम होता है । तात्पर्य यह है कि उपादान अगर समर्थ हो तो वह अशुभ में से भी शुभ को खींच लेता है ।

दुर्गन्ध वाला विष्ठा खेतों में पड़ता है, मगर उससे होने वाला गुलाब दुर्गन्ध वाला नहीं, सुगन्ध वाला होता है ।

पहले वर्ण का साधारण वर्णन किया जा चुका है। यहां उसके अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

भगवान् कहते हैं—हे गौतम! यह आहार का समुच्चय वर्णन किया गया है। अब नरक योनि और असुर योनि के जीवों के आहार का अन्तर बतलाते हैं। नरक के जीव जो आहार करते हैं वह वर्ण से काला और नीला होता है। गंध से दुर्गन्ध युक्त होता है। रस से तिक्त और कटुक होता है। स्पर्श की अपेक्षा भारी, खुरदरा, शीत और रूखा होता है।

निश्चय में यद्यपि पांचों वर्ण विद्यमान हैं, तथापि व्यवहार में काले और नीले वर्ण का आहार करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। यहां जो वर्ण, रस, गंध और स्पर्श बतलाये गये हैं, वह सब अशुभ समझना चाहिए।

नरक के जीवों के आहार में भेद भी है। पहले नरक के जीव जिस प्रकार का आहार करते हैं, दूसरे नरक वाले दूसरी ही तरह का करते हैं। इसी तरह आगे के नरकों का समझ लेना चाहिए।

साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नरक के आहार का यहां जो वर्णन किया गया है, वह मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा है। भावी तीर्थंकर की अपेक्षा यह वर्णन नहीं है।

नरक का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह यद्यपि सत्य है; तथापि यह भी सत्य है कि जब उपादान अच्छा

होता है तो बुराई में से भी अच्छाई निकल आती है । भावी तीर्थंकर पहले से लेकर तीसरे नरक तक रह सकते हैं और चरम शरीरी अर्थात् पहले ही मनुष्य भव में मोक्ष जाने वाले जीव चौथे नरक में भी रहते हैं । लेकिन भावी तीर्थंकर का, तीर्थंकर गोत्र का आयुष्य नरक में ही बँधता है तो वे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आहार-पुद्गल खींचते हैं । यद्यपि उत्कृष्ट आहार-पुद्गल उनके लिए बाहर से वहां नहीं पहुँचते हैं, लेकिन नरक योनि के पुद्गलों में से ही वे ऐसे उत्तम पुद्गल ग्रहण करते हैं, जिनसे उनका दिव्य शरीर बनेगा ।

भावी तीर्थंकरों ने तीर्थंकर गोत्र की जो सामग्री मनुष्य जन्म में बाँधी उसके साथ ही दूसरे नरक की भी-सामग्री उपार्जित की । नरक की इस सामग्री से ही वे नरक गये हैं । उनका तीर्थंकर गोत्र का आयुष्य नरक में ही बँधेगा ।

नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, वह अशुभ और घृणित होते हैं; लेकिन सम्यग्दृष्टि और भावी तीर्थंकर अशुभ में से भी शुभ को खींचकर आहार करते हैं । अशुभ पुद्गलों में शुभ पुद्गल उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जैसे मालवा की काली मिट्टी में हिंगलु के समान लाल जानवर रहते हैं । मिट्टी तो काली और खुरदरी होती है मगर उसमें वह जानवर लाल और मुलायम होता है । तात्पर्य यह है कि उपादान अगर समर्थ हो तो वह अशुभ में से भी शुभ को खींच लेता है ।

दुर्गन्ध वाला विष्ठा खेतों में पड़ता है, मगर उससें होने वाला गुलाब दुर्गन्ध वाला नहीं, सुगन्ध वाला होता है ।

प्रकृति से प्रत्येक पदार्थ, दूसरे की ओर खिंचता है. मगर जिसमें बल होता है वह खींच लेता है।

गुलिश्ताँ में एक कहानी है। एक बार बादशाह के हमामखाने में मिट्टी आई। उस मिट्टी में खुशबू आ रही थी। पूछताछ करने पर पता लगा कि इस मिट्टी पर सुगंधित फूल खिले थे और वे सूख कर इस पर गिरे। यह खुशबू उन्हीं से आई है। बादशाह ने उन फूलों को भी मँगवाया। उन फूलों में फूलों की ही खुशबू थी, मिट्टी की नहीं थी।

इससे प्रकट हुआ कि मिट्टी ने फूलों की खुशबू खींच ली, लेकिन फूलों ने मिट्टी की गंध अपने में नहीं आने दी।

तीर्थंकरों को नरक में भी तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। वे शुभ लेश्याएँ ग्रहण कर शुभ बनते हैं।

यहाँ तक छत्तीस द्वारों का वर्णन हुआ। इनमें नरक के जीवों के आहार का विचार किया गया है।

आत्मा में यह शक्ति है कि वह आहार-पुद्गलों को, आहार के योग्य गुण में परिणत कर लेता है। उदाहरणार्थ—दूध यदि पेट में जाकर दूध ही बना रहा तो वह आहार नहीं हुआ। आहार वह तब कहलाएगा, जब उसका रस, रक्त, मज्जा आदि बन जाय। इसी प्रकार आत्मा अपने शरीर में आहार के लिए पुद्गलों को ग्रहण करता है, फिर उन्हें आहार के रूप में परिणत करता है। आत्मा समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करता है, एक ही आत्मप्रदेश से आहार नहीं करता। जिस आत्मा में जितनी और जैसी शक्ति होगी, वह पुद्गलों को वैसे ही आहार के रूप में परिणत कर सकेगा।

ऊपर जो संग्रह-गाथा लिखी गई थी, उसके पूर्वार्ध में विद्यमान 'किं वाऽहारेंति' इस पद की व्याख्या यहां तक की गई है। इस पद के आगे 'सव्वओ' पद आया है। अब उसकी व्याख्या की जाती है।

टीकाकार के कथनानुसार 'सव्वओ' पद की व्याख्या के लिए निम्न लिखित पाठ का उच्चारण करना आवश्यक है:-

नेरइया णं भंते ! सव्वओ आहारेंति, सव्वओ परिणामेंति, सव्वओ ऊससंति, सव्वओ नीससंति; अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेंति, अभिक्खणं ऊससंति, अभिक्खणं नीससंति, आहच्च आहारेंति ?

हंता गोयमा ! नेरइया सव्वओ आहारेंति।

अर्थ-भगवन् ! नारकी जीव समस्त आत्म-प्रदेशों से आहार करते हैं, समस्त आत्म-प्रदेशों से परिणमाते हैं, समस्त आत्म-प्रदेशों से उच्छ्वास लेते हैं, समस्त आत्म-प्रदेशों से निःश्वास लेते हैं ? निरन्तर आहार करते हैं, निरन्तर परिणमाते हैं, निरन्तर उच्छ्वास लेते हैं, निरन्तर निःश्वास छोड़ते हैं ? या कदाचित् आहार करते हैं ? (कदाचित् परिणमाते हैं, कदाचित् उच्छ्वास लेते हैं और कदाचित् निःश्वास छोड़ते हैं ?)

हां, गौतम ! नारकी जीव समस्त आत्म-प्रदेशों से आहार करते हैं (इत्यादि)।

समस्त आत्म प्रदेशों से आहार करते हैं, इसका अर्थ यह है कि जैसे घी की कढ़ाई में पूरी छोड़ने पर वह सभी ओर से अपने में घृत को खींचती है, इसी प्रकार जीव सभी ओर से—सभी प्रदेशों से-आहार खींचता है।

वाह्य रूप से पुद्गल को खींचना आहार नहीं कहलाता वरन् शरीर और गृहीत पुद्गलों को एक रूप बना देना, सर्वप्रदेश आहार कहलाता है।

आहार, रस परिणमन करता है। वह रस-परिणमन सभी प्रदेशों में होता है। आहार और कर्मबन्ध-दोनों के विषय में यह कथन लागू पड़ता है। तात्पर्य यह है कि जीव सब ओर से आहार कर सब प्रदेशों में परिणमाता है।

इसी प्रकार सब प्रदेशों से उच्छ्वास लेता है, सब प्रदेशों से निःश्वास निकालता है।

सर्व साधारण मनुष्य जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं तो उन्हें ऐसा मालूम होता है मानो पेट में श्वास लेते हैं और पेट से ही उच्छ्वास निकालते हैं। लेकिन श्वास वास्तव में सभी प्रदेशों से आता जाता है। इस ओर पूर्ण ध्यान दिया जाय तो नाड़ी की गति से यह बात समझी जा सकती है।

भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! जीव निरन्तर भी आहार करता है और कदाचित् भी आहार करता है। इसी प्रकार परिणमन, श्वास और उच्छ्वास के संबंध में जानना

चाहिए। पर्याप्त अवस्था होने पर निरन्तर आहार करता है, निरन्तर परिणमाता है, निरन्तर श्वासोच्छ्वास लेता है, परन्तु अपर्याप्त अवस्था में कदाचित् आहार आदि करता है। जब विग्रह गति को प्राप्त होता है तब आहार आदि नहीं ग्रहण करता, परन्तु अविग्रह-गति में ग्रहण करता है।

आगे गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—भगवन्! जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण किया है, उनमें से नरक के जीव कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वाद करते हैं।

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! असंख्यात भाग का आहार करते हैं और अनन्त भाग का आस्वाद करते हैं।

इस प्रश्न के मूल पाठ में 'सेयालंसि *' प्राकृत भाषा का पद आया है। इसका संस्कृत रूप 'एष्यति' (भविष्यति) है। तात्पर्य यह है कि गृहीत आहार-पुद्गलों में से ग्रहण करने के पश्चात् कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वादन करते हैं?

असंख्यात भाग का आहार करते हैं, इस पद की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। एक आचार्य का यह मत है कि जैसे गाय पहले ग्रास में मुँह

---

* मूल पाठ इस प्रकार है:—

नेरइया णं भंते! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति, ते णं तेसिं पोग्गलाणं सेयालंसि कइभागं आहारेंति, कइभागं आसायंति? गोयमा! असंखेज्जइभागं आहारेंति, अणंतभागं आसाइंति।—पण्णवणा सुत्त।

भर लेती है, पर उसमें से बहुत सा भाग नीचे गिर जाता है और कुछ वह खाती है। इसी प्रकार नरक के जीव पहले-पहल आहार के जो पुद्गल खींचते हैं, उन खींचे हुए पुद्गलों का बहुतसा भाग गिर जाता है और असंख्य भाग मात्र का आहार करते हैं।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है। यहां नय-विशेष की अपेक्षा से कथन है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार शरीर रूप में परिणत पुद्गलों के असंख्य भाग का आहार करता है। जो पुद्गल शरीर रूप में परिणत नहीं हुए उन्हें ऋजुसूत्र-नय शुद्ध होने से आहार रूप नहीं मानता।

ऋजुसूत्रनय भूत और भविष्य को छोड़कर केवल वर्त्तमान को स्वीकार करता है। अतः जितने पुद्गल आहार रूप में ग्रहण किये हैं, उन्हें व्यवहार नय तो आहार कहता है, लेकिन ऋजुसूत्रनय के मत से जो पुद्गल उनमें से शरीर रूप परिणत हुए हैं, वही आहार रूप हैं।

उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति ने दूध पिया। उसमें से कुछ भाग खल-मल रूप में परिणत हो गया और शेष भाग से रस आदि धातुएँ बनीं। ऋजुसूत्र नय इस परिणति को ही आहार मानता है।

जैसे गाय बहुत-सा घास एक साथ मुँह में भरती है, पर उसमें से बहुत भाग गिर जाता है, वह आहार मे परिणत नहीं होता। ऋजुसूत्र नय के अनुसार वही पुद्गल आहार-रूप कहलाते हैं, जो वास्तव में आहार रूप में परिणत होते हैं, सब ग्रहण किये हुए पुद्गल नहीं। असल में आहार

वही है जो शरीर रूप में परिणत हो । शरीर रूप में परिणत होकर भी पुद्गलों का असंख्यात भाग ठहरेगा और संख्यात भाग नहीं ठहरेगा । पिये हुए एक सेर दूध में से कुछ भाग रस बनेगा और शेष मल बन कर निकल जायगा । शरीर में जो रस बना, वही ऋजु सूत्र नय के अनुसार आहार कहा जा सकता है ।

ग्रहण किये हुए पुद्गलों में से उतना ही रस शरीर में खिंचता है, जितनी शक्ति होती है। कमज़ोर मनुष्य आहार में से पूरी तरह रस नहीं खींच पाता और उसका आहार कच्चे मल के रूप में निकल जाता है। मल के देखने से पता लग जाता है कि आहार में से कितना रस खींचा गया है ?

आहार करने का जो प्रयोजन है उस प्रयोजन के पूर्ण होने पर ही ग्रहण किये पुद्गल आहार कहलाएँगे । जब तक उनसे आहार का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तब तक उन्हें आहार नहीं कहा जा सकता ।

आहार करने का प्रधान प्रयोजन है-शरीर में, और इन्द्रियों में शक्ति का संचार होना । इस प्रयोजन को जो पुद्गल पूर्ण करते हैं वही आहार हैं ।

तीसरे आचार्य का कथन यह है कि वास्तव में आहार वह है जो शरीर के साथ तद्रूप परिणत हो जाय। जैसे मनुष्य जो आहार करता है, उसमें से अधिकांश खल-मल रूप में बाहर निकल जाता है, वह आहार नहीं कहलाता, उसी प्रकार जो पुद्गल शरीर रूप में परिणत नहीं होते, उन्हें आहार नहीं कहा जा सकता। अतएव गृहीत पुद्गलों में से असं-

ख्यात भाग का आहार करता है, इसका अभिप्राय यह है कि असंख्यातवाँ भाग शरीर रूप में परिणत होता है।

आहार के जो पुद्गल ग्रहण किये हैं, उनका अनन्त भाग आस्वाद में आता है, अर्थात् गृहीत पुद्गलों के अनन्तवें भाग का रस रूप में रसना इन्द्रिय आस्वादन कर सकती है। मान लीजिए, किसी ने मिश्री की डली मुँह में रक्खी। उस डली पर जीभ फिरी, उसका स्वाद आया। मगर डली का भीतरी भाग अछूता ही रह गया-उसका आस्वादन नहीं हुआ। इस प्रकार जीभ ऊपर का आस्वाद ले सकती है, भीतर का उसे पता नहीं चलता। अतएव वह अनन्तवें भाग पुद्गलों के रस का ही आस्वादन कर सकती है, सब का नहीं। इसी कारण यह कहा गया है कि अनन्तवें भाग का आस्वादन होता है। यहाँ तक अड़तीस द्वारों का विवेचन हुआ।

अब संग्रह-गाथा के 'सव्वाणि' पद की व्याख्या आरंभ की जाती है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—हे भगवन् ! नारकी जीव जिन पुद्गलों को शरीर रूप मे परिणत करते हैं, क्या वे सब पुद्गलों का आहार करते है या एक देश का आहार करते हैं ?

भगवान् उत्तर देते हैं—गौतम ! समस्त पुद्गलों का आहार करते हैं।

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों ने आहार के जिन पुद्गलों को शरीर के रूप में परिणत किया है, उन सब का आहार वे करते है। यहा सब पुद्गल कहने से विशिष्ट पुद्-

गल ही समझने चाहिए । जो पुद्गल ग्रहण करने के पश्चात् गिर गये हों, उन्हें यहां छोड़ देना चाहिए-उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए। अगर ऐसा न किया गया तो विरोध आ जाएगा। जो वचन जिस अपेक्षा से कहा गया हो उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए।

कहा भी है—

जं जह सुत्ते भणियं, तहेव जइ तं वियालणा नत्थि ।
किं कालियानुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ॥

अर्थात्—सूत्र में जो बात जिन शब्दों में कही गई है, अगर शाब्दिक रूप में उसे उसी प्रकार माना जाय और वक्ता की विवक्षा का-विचार का खयाल न किया जाय तो ज्ञानी जन कालिक अनुयोग का उपदेश कैसे करें ?

आजकल साधुओं के ज्ञान में न्यूनता आ गई है, अतएव वह टब्बा बांच देने में ही सूत्र के व्याख्यान की इतिश्री समझ लेते हैं। मगर सूत्र में नवीन और सूक्ष्म बातें उतनी ही खोजी जा सकती है, जितनी खोजने वाले में शक्ति हो। हॉं, शक्ति ही न हो तो बात दूसरी है । जिनकी दृष्टि सूक्ष्म और पैनी है वे शास्त्र-सागर के भीतर अवगाहन करके अनेक महत्वपूर्ण और बहुमूल्य अर्थ रूपी मुक्ता निकालते हैं।

इसके अनन्तर पूर्वोक्त संग्रह गाथा के 'फीस' पद की व्याख्या की जाती है। 'फीस' यह एक पद है। इसमें अनेक पदों का उपचार किया जाता है। अतएव यह अर्थ समझना

चाहिए कि नारकी जीवों ने जो आहार किया है, वह किस स्वभाव में, किस प्रकार और किस रूप में परिणत होता है?

कल्पना कीजिए, किसी ने दूध पिया। उस दूध का अंश कहां जायगा? किस रूप मे परिणत होगा?

किसी अत्यन्त क्षुधा पीडित व्यक्ति से देखने, सुनने या सूंघने के लिए कहा जाय तो वह उत्तर देगा-मुझमें शक्ति नहीं है। मेरी इन्द्रियां बेकाम होरही है। इसी प्रकार उसे चलने-फिरने के लिए कहा जाय, तब भी वह यही उत्तर देगा। इसके पश्चात् किसी ने उसे दूध पिला दिया।

सद्यः शक्तिकरं पयः।

दूध तत्काल शक्ति देने वाला है। अतएव दूध पीते ही उसके सारे शरीर में शक्ति आगई। उस दूध की शक्ति के हिस्से हुए। उन हिस्सों में से नाक, कान, आँख, हाथ, पैर आदि को कितना कितना भाग मिला, यह एक विचारणीय बात है।

जो आहार किया जाता है, उसके पुद्गल मृदु भी होते हैं, स्निग्ध भी होते हैं और कठोर भी होते हैं। लेकिन सब से सूक्ष्म सार आँख खींच लेती है। उससे कम सार वाले क्रमशः कान, नाक, जिह्वा और शरीर खींचते हैं। भारी पुद्-गलों को शरीर से कम जिह्वा खींचती है और जीभ से क्रमशः नाक, कान और आंख खींचती है। इस प्रकार आहार के संबंध में कथन किया गया है।

इस कथन की अपेक्षा, आपके हाथ में स्थित दूध को कान या आंख कहा जा सकता है, क्योंकि दूध में और कान-आँख में कार्य-कारण भाव संबंध है। यद्यपि दूध में कान या आँख दिखलाई नहीं देती, तथापि कार्य कारण का विचार किया जाय तो उक्त कथन में कोई भ्रम प्रतीत नहीं होगा।

इसीलिए गौतम स्वामी पूछते हैं कि नारकी जीवों का आहार किस रूप में परिणत होता है ? अर्थात् नारकी जीवों ने जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण किया है, वे पुद्गल फिर किस रूप में परिणत होते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! जिन पुद्गलों को नारकी जीवों ने आहार रूप में ग्रहण किया है, वे आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा, इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के रूप में परिणत होते है।

नारकी जीवों का आहार अशुभ रूप में परिणत होता है, अनिष्ट रूपता प्रकट करता है, कान्त और कमनीय नहीं है। अमनोज्ञ है, अमनोगम्य है। इस प्रकार वह आहार पश्चात्ताप का कारण है। वह नीची स्थिति में ले जाता है, ऊँची स्थिति में नहीं ले जाता।

आहार में दोनों प्रकार की शक्तियाँ हैं—ऊँची स्थिति में ले जाने की भी और नीची स्थिति में ले पटकने की भी। जो आहार स्वाधीन न हो, परतन्त्र हो, उस आहार को ग्रहण करने वाला नरक में ही समझना चाहिए।

नरक के आहार की बुराई बतलाने के लिए जो विशेषण दिये गये है, उनके सम्बन्ध मे टीकाकार कहते है कि यह सब शब्द एकार्थक है, फिर भी अतिशय अर्थात अधिकता प्रकट करने के लिए पृथक्-पृथक् अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

यह चालीसवाँ द्वार हुआ और पूर्वोक्त संग्रह-गाथा का विवेचन समाप्त होता है। संग्रहगाथा के विवरण सूत्र किसी किसी ही प्रति मे पाये जाते है, सब मे नहीं।

आहार के परिणमन का वर्णन

मूलपाठ—

प्रश्न—नेरइयाणं भंते! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया? आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया? अणाहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया? अणाहारिया अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया?

उत्तर—गोयमा! नेरइयाणं पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया, आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया, परिणमंति य। अणाहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला णो परिणया, परिणमिस्संति। अणाहारिया अणाहारिज्ज-

स्समाणा पोग्गला णो परिणया, णो परिण-
मिस्संति ।

प्रश्न—नेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पो-
ग्गला चिया ? पुच्छा ।

उत्तर—जहा परिणया, तहा चिया वि,
एवं उवचिया वि, उदीरिया, वेइया, निज्जिरणा ।
गाहा—

परिणय-चिया य उवचिया,
उदीरिया वेइया य निज्जिरणा ।
एक्केकम्मि पदम्मि,
चउव्विहा पोग्गला होंति ॥

संस्कृत-छाया—प्रश्न—नैरयिकाणां भगवन् ! पूर्वाहृताः पुद्गला परिणता ? आहृताः, आह्रियमाणाः पुद्गलाः परिणताः ? अनाहृताः आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः ? अनाहृता, अनाहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः ?

उत्तर—गौतम ! नैरयिकाणां पूर्वाहृताः पुद्गलाः परिणताः, आहृताः आह्रियमाणाः पुद्गलाः परिणताः, परिणमन्ति च, अनाहृता,

आहरिष्यमाणा' पुद्गलाः नो परिणताः, परिणस्यन्ति । अनाहृताः अनाहरिष्यमाणा' पुद्गलाः नो परिणताः, नो परिणंस्यन्ति ।

प्रश्न—नैरयिकाणा भगवन् ! पूर्वाहृताः पुद्गलाश्चिताः ? पृच्छा ।

उत्तर—यथा परिणतास्तथा चिता अपि, एवमुपचिता अपि, उदीरिताः, वेदिता', निर्जीर्णाः ।

गाथा—परिणताश्चिताश्चोपचिता', उदीरिता वेदिताश्च निर्जीर्णाः ।
एकैकस्मिन् पदे चतुर्विधाः पुद्गला भवन्ति ॥

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! नारकियों द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए ? आहार किये हुए तथा (वर्त्तमान में) आहार किये जाने वाले पुद्गल परिणत हुए ? जो पुद्गल अनाहारित हैं तथा (आगे) आहार रूप में ग्रहण किये जाएंगे वह परिणत हुए ? या जो अनाहारित हैं और आगे भी आहृत नहीं होंगे, वह परिणत हुए ?

उत्तर—हे गौतम ! नारकियों द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए, आहार किये हुए और आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए, और परिणत होते हैं, नहीं आहार किये हुए (अनाहारित) पुद्गल परिणत नहीं हुए हैं। जो पुद्गल (आगे) आहार किये जाएँगे वह परिणत होंगे। अनाहारित पुद्गल परिणत नहीं हुए हैं और जो आगे आहारित नहीं होंगे, वह परिणत नहीं होंगे।

प्रश्न—हे भगवन्! नारकियों द्वारा पहले आहारित पुद्गल चय को प्राप्त हुए? (प्रश्न)

उत्तर—हे गौतम! जिस प्रकार परिणत हुए, उसी प्रकार चय को प्राप्त हुए। उसी प्रकार उपचय को प्राप्त हुए, उदीरणा को प्राप्त हुए, वेदन को प्राप्त हुए तथा निर्जरा को प्राप्त हुए। गाथा—

परिणत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित, और निर्जीर्ण, इस एक-एक पद में चार प्रकार के पुद्गल (प्रश्नोत्तर विषयक) होते हैं।

व्याख्यान—नरक के आहार के संबंध में यहाँ चार प्रश्न और उठते हैं। उनका आशय यह है—

(१) पूर्व काल में ग्रहण किये हुए या आहार किये हुए पुद्गल क्या शरीर रूप में परिणत हुए हैं?

(२) भूतकाल में ग्रहण किये हुए तथा वर्त्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल शरीर में परिणत हुए हैं?

(३) भूतकाल में जिन पुद्गलों का आहार नहीं किया, लेकिन भविष्यकाल में जिनका आहार किया जायगा, वे पुद्गल शरीर रूप में परिणत हुए?

(४) जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार नहीं किया और भविष्य में भी आहार नहीं किया जायगा, वह पुद्गल शरीर रूप में परिणत हुए?

पूर्वकाल में जिन पुद्गलों का आहार किया गया हो या संग्रह किया गया हो उन्हें आहृत या आहारित कहते हैं। संग्रह करना और खाना, दोनों ही आहार है।

पुद्गल शब्द से यहाँ पुद्गल-स्कंध समझना चाहिए, परमाणु नहीं। और परिणत होने का अर्थ, शरीर के साथ एकमेक होकर शरीर रूप में हो जाना, यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

आहार का परिणाम है-शरीर बनना। जो आहार शरीर के साथ एकमेक हो जाता है अर्थात् जिस आहार का शरीर बन जाता है, वह आहार परिणत हुआ या परिणाम को प्राप्त हुआ या परिणमा कहलाता है।

इन प्रश्नों के विषय में आचार्य का कथन है कि यह काकु-पाठ हैं। काकुपाठ वह कहलाता है, जो कण्ठ दबाकर बोला जाय। अर्थात् जिस बात को जोर से तथा आश्चर्य सहित कहा जाता है वह कथन काकु है। यथा-क्या यह ऐसा ही है?

यह चारों प्रश्न दीखते हैं सीधे-साधे, लेकिन इनमें दार्शनिक आशय भरा हुआ है। इन्हीं चार प्रश्नों के ६३ भंग होते हैं। एकसंयोगी के छह भंग है—(१) पूर्वाहृत (२) आह्रियमाण (३) आहरिष्यमाण (४) अनाहृत (५) अनाह्रियमाण (६) अनाहरिष्यमाण। इन छह पदों के त्रेसठ भंग होते हैं। प्रत्येक भग में एक एक प्रश्न का उद्भव होता है, अतएव त्रेसठ भंग हुए। उनका क्रम इस प्रकार है—

(क) (१) पूर्वाहृत आह्रियमाण (२) पूर्वाहृत आहरिष्यमाण (३) पूर्वाहृत अनाहृत (४) पूर्वाहृत अनाह्रियमाण (५) पूर्वाहृत अनाहरिष्यमाण (६) आह्रियमाण आहरिष्यमाण (७)

आह्रियमाण अनाहृत (८) आह्रियमाण अनाह्रियमाण (९) आह्रियमाण अनाहरिष्यमाण (१०) आहरिष्यमाण अनाहृत (११) आहरिष्यमाण अनाह्रियमाण (१२) आहरिष्यमाण अनाहरिष्यमाण (१३) अनाहृत अनाह्रियमाण (१४) अनाहृत अनाहरिष्यमाण (१५) अनाह्रियमाण अनाहरिष्यमाण।

इस प्रकार दो-दो भंगों को मिलाने से पन्द्रह भंग होते हैं। तीन का संयोग करने पर बीस भंग होते हैं और चार संयोगी पन्द्रह भंग होते हैं। इसी तरह पॉच संयोगी छह भंग और छह संयोगी का एक भंग होता है। अतएव एक-एक से लेकर छह संयोगी तक के कुल त्रेसठ भंग होते हैं। मगर संग्रह की अपेक्षा एक ही प्रश्न है।

तात्पर्य यह है कि गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से उक्त चार प्रश्न किये। इनके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार किया है वे भूतकाल में ही शरीर रूप परिणत हो चुके हैं। ग्रहण के पश्चात् परिणमन होता ही है, अतएव पूर्वकाल में आहार किये हुए पुद्गल पूर्वकाल में ही परिणत हो गये।

दूसरे प्रश्न में भूतकाल के साथ वर्त्तमान संबंधी प्रश्न किया गया है। उसके उत्तर में भगवान् का कथन यह है कि-जिनका आहार हो चुका वे पुद्गल परिणत हो चुके और जिनका आहार हो रहा है वे परिणत हो रहे हैं।

यहां टीकाकार कहते हैं कि जिन पुद्गलों का आहार किया और जिनका वर्त्तमान में आहार किया जा रहा है, उनके विषय में कहना चाहिए कि वे पुद्गल परिणत होंगे। मगर यहां कहा गया है कि परिणत हो रहे हैं। सूत्रकार स्वय कहते

है कि जिन पुद्गलों का आहार किया जा रहा है और आगे किया जायगा, वे पुद्गल परिणत होंगे। तात्पर्य यह है कि वर्त्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल उसी समय शरीर रूप में परिणत नहीं हो सकते। बल्कि वे भविष्य में ही परिणत होंगे। अतएव 'जिन पुद्गलों का आहार किया जा चुका और जिनका आहार किया जा रहा है. वह पुद्गल परिणत हो रहे है, यह कथन युक्ति संगत नहीं मालूम होता। उनके लिए 'परिणत होंगे' ऐसा कहना चाहिए।

टीकाकार का यह कथन नय-विशेष की विवक्षा से ठीक ही है।

तीसरा प्रश्न भविष्य के संबंध में है। उसका सरल उत्तर यही है कि भविष्य में जिन पुद्गलों का आहार करेंगे, वे पुद्गल भविष्य में परिणत होंगे।

चौथा प्रश्न यह था कि जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार नहीं किया और भाविष्य में भी आहार नहीं किया जायगा, वे पुद्गल क्या शरीर रूप में परिणत हुए? इसका उत्तर यह है कि ऐसे पुद्गल परिणत नहीं होंगे। जिनका ग्रहण ही नहीं हुआ, उनका शरीर रूप में परिणमन भी न होगा।

पहले जो त्रेसठ भंग बतलाए गये हैं, उन सब का इसी आधार पर समाधान समझ लेना चाहिए।

आहार किये हुए पुद्गल जब शरीर के भीतर गये तो उनका चय, उपचय भी होगा ही। इसलिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि जीव ने जिन पुद्गलों का आहार किया

वे पुद्गल चय को प्राप्त हुए? परिणमन के संबंध में जितने और जैसे प्रश्न किये गये हैं, वही सब प्रश्न चय के संबंध में भी समझ लेने चाहिए और उनका उत्तर भी परिणमन संबंधी उत्तरों के समान ही समझ लेना चाहिए।

इस प्रकरण में, टीकाकार के कथनानुसार वाचना की भिन्नता देखी जाती है। एक जगह एक प्रकार की वाचना है तो दूसरी जगह दूसरी ही वाचना है। वाचना के इस भेद को देखकर शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पाठ में भिन्नता होने पर भी अभिधेय-मूल वक्तव्य-सबका समान है। अतएव पाठान्तर से शंका नहीं वरन् शंका का समाधान होना चाहिए।

संदेह होता है कि दो पाठ परस्पर विरोधी होने से मान्य नहीं हो सकते, तब एक किस पाठको मान्य किया जाय? मगर इसमें संदेह की कोई बात नहीं है। दोनों आचार्य जब शास्त्र लिखने के समय एकत्र हुए, तब दोनों को दो तरह की बातें स्मरण में थीं, क्योंकि पहले शास्त्र लिखे हुए नहीं थे, कण्ठस्थ ही थे। आचार्यों ने अपने २ स्मरण की बात एक दूसरे के सामने रख दी, और कहा कि न हम सर्वज्ञ हैं, न आप सर्वज्ञ हैं। ध्येय दोनों का एक है। तब दोनों में से किसका स्मरण सही है और किसका नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है? अतएव दोनों बातें लिखदें। इनमें कौन-सी बात सही है, यह ज्ञानी जानें।

दोनों आचार्यों को सर्वज्ञ के वचनों पर और अपने-अपने स्मरण पर विश्वास था। ऐसी स्थिति में अपने स्मरण को गलत मानने का कोई कारण न था। इस कारण दोनों

आचार्यों ने दोनों बातें लिख दीं। इस प्रकार के मतभेद को देखकर शास्त्र में शंका मत लाओ। यह मतभेद शास्त्र की और शास्त्र के प्रणेता आचार्यों की प्रामाणिकता के प्रमाण हैं।

उक्त दोनों आचार्यों ने किसी एक निर्णय पर पहुंचने का प्रयास किया, लेकिन दोनों छद्मस्थ थे, केवलज्ञानी नहीं। अतएव उन्होंने समभाव से अपनी-अपनी धारणा को सत्य स्वीकार करते हुए भी दूसरे की धारणा को असत्य नहीं ठहराया। ऐसा करके वे हमारे सामने एक उज्ज्वल आदर्श छोड़ गये हैं। हमें उनका अनुकरण करके शास्त्र के संबंध में हठवाद से काम नहीं लेना चाहिए और अपने आपको ही सत्यवादी ठहराकर दूसरे को झूठा घोषित करने का साहस नहीं करना चाहिए।

जिन पुद्गलों को आहार रूप में परिणत किया है, उनका शरीर में एकमेक होकर शरीर को पुष्ट करना चय कहलाता हैं। चय के परिणमन की ही तरह चार भंग हैं। इन चार भंगों का उत्तर परिणमन की तरह ही है।

चय और परिणमन के काल में बहुत अन्तर है। पहले परिणमन होता है, उसके बाद चय होता है। इसलिए दोनों-चय और परिणमन पृथक-पृथक हैं।

ज्ञानी महापुरुषों ने भूतकाल का वर्णन किया है, इससे उनकी त्रिकालज्ञता सिद्ध होती है। साथ ही नरक-लोक के प्राणियों के आहार के विषय में हमें जानकारी होती है। वर्त्तमान

काल में जो जीव नरक में हैं और आगे जो नरक में जाएँगे, उन्हें कैसा आहार करना पड़ता है, या करना पड़ेगा, यह भी हमें विदित हो जाता है।

तीसरे भंग से यह भी प्रकट हो जाता है कि भूतकाल मे तो यह आहार नहीं किया, मगर भविष्य में करेंगे। उस समय होंगे वे भी करेंगे और नरक में जाएँगे वे भी करेंगे। इस कथन से नरक का शाश्वतपन सिद्ध किया गया है।

न भूत में आहार किया है, न भविष्य में आहार करेंगे, यह कथन अव्यवहारराशि को सूचित करता है, क्योंकि अव्यवहारराशि के जीव उस राशि से न कभी निकले हैं, न निकलेंगे।

चय के पश्चात् उपचय का कथन है। जो चय किया गया है, उसमें और-और पुद्गल इकट्ठे कर देना उपचय कहलाता है। जैसे, ईंट पर ईंट चुनी गई यह सामान्य चुनाई कहलाई और फिर उस पर मिट्टी या चूना आदि का लेप किया गया, यह विशेष चुनाई हुई। इसी प्रकार सामान्य रूप से शरीर का पुष्ट होना चय कहलाता है और विशेष रूप से पुष्ट होना उपचय कहलाता है।

कर्म—पुद्गलों का स्वाभाविक रूप से उदय में न आकर करण विशेष के द्वारा उदय में आना उदीरणा कहलाता है। प्रयोग के द्वारा कर्म का उदय में आना उदीरणा है, इस प्रकार की 'कर्म प्रकृति' की साक्षी भी यहां दी गई है।

कर्म के फल को भोगना वेदना है। जिस समय से कर्म-फल का भोग आरंभ होता है और जिस समय तक भोगना जारी रहता है, वह सब काल वेदना का काल कहलाता है।

एक देश से कर्मों का क्षय होना निर्जरा है। जिस कर्म का फल भोग लिया जाता है, वह कर्म क्षीण हो जाता है। उसका क्षीण हो जाना निर्जरा है।

चय, उपचय, उदीरणा वेदना और निर्जरा, इन सब के विषय में परिणमन के समान ही वक्तव्यता है। वैसे ही प्रश्न, वैसे ही उत्तर, वैसे ही भंग समझने चाहिए। सिर्फ परिणत के स्थान पर चित, उपचित, उदीरित आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

विभाजन चयनादि सूत्र

मूलपाठ—

प्रश्न—नेरईयाणं भंते! कतिविहा पोग्गला भिज्जंति ?

उत्तर—गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति। तं जहा—अणु चेव, बायरा चेव।

प्रश्न—नेरईयाणं भंते! कतिविहा पोग्गला चिज्जंति ?

उत्तर—गोयमा ! आहारदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जंति। तं जहा—अणु चेव, बायरा चेव। एवं उवचिज्जंति।

प्रश्न—णेरईयाणं भंते! कतिविहा पोग्गले उदीरेंति ?

उत्तर—गोयमा! कम्मदव्ववग्गणमाहिकिच्च दुविहे पोग्गले उदीरेंति। तं जहा—अणू चेव, बायरा चेव। सेसा वि एवं चेव भाणियव्वा-वेदेंति, णिज्जरेंति। उयट्टिंसु, उयट्टेंति, उयट्टेस्संति। संकामिंसु, संकामेंति, संकामेस्संति। णिहत्तिंसुं, णिहत्तेंति, णिहत्तेस्संति। णिकायिंसु, णिकायिंति, णिकायेस्संति। सव्वेसु वि कम्म-दव्ववग्गणमाहिकिच्च। गाहा—

भेदिय, चिया. उवचिआ,
वेदिआ य निज्जिरणा।
उव्वट्टण-संकामण-णिहत्तण-
णिकायणे तिविहकालो॥

संस्कृत-छाया—प्रश्न--नैरयिकाणां भगवन्! कतिविधाः पुद्गलाः भिद्यन्ते ?

उत्तर—गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधाः पुद्गला भिद्यन्ते । तद्यथा—अणवश्चैव, बादराश्चैव ।

प्रश्न—नैरयिकाणां भगवन् ! कतिविधाः पुद्गलाश्चीयन्ते ?

उत्तर—गौतम ! आहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधाः पुद्गलाश्चीयन्ते । तद्यथा—अणवश्चैव, बादराश्चैव । एवमुपचीयन्ते ।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! कतिविधान् पुद्गलान् उदीरयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधान् पुद्गलानुदीरयन्ति । तद्यथा—अणूश्चैव, बादराश्चैव । शेषा अप्येवं चैव भणितव्या.—वेदयन्ति; निर्जरयन्ति; अपावर्त्तयन्, अपवर्त्तयन्ति अपवर्त्तयिष्यन्ति, समक्रमयन्, सक्रमयन्ति, संक्रमयिष्यन्ति, निधत्तानकार्षुः, निधत्तान् कुर्वन्ति, निधतान् करिष्यन्ति; निकाचितवन्त , निकाचयन्ति, निकाचयिष्यन्ति । सर्वेष्वपि कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य ।

गाथा—भेदित', चिताः, उपचिता', वेदिताश्च निर्जीर्णाः ।
अपवर्त्तन-सक्रमण-निधत्तन-निकाचने त्रिविधः कालः ॥

मूलार्थ—

प्रश्न—हे भगवन् ! नारकी जीवों द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल भेदे जाते हैं ?

उत्तर—गौतम ! कर्म द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल भेदे जाते हैं । वे इस प्रकार हैं—अणु और बादर ।

प्रश्न—हे भगवन्! नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं?

उत्तर—हे गौतम! आहारद्रव्य-वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं। वे इस प्रकार हैं-- अणु और बादर। इसी प्रकार उपचय समझना।

प्रश्न—हे भगवन्! नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं?

उत्तर— गौतम! कर्मद्रव्य-वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं। वह इस प्रकार हैं- अणु और बादर। शेष पद भी इस प्रकार कहने चाहिए— वेदते हैं, निर्जरा करते हैं, अपवर्त्तन को प्राप्त हुए, अपवर्त्तन को प्राप्त हो रहे हैं, अपवर्त्तन को प्राप्त करेंगे। संक्रमण किया, संक्रमण करते हैं, संक्रमण करेंगे। निधत्त हुए, निधत्त होते हैं, निधत्त होंगे। निकाचित हुए, निकाचित होते हैं, निकाचित होंगे। इन सब पदों में भी कर्मद्रव्य-वर्गणा की अपेक्षा से (अणु और बादर पुद्गलों का कथन करना चाहिए)

गाथार्थः—भिदे, चय को प्राप्त हुए, उपचय को प्राप्त हुए, उदीरे, वेदे गये, और निर्जीर्ण हुए। अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्तन, और निकाचन, इन चार पदों में तीनों प्रकार का काल कहना चाहिए।

व्याख्यान—नरक के जीव पुद्गल का आहार करते हैं, यह कहा जा चुका है। अब पुद्गल का अधिकार आरंभ होता है। इस अधिकार के अठारह सूत्र कहे गये हैं।

श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों को भेदते हैं?

सामान्य रूप से पुद्गलों में तीन प्रकार का रस होता है, तीव्र, मध्यम और मन्द। यहाँ भेदने का अर्थ है, इस रस में परिवर्त्तन करना। जीव अपने उद्वर्त्तनाकरण (अध्यवसाय-विशेष) से मंद रस वाले पुद्गलों को मध्यम रस वाले और मध्यम रस वाले पुद्गलों को तीव्र रस वाले बना डालता है। इसी प्रकार अपवर्त्तना करण द्वारा तीव्र रस के पुद्गलों को मध्यम रस वाले और मध्यम रस वालों को मंद रस वाले बना सकता है। जीव अपने अध्यवसाय द्वारा ऐसा परिवर्त्तन करने में समर्थ है, तो क्या नारकी जीव भी ऐसा कर सकते हैं? क्या वे तीव्र रस वाले पुद्गलों को मन्द-रस के रूप में और मंद-रस को तीव्र रस के रूप में परिणत कर सकते हैं? अगर कर सकते हैं तो कितने प्रकार के पुद्गलों को परिणत कर सकते हैं? अर्थात् भेद सकते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् फरमाते हैं-कर्म द्रव्य वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों को नारकी जीव भेद सकते हैं। दो प्रकार के पुद्गल हैं—सूक्ष्म (अणु) और बादर।

सामान जाति के द्रव्य के समूह को वर्गणा कहते हैं। द्रव्य वर्गणा औदारिक आदि द्रव्यों की भी होती है, लेकिन

यहां उनका ग्रहण नहीं करना है। उन वर्गणाओं का ग्रहण न हो, इसीलिए मूल में 'कम्मदव्ववग्गणं' पद दिया है। इस पद से सिर्फ कार्माण द्रव्यों की वर्गणा का ही ग्रहण होता है और औदारिक वर्गणा, तैजस वर्गणा आदि अन्यान्य वर्गणाओं का निषेध हो जाता है। कर्मद्रव्यवर्गणा का अर्थ है-कार्मण जाति के पुद्गलों का समूह। वास्तव में कार्मण जाति के पुद्-गलों में ही यह धर्म है कि वे तीव्र रस से मंद रस वाले और मंद-रस से तीव्र रस वाले, करण द्वारा हो सकते हैं। इसी कारण यहां अन्य वर्गणाओं को छोड़ कर कार्मणद्रव्य वर्गणा को ही ग्रहण किया है।

'चेव' पद समुच्चय अर्थ में है। उससे अणु और बादर-दोनों का अर्थ लिया जाता है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि कर्म-द्रव्यों को अणु और बादर लिया है सो किसकी अपेक्षा अणु समझा जाय? और किसकी अपेक्षा बादर समझा जाय? इसका उत्तर यह है कि कर्मद्रव्यो की अपेक्षा से ही अणुत्व और बादरत्व अथवा सूक्ष्मता या स्थूलता समझनी चाहिए; क्योंकि औदारिक आदि द्रव्यों में कर्मद्रव्य ही सूक्ष्म है।

यद्यपि कर्म-वर्गणा चतुःस्पर्शी है। वह हमें दिखाई नहीं देती, तथापि ज्ञानी जन उसे देखते हैं और उसमें अणुत्व एवं बादरत्व का भेद भी देखते हैं। उन दिव्य ज्ञानियों की अपेक्षा ही कर्म द्रव्य को अणु और बादर कहा गया है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—नारकी जीव कितने पुद्गलों का चय करते हैं?

भगवान् उत्तर देते हैं—दो प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं—अणु और बादर का।

यहाँ अणु का अर्थ सूक्ष्म न करके 'छोटा' करना चाहिए। आहार-द्रव्य की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल चय होते हैं। आहार के कई पुद्गल छोटे होते हैं और कई मोटे होते हैं।

शरीर की अपेक्षा चय, उपचय का विचार पहले हो चुका है, यहाँ आहार की अपेक्षा विचार किया जा रहा है।

यहाँ शरीर में आहार का पुष्ट होना चय कहलाता है और विशेष पुष्ट होना उपचय कहलाता है। उपचय भी दोनों प्रकार के छोटे और बादर-पुद्गलों का होता है।

कर्मद्रव्य की अपेक्षा उदीरणा भी दो ही प्रकार के पुद्गलों की होती है—अणु की और बादर की। यहाँ अणु इसलिए कहा गया है कि चय और उपचय आहार-द्रव्यों का होता है, मगर निर्जरा कर्मद्रव्यों की होती है।

गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया—भगवन् ! नारकियों द्वारा कितने प्रकार के पुद्गलों का वेदन होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—अणु और बादर दो प्रकार के पुद्गलों का वेदन होता है। निर्जरा के विषय में भी यही उत्तर समझना चाहिए।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! नारकियों के कितने प्रकार के अपवर्त्तन हुए, हो रहे हैं और होंगे ?

अध्यवसाय विशेष के द्वारा कर्म की स्थिति और कर्म के रस को कम कर देना अपवर्त्तन कहलाता है। यही बात

उद्वर्त्तन के संबंध में है। अपवर्त्तनाकरण से कर्म की स्थिति आदि कम की जाती है और उद्वर्त्तनाकरण से अधिक की जाती है।

मूल प्रकृति से अभिन्न उत्तर प्रकृति का-अध्यवसाय विशेष द्वारा, एक का दूसरे रूप में बदल जाना संक्रमण कहलाता है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि आत्मा का संक्रमण क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा अमूर्त्त है, अतएव उसका संक्रमण होना संभव नहीं है।

अगर आत्मा अमूर्त्त है तो वह कर्मों को कैसे हटा सकता है ? आकाश अमूर्त्त होने के कारण कर्मों को हटाने में असमर्थ है तो आत्मा को कैसे समर्थ माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा में अध्यवसाय की शक्ति है। इस शक्ति से वह संक्रमण करता है। यद्यपि आकाश और आत्मा समान रूप से अमूर्त्तिक हैं, तथापि आकाश जड़ और आत्मा चेतन है। आत्मा की इस विशेषता के कारण दोनों को सर्वथा समान नहीं कहा जा सकता। आत्मा को भले-बुरे का ज्ञान है। यद्यपि आत्मा स्वयं कुछ नहीं करता है, लेकिन उसकी अध्यवसाय रूप शक्ति यह कार्य करती है। उदाहरणार्थ-मेज़ कारीगर की बनाई हुई कहलाती है, लेकिन उसमें कहीं कारीगर के हाथ-पाँव नहीं दिखलाई देते। उसने जो कुछ किया है वह औजारों की सहायता से। यद्यपि कारीगर ने औजारों की सहायता से मेज़ बनाई है, तथापि मेज, कारीगर की बनाई हुई ही कहलाती है, इसी प्रकार आत्मा जो कुछ भी करता है, वह अध्यवसाय की शक्ति द्वारा ही करता है। अच्छे अध्यवसाय से अच्छे कर्म करता है और बुरे अध्यवसाय से बुरे कर्म।

संक्रमण के विषय में दूसरे आचार्य का यह मत है कि आयुकर्म, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय को छोड़कर, शेष प्रकृतियों का उत्तर प्रकृतियों के साथ जो संचार होता है, वह संक्रमण कहलाता है। उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए किसी प्राणी के शुभ कर्म उदय में आये। वह साता वेदनीय का अनुभव कर रहा है। इसी समय उसके अशुभ कर्मों की ऐसी कुछ परिणति हुई कि उसका सातावेदनीय, असातावेदनीय के रूप में परिणत हो गया। इसी प्रकार असाता भोगते समय शुभ कर्मों की ऐसी परिणति हो गई कि उसकी असाता, साता में परिणत हो गई। यह वेदनीय कर्म का संक्रमण कहलाया।

यद्यपि यह सत्य है कि कृत कर्म निष्फल नहीं होते, तथापि निराश होने का कोई कारण नहीं है। पाप को काट डालना या पुण्य रूप में पलट देना हमारी शक्ति के बाहर नहीं है। पाप, पुण्य रूप में परिणत हो सकता है और कट भी सकता है। अगर ऐसा न होता तो दान, तप आदि अनुष्ठान निरर्थक हो जाता। लेकिन यह अनुष्ठान निरर्थक नहीं है। तपस्या में इतनी प्रचण्ड शक्ति है कि उससे घोर से घोर कर्म भी नष्ट किये जा सकते हैं। प्रदेशी राजा अपने अशुभ कर्मों को शुभ रूप में पलट कर सूर्याभ देव हुआ था। तात्पर्य यह है कि आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता और हर्त्ता है। उसमें असीम शक्ति है। वह शुभ को अशुभ रूप में और अशुभ को शुभ रूप में परिवर्त्तित भी कर सकता है। यह परिवर्त्तन ही संक्रमण कहलाता है।

अगला प्रश्न है—नारकियों के कितने प्रकार के पुद्गल निधत्त हुए?

भिन्न-भिन्न पुद्गलों को इकट्ठा करके धारण करना निधत्त करना कहलाता है। अर्थात् कर्म-पुद्गलों को एक-दूसरे पर रच देना, जैसे एक थाली में बिखरी हुई सुइयों को एक के ऊपर दूसरी, आदि के क्रम से जमा देना, निधत्त करना कहलाता है। निधत्त शब्द यहाँ रूढ़ है।

निधत्त, कर्म की अवस्था-विशेष है। इस अवस्था को प्राप्त हुए कर्मों में उद्वर्त्तना या अपवर्त्तना करण ही परिवर्त्तन कर सकते हैं, अन्य करण नहीं। तात्पर्य यह है कि निधत्त अवस्था से पहले तो और भी करण लग सकते थे, मगर निधत्त अवस्था में उक्त दो करणों के अतिरिक्त कोई तीसरा करण नहीं लग सकता। जब कर्म पूर्वोक्त उद्वर्त्तना और अपवर्त्तना करण के सिवाय और किसी करण का विषय न हो, उस अवस्था का नाम निधत्त है।

अब प्रश्न यह है कि नारकी कितने प्रकार के कर्मों को निकाचित करते हैं?

जिन कर्मों को निधत्त किया गया था, उन्हें ऐसा मज़बूत कर देना कि जिससे वे एक-दूसरे से अलग न हो सके और जिनमें कोई भी करण कुछ भी फेरफार न कर सके, इसे निकाचित करना कहते हैं। उदाहरणार्थ-सुइयों को एक-दूसरे के पास इकट्ठा कर देना निधत्त करना कहलाता है। और उसके पश्चात् उन्हें अग्नि में तपाकर हथौड़े से ठोक दिया और आपस में इस प्रकार मिला दिया, जिससे वे एक-दूसरी से अलग न हो सकें। सूइयों के समान कर्मों का इस प्रकार मज़बूत हो जाना कि फिर उसमें कोई परिवर्त्तन न हो. निकाचित हो जाना कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि निकाचित कर्म वह कहलाते हैं, जिनमें किसी प्रकार का संक्रमण न हो सके; जिस रूप में बांधे हैं उसी रूप में भोगने पड़े, जिनमें अपवर्त्तना या उद्वर्त्तना करण भी कुछ न कर सकें। एक रोग साध्य होता है और एक असाध्य। असाध्य रोग में औषध का प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार निधत्त अवस्था तक तो उपाय हो सकता है, परन्तु निकाचित अवस्था में कोई उपाय कारगर नहीं होता। निकाचित कर्म तो जिस रूप में बांधे हैं, उसी रूप में भोगने पड़ेंगे।

'भिज्जंति' आदि पदों का संग्रह करने के लिए जो गाथा कही गई है, उसका तात्पर्य यह है कि इन सब पदों को इसी प्रकार समझना चाहिए।

अठारह सूत्रों में से यह बतलाया जा चुका है कि नरक के जीव कितने प्रकार के पुद्गलों को भेदते हैं, चय करते हैं, उपचय करते हैं, उदीरणा, वेदना, निर्जरा, अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्तन, और निकाचन करते हैं? इन सूत्रों में से अन्त के चार सूत्रों में तीनों काल जोड़ देना चाहिए, जिससे यह बारह हो जाएँगे और प्रारंभ के छह सूत्र इनमें मिला देने से सब की संख्या अठारह हो जायगी। यह अठारह सूत्रों का व्याख्यान हो गया।

काल-चलितादि सूत्र

मूलपाठ—

प्रश्न-नेरइया णं भंते ! जे पोग्गले तेया-कम्मताए गेरहंति ते किं तीतकालसमये गेरहंति ? पडुप्पराणकालसमए गेरहंति ? अणागयकाल-समये गेरहंति ?

उत्तर-गोयमा ! णो तीयकालसमये गे-रहंति, पडुप्पण्णकालसमये गेण्हंति, णो अणा-गयकालसमए गेण्हंति ।

प्रश्न-णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले तेया-कम्मत्ताए गहिए उदीरेंति, ते किं तीयकाल-समयगहिए पोग्गले उदीरेंति ? पडुप्पण्णकाल-समयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति ? गहणसमय-पुरक्खडे पोग्गले उदीरेंति ?

उत्तर-गोयमा ! अतीतकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति, णो पडुप्पण्णकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति, णो गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरेंति । एवं वेदेंति, णिज्जरेंति ।

प्रश्न-णेरइया णं भंते ! जीवाओ किं चलिअं कम्मं बंधंति ? अचलिअं कम्मं बंधंति ?

उत्तर—गोयमा ! णो चलियं कम्मं बंधंति, अचलिअं कम्मं बंधंति ।

प्रश्न—णेरइया णं भंते ! जीवाओ किं चलिअं कम्मं उदीरेंति ? अचलिअं कम्मं उदीरेंति ?

उत्तर—गोयमा ! णो चलिअं कम्मं उदीरेंति अचलिअं कम्मं उदीरेंति एवं वेदेंति, उयट्टंति, संकामेंति, निहत्तेंति, निकायंति । सव्वेसु अचलियं, नो चलियं ।

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं निज्जरेंति ? अचलियं कम्मं णिज्जरेंति ?

उत्तर—गोयमा ! चालियं कम्मं णिज्जरेंति, णो अचलियं कम्मं णिज्जरेंति । गाहा—

बंधो-दय-वेदो-यट्ट-संकमे
तह णिहत्तण-निकाये ।
अचलियकम्मं तु ए भवे,
चलियं जीवाओ णिज्जरए ॥

संस्कृत छाया—प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! यान् पुद्गलान् तैजस-कार्मणतया गृह्णन्ति, तान् किमतीतकालसमये गृह्णन्ति ? प्रत्युत्पन्नकालसमये गृह्णन्ति ? अनागतकालसमये गृह्णन्ति ?

उत्तर—गौतम ! नाऽतीतकालसमये गृह्णन्ति, प्रत्युत्पन्नकालसमये गृह्णन्ति, नाऽनागतकालसमये गृह्णन्ति ?

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! यान् पुद्गलान् तैजस-कार्मणतया गृहीतान् उदीरयन्ति, तान् किमतीतकालसमयगृहीतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति ? प्रत्युत्पन्नकालसमयगृह्यमाणान् पुद्गलान् उदीरयन्ति ? ग्रहणसमयपुरस्कृतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! अतीतकालसमयगृहीतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति, नो प्रत्युत्पन्नकालसमयगृह्यमाणान् पुद्गलान् उदीरयन्ति, नो ग्रहणसमयपुरस्कृतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति। एवं वेदयन्ति, निर्जरयन्ति।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! जीवात् किं चलितं कर्म बध्नन्ति ? अचलितं कर्म बध्नन्ति ?

उत्तर—गौतम ! नो चलितं कर्म बध्नन्ति, अचलितं कर्म बध्नन्ति।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! जीवात् किं चलितं कर्म उदीरयन्ति ? अचलितं कर्म उदीरयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! नो चलितं कर्म उदीरयन्ति, अचलितं कर्म उदीरयन्ति। एवं वेदयन्ति, अपवर्त्तयन्ति, संक्रमयन्ति, निधत्तं कुर्वन्ति, निकाचयन्ति, सर्वेषु अचलितम्, नो चलितम्।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! जीवात् किं चलितं कर्म निर्जरयन्ति ? अचलितं कर्म निर्जरयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! चलितं कर्म निर्जरयन्ति, नो अचलितं कर्म निर्जरयन्ति।

गाथा:—बन्धोदय-वेदाऽपवर्त्तन-संक्रमे तथा निधत्तन-निकाचे।
अचलितं कर्म तु भवेत्, चलितं जीवाद् निर्जरयेत्॥

मूलार्थ—प्रश्न-भगवन्! नारकी जीव जिन पुद्गलों को तैजस-कार्मण रूप में ग्रहण करते हैं, उन्हें क्या अतीत काल समय में ग्रहण करते हैं? वर्त्तमान काल-समय में ग्रहण करते हैं? या भविष्यकाल-समय में ग्रहण करते हैं?

उत्तर—हे गौतम! अतीतकाल-समय में ग्रहण नहीं करते, वर्त्तमान-काल-समय में ग्रहण करते हैं, भविष्यकाल-समय में ग्रहण नहीं करते।

प्रश्न—हे भगवन्! नारकी तैजस-कार्मण-रूप में ग्रहण किये हुए जिन पुद्गलों की उदीरणा करते हैं, सो क्या अतीत काल-समय में गृहीत पुद्गलों की उदीरणा करते हैं? या वर्त्तमान काल-समय में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं? या जिन का उदय आगे आने वाला है ऐसे—भविष्यकालीन—पुद्गलों की उदीरणा करते हैं?

उत्तर—हे गौतम! अतीत काल-समय में ग्रहीत पुद्गलों की उदीरणा करते हैं; वर्त्तमानकाल-समय में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा नहीं करते, तथा आगे ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं करते। इसी प्रकार वेदते हैं और निर्जरा करते हैं।

प्रश्न—भगवन्! नारकी क्या जीव-प्रदेश से चलित कर्म को बाँधते हैं या अचलित कर्म को बाँधते है ?

उत्तर—गौतम! चलित कर्म को नहीं बांधते, अचलित कर्म को बाँधते हैं।

प्रश्न—भगवन्! नारकी क्या जीव-प्रदेश से चलित कर्म की उदीरणा करते हैं अथवा अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं ?

उत्तर—गौतम! नारकी चलित कर्म की उदीरणा नहीं करते, वरन् अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार वेदन करते है, अपवर्तन करते हैं, संक्रमण करते हैं, निधत्त करते हैं और निकाचित करते हैं। इन सब पदों में अचलित कहना चाहिए, चलित नहीं।

प्रश्न—भगवन्! क्या नारकी जीव-प्रदेश से चलित कर्म की निर्जरा करते हैं या अचलित कर्म की निर्जरा करते हैं ?

उत्तर—गौतम! चलित कर्म की निर्जरा करते हैं, अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते। गाथाः—

बंध, उदय, वेदन, अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्तन और निकाचन के विषय में अचलित कर्म समझना चाहिए और निर्जरा के विषय में चालित कर्म समझना चाहिएं।

व्याख्यान—पुद्गल सम्बन्धी अठारह सूत्रों की व्याख्या के अनन्तर चार सूत्रों का अधिकार और निरूपण किया जाता है।

गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं— भगवन्! नारकी जीव जिन पुद्गलों को तैजस और कार्मण शरीर पने के रूप में ग्रहण करते हैं, उन्हें अतीत काल में ग्रहण करते हैं या वर्त्तमान काल समय में ग्रहण करते हैं या भविष्यकाल-समय में ग्रहण करते हैं? तात्पर्य यह है कि ग्रहण किये हुए पुद्गलों का, पुद्गल नाम मिट कर तैजस और कार्मण शरीर हो जाता है, सो किस काल समय में?

यहाँ तीनों कालों के साथ 'समय' विशेषण लगाया गया है अर्थात् काल और समय, इन दो पदों का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि 'काल' शब्द के अनेक अर्थ हैं और 'समय' के भी अनेक अर्थ हैं। अकेले 'काल' शब्द का प्रयोग करने से काला (कृष्ण) अर्थ भी लिया जा सकता था। ऐसा अर्थ यहाँ प्रस्तुत नहीं है, यह प्रकट करने के लिए काल के साथ 'समय' विशेषण लगा दिया गया है।

आशंका की जा सकती है कि अगर ऐसा था तो 'अतीत समय' ऐसा कह देने से काम चल सकता था, फिर 'काल' पद व्यर्थ क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि समय, समाचार रूप या प्रस्ताव रूप भी होता है। कोई इसी समय को न समझ ले, इस लिए भ्रम निवारण के लिए 'काल' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार काल का विशेषण समय और समय का विशेषण काल कह देने से किसी

प्रकार का भ्रम नहीं रहता और सरलता से इष्ट अर्थ समझा जा सकता है।

एक बात और है। यहाँ 'अतीतकाल' के साथ 'समय' शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि अतीत काल कह देने मात्र से भी काम चल जाता मगर ऐसा करने से तो न जाने कितनी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का अर्थ समझा जाता! किन्तु यहां समीपवर्त्ती अतीत काल का अर्थ ही ग्रहण करना है। काल का छोटे से छोटा अंश लेना है और वह भी भूत काल का ही। अतएव भूतकाल को सूचित करने के लिए 'अतीत' शब्द ग्रहण किया है और उसका छोटे से छोटा अंश समझाने के लिए 'समय' शब्द का प्रयोग किया है।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि नारकी जीव जिन पुद्गलों को तेजस और कार्मण शरीर-पने के रूप में ग्रहण करते हैं, उन्हें अतीतकाल में ग्रहण करते हैं, वर्त्तमान में ग्रहण करते हैं या भविष्यकाल में ग्रहण करते हैं ?

इस प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! नारकी जीव अतीत-काल में तैजस-कार्मण शरीर रूप में पुद्गलों को ग्रहण नहीं करते, इसी प्रकार भविष्य काल में भी ग्रहण नहीं करते, किन्तु वर्त्तमान में ग्रहण करते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। अतीतकाल नष्ट हो चुका है, भविष्य काल अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ। अतः जो भी क्रिया की जाती है वह वर्त्तमान में ही की जाती है। जो आदमी मर गया है, या जो अब तक उत्पन्न ही नहीं हुआ, वह पत्र नहीं लिख सकता। पत्र वही लिखेगा जो वर्त्तमान में है।

प्रश्न होता है कि जब प्रत्येक कार्य वर्त्तमान में ही हो सकता है, भूतकाल या भविष्यकाल में नहीं हो सकता; यह बात प्रसिद्ध है तो यहां तीनों कालों को लेकर प्रश्न क्यों किया गया है ?

इसका उत्तर यह है कि भगवान् को लोकोत्तर विषय में लौकिक बात दिखानी है । एक 'क' वर्ण के उच्चारण में भी असंख्यात समय लग जाते हैं, लेकिन हमें असंख्यात समय का अनुभव नहीं होता । मगर ज्ञानी जानते हैं कि नेत्र मूंद कर खोलने में कितना समय लगता है । इन समयों में से, किस समय, क्या होता है, यह बताने के लिए ही यह चर्चा की गई है ।

'क' वर्ण के उच्चारण में असंख्यात समय लगते हैं, यह अनुभव हमें नहीं होता । अगर अनुभव होता तो गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न ही क्यों करते ? असंख्यात समय किस प्रकार लग जाते हैं, इस बात को पहले दिये हुए कपड़े के दृष्टान्त से समझा जा सकता है । बल्कि ज्ञानियों का कथन तो यह है कि एक वस्त्र का एक तार टूटने में भी असंख्यात समय लग जाते हैं, क्योंकि एक तार रुई के रेशों से बना है । पहले एक रेशा टूटेगा, तब दूसरा टूटेगा । पहले रेशे के टूटे बिना दूसरा रेशा नहीं टूट सकता । इस प्रकार एक तार टूटने में भी असंख्यात समय लग जाते हैं ।

जिसका काम जितने से चल जाता है, वह काल के उतने ही हिस्से कर लेता है । आप लोगों ने वर्ष को महीनों में विभक्त किया । महीनों को सप्ताहों और दिनों में, दिनों को घंटों में, घंटों को मिनटों में और मिनटों को सैकिंडों में बांट

लिया। सैकिंडों पर आकर आप रुक गये। लेकिन क्या सैकिंडों के हिस्से नहीं हो सकते? अवश्य! मगर आपका काम इतने से ही चल जाता है, इस कारण आप आगे विभाजन नहीं करते। किन्तु ज्ञानियों को तो एक समय से भी काम है और अपनी दिव्य दृष्टि में वे उस 'समय' को स्पष्ट रूप से देखते भी है। ज्ञानियों द्वारा किये गये इस काल-विभाग से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि शास्त्र कितनी सूक्ष्म दृष्टि से लिखे गये हैं।

दूसरा प्रश्न है—भगवन्! नारकी जिन पुद्गलों को तैजस-कार्मण शरीर के रूप में ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों की जो उदीरणा होती है, वह भूतकाल में गृहीत पुद्गलों की होती है, या वर्त्तमान काल में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की या भविष्य में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की होती है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—गौतम! नारकी तैजस-कार्मण शरीर के रूप में ग्रहण किये हुए जिन पुद्गलों की उदीरणा करते हैं वे पुद्गल भूतकाल मे ग्रहण किये हुए होते हैं, वर्त्तमान या भविष्य काल मे ग्रहण किये हुए या किये जाने वाले नहीं होते।

बौद्ध लोग क्षणिकवादी हैं। वे वर्त्तमान काल में ठहरने वाली वस्तु ही मानते हैं, भूत और भविष्य काल में किसी भी पदार्थ का रहना नहीं मानते। जो वर्त्तमान क्षण में है, उसका दूसरे क्षण में समूल नाश हो जाता है। कोई भी पदार्थ वर्त्तमान के अतिरिक्त किसी भी काल में नहीं रहता। लेकिन जैन शास्त्र ऐसा नहीं मानता। जैन शास्त्र कहता है कि अगर

भूतकाल का पुण्य-पाप सर्वथा नष्ट हो जावे और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न रहे, तो फिर भूतकाल के कर्म, वर्त्तमान में उदित ही न हों। भूतकाल और भविष्यकाल को एकदम अस्वीकार कर देने से संसार के समस्त व्यवहार ही भंग हो जाएँगे। मान लीजिए, एक मनुष्य ने दूसरे को ऋण दिया। कुछ दिनों बाद ऋण देने वाला माँगने गया तो ऋण लेने वाला कहेगा-वाह! किसने ऋण दिया और किसने ऋण लिया है! जिसने ऋण दिया था और जिसने लिया था, वह दोनों तो उसी समय सर्वथा समाप्त हो गये। अब तुम कोई दूसरे हो और मैं भी और ही हूँ। इसी प्रकार अगर कर्म भी नष्ट हो जाते हों तो उनका फल भी किसी को भोगना न पड़ेगा और स्वर्ग-नरक आदि की मान्यताएँ हवा में उड़ जाएँगी।

उदीरणा भूतकाल में बँधे हुए कर्म की होती है। वर्त्तमान में कर्म बँध ही रहा, उसकी उदीरणा नहीं हो सकती। और भविष्यकालीन कर्म अबतक बँधे ही नहीं हैं। उनकी उदीरणा होगी ही कैसे!

यहां तैजस और कार्मण दोनों शरीरों का कथन क्यों किया गया है? अकेले कार्मण शरीर का कथन क्यों नहीं किया गया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तैजस शरीर आठ-स्पर्शी है और कार्मण चतुःस्पर्शी है। कार्मण शरीर तैजस के बिना नहीं रह सकता, जैसे बिजली और तांबे का तार। शक्ति बिजली में होती है मगर तांबे के तार के बिना वह ठहर नहीं सकती। अतएव बिजली-और तार मिलकर उपयोगी होते हैं। इसी प्रकार बिना तैजस शरीर के कार्मण शरीर ठहर नहीं सकता। इसी कारण यहां दोनों का ही ग्रहण किया गया है।

आत्मा के साथ पहले का जो तैजस-कार्मण शरीर है, वह सूक्ष्म है। वर्त्तमान में जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, उनका पुद्गल नाम मिटकर तैजस कार्मण नाम हो जाता है। इस सूत्र से यह सिद्ध है कि जीव जहाँ कहीं भी जाता है, तैजस और कार्मण उसके साथ सदैव बने रहते हैं।

तीसरा प्रश्न है—भगवन्! नारकी जिन कर्मों को वेदते हैं-जिन कर्मों का फल भोगते हैं, वे कर्म भूतकाल के हैं, या वर्त्तमान काल के या भविष्य काल के?

इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—गौतम! अतीतकाल में ग्रहण किये हुए कर्मों का वेदन होता है; वर्त्तमान के तथा भविष्य के कर्मों का वेदन नहीं होता। इसी प्रकार निर्जरा भी भूतकाल में ग्रहण किये हुए कर्मों की होती है, वर्त्तमान या भविष्यकालीन कर्मों की नहीं होती। यह चार सूत्र हुए। आगे कर्म-अधिकार से आठ सूत्र कहे जाते हैं।

पहला प्रश्न है—भगवन्! नारकी जीव चलित कर्म बाँधता है या अचलित कर्म बाँधता है?

इस प्रश्न का उत्तर है—गौतम! नारकी जीव अचलित कर्म का बंध करता है, चलित कर्म का बंध नहीं करता।

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि जो अचलित है, उसका बाँधना क्या? जो गाय बँधी है, वह तो बँधी है ही; उसका बाँधना क्या? बाँधना तो उसे पड़ता है जो छूटी हो। इसी प्रकार जो कर्म अचलित हैं-स्थिर हैं, उन्हें क्या बाँधना?

इसका समाधान करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि चलित कर्म और अचलित कर्म की व्याख्या क्या है?

गाय को एक बार बाँधने के लिए लाते हैं और एक बार बाहर निकालने ले जाते हैं। यद्यपि गाय दोनों अवस्थाओं में चलित है, लेकिन बाहर निकलती हुई गाय बँधती है या बाँधने के लिए खूंटे पर आई हुई? बँधने के लिए खूंटे के पास आई हुई गाय बाँधी जाती है।

सो जीव के प्रदेश से जो कर्म चलायमान हो गये, उन्हें जीव नहीं बाँधता, क्योंकि वे ठहरने वाले नहीं हैं। ऐसे कर्म चलित कहलाते हैं। इससे विपरीत कर्म अचलित कहे जाते हैं।

व्याख्यान सभा में एक भाई आ रहा है और एक जा रहा है। एक भाई यहाँ सब को यथास्थान बैठाने वाला है। बैठाने वाला भाई उसी को बिठलाएगा जो बैठने के लिए आया है। जो जा रहा है उसके बैठने के लिए व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता है? जो रहा है और जो आ रहा है, दोनों ही चलित जान पड़ते हैं, लेकिन आने वाला बैठने के लिए आया है, अतएव वह स्थिर है और जाने वाला चलित है।

यही बात कर्म के सम्बन्ध में है। जीव आने वाले कर्मों को बाँधता है या जाने वाले कर्मों को? इसका उत्तर दिया गया है-आने वाले अर्थात् आये हुए कर्मों को। शास्त्रीय परिभाषा में जाने वाले-अर्थात् जो कर्म जीव-प्रदेश में नहीं रहने वाले हैं उन-कर्मों को चलित कहते हैं और उनसे विप-

रीत को अचलित कहते हैं। इसी आधार पर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि जीव चलित कर्म बाँधता है अथवा अचलित कर्म बाँधता है? भगवान् ने उत्तर दिया-जीव अचलित कर्म बाँधता है, चलित नहीं।

दूसरा प्रश्न है-भगवन्! नरक के जीव चलित कर्म की उदीरणा करते हैं या अचालित कर्म की?

इसका उत्तर भगवान् ने यह फरमाया है कि नारकी अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं।

जो कर्म चलित है, वह तो आप ही चलायमान हो रहा है, उसकी उदीरणा क्या होगी! जो मनुष्य स्वयं जा रहा है उसका बाहर निकालना ही क्या! बाहर तो वही निकाला जायगा जो बैठने की चेष्टा कर रहा हो या बैठा हो। जो बैठा हो उसे निकालने की चेष्टा करना ही उदीरणा है। अर्थात् कर्मों को उनके जाने के नियत समय से पहले ही भगा देना उदीरणा कहलाती है। अतएव उदीरणा अचलित कर्म की ही होती है, चलित की नहीं।

तीसरा प्रश्न है-वेदना चलित कर्म की होती है या अचलित कर्म की? इस प्रश्न का उत्तर भी यही है कि अचलित कर्म की वेदना होती है, चलित कर्म की नहीं।

तात्पर्य यह है कि जो कर्म जीव-प्रदेश से चलित हो गया है, वह जीव को अपना फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। जो जहां स्थित नहीं है, वह वहां फल भी उत्पन्न नहीं कर सकता।

चौथा प्रश्न है—तीव्र रस का मंद रस आदि अचलित कर्म का होता है या चलित कर्म का ? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है कि अचलित कर्म का होता है, चलित का नहीं।

इसी प्रकार पाँचवाँ प्रश्न संक्रमण का, छठा निधत्त का और सातवाँ निकाचित का है। इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है—अचलित कर्म का ही संक्रमण, निधत्तन, और निकाचन होता है।

आठवाँ प्रश्न निर्जरा के संबंध में है। निर्जरा चलित कर्म की होती है, अचलित की नहीं। आत्मप्रदेशों से कर्म-पुद्गलों को हटा देना निर्जरा है। अचलित कर्म आत्मप्रदेश से हटते नहीं है, चलित कर्म ही हटते हैं। इसलिए निर्जरा चलित कर्म की होती है, अचलित कर्म की नहीं।

इन आठ प्रश्नों की संग्रह-गाथा में यही बात कही गई है। बंध-उदय, वेदना, उदीरणा, अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्त और निकाचित, इन सात प्रश्नों में अचलित कर्म कहना चाहिए और आठवें प्रश्न-निर्जरा में चलित कर्म कहना चाहिए।
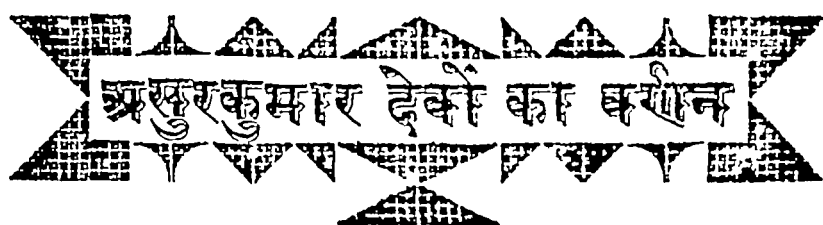
मूलपाठ—

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पराणत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! जहण्णेणं दस वास-सहस्साइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं ।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा, पाणमंति वा ?

उत्तर—गोयमा ! जहराणेणं सत्तराहं थोवाणं, उक्कोसेणं साइरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा, पाणमंति वा ।

प्रश्न—असुरकुमारा णं भंते! आहारट्ठी?

उत्तर—हंता, आहारत्ती।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

उत्तर—गोयमा! असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पन्नत्ते; तंजहा-आभोगनिव्वत्तिए, अणाभोगनिव्वत्तिए। तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। गोयमा! तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहण्णेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं साइरेगस्स वाससहस्सस्स आहरट्ठे समुप्पज्जइ।

प्रश्न—असुरकुमारा णं भंते! किं आहारं आहारेंति?

उत्तर—गोयमा! दव्वओ अणंतपएसिआइं दव्वाइं, खित्त-काल-भाव-पन्नवणागमेणं। सेसं जहा नेरइयाणं जाव।

प्रश्न—ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

उत्तर—गोयमा ! सोइंदियत्ताए, सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए, इट्ठत्ताए, इच्छियत्ताए, भिज्जियत्ताए, उड्ढत्ताए, णो अहत्ताए, सुहत्ताए णो दुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

प्रश्न-असुरकुमाराणं पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ?

उत्तर—असुरकुमाराभिलावेण जहा नेरइयाणं, जाव चालिअं कम्मं निज्जरंति।

संस्कृत-छाया-प्रश्न—असुरकुमाराणा भगवन् ! कियत्काल स्थितिःप्रज्ञप्ता ?

उत्तर—गौतम ! जघन्येन दश वर्षसहस्राणि, उत्कृष्टेन सातिरेक सागरोपमम्।

प्रश्न—असुरकुमारा भगवन् ! कियत्कालेन आनमन्ति वा प्राणमन्ति वा ?

उत्तर—गौतम ! जघन्येन सप्तभिः स्तोकैः, उत्कृष्टेन सातिरेकेण पक्षेण आनमन्ति वा प्राणमन्ति वा ।

प्रश्न—असुरकुमारा भगवन् ! आहारार्थिनः ?

उत्तर—हन्त, आहारार्थिनः ।

प्रश्न—असुरकुमाराणां भगवन् ! कियत्कालेन आहारार्थः समुत्पद्यते ?

उत्तर—गौतम ! असुरकुमाराणां द्विविध आहारः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-आभोगनिर्वर्त्तितः, अनाभोगनिर्वर्त्तितः । तत्र योऽसौ अनाभोगनिर्वर्त्तितः सोऽनुसमयमविरहित आहारार्थः समुत्पद्यते । गौतम ! तत्र योऽसौ आभोगनिर्वर्त्तितः स जघन्येन चतुर्थभक्तेन, उत्कृष्टेन सातिरेकेण वर्षसहस्रेण आहारार्थः समुत्पद्यते ।

प्रश्न—असुरकुमारा भगवन् ! कमाहारमाहरन्ति ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्यतोऽनन्तप्रदेशकानि, क्षेत्र-कालभावे प्रज्ञापनागमेन । शेष यथा नैरयिकाणा यावत्-

प्रश्न-ते तेषा पुद्गलाः कीदृशतया भूयो भूयः परिणमन्ति ?

उत्तर—गौतम ! श्रोत्रेन्द्रियतया, सुरूपतया, सुवर्णतया, इष्टतया, ईप्सिततया, हृद्यतया, ऊर्ध्वतया, नो अधस्तया, सुखतया, नो दुःखतया, भूयो भूयः परिणमन्ति ।

प्रश्न—असुरकुमाराणा भगवन् ! पूर्वाहृताः पुद्गलाः परिणता ?

उत्तर—गौतम ! असुरकुमाराभिलापेन यथा नैरयिकाणां, यावत् चलित कर्म निर्जरयन्ति ।

मूलार्थ—(श्रीगौतम स्वामी प्रश्न करते हैं)-भगवन् असुरकुमारों की स्थिति कितनी है ?

उत्तर—गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट सागरोपम से कुछ अधिक की ।

प्रश्न—भगवन् ! असुरकुमार कितने समय में श्वास लेते हैं और कितने समय में निःश्वास छोड़ते हैं ?

उत्तर—गौतम ! जघन्य, सात स्तोक रूप काल में और उत्कृष्ट एक पखवाड़े से अधिक काल में ।

प्रश्न—भगवन् ! असुरकुमार आहार के अभिलाषी हैं ?

उत्तर—हाँ गौतम, हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! असुरकुमारों को कितने काल में आहार की अभिलाषा होती है ?

उत्तर—असुरकुमारों का अहार दो प्रकार का है-एक आभोगनिर्वर्त्तित, दूसरा अनाभोगनिर्वर्त्तित । अनाभोगनिर्वर्त्तित अर्थात् बुद्धिपूर्वक न होने वाले आहार की अभिलाषा

उन्हें निरन्तर हुआ करती है। आभोगनिर्वर्त्तित आहार की अभिलाषा जघन्य चार भक्त में (एक अहोरात्रि में) और उत्कृष्ट हजार वर्ष से कुछ अधिक काल में होती है।

प्रश्न---भगवन्! असुरकुमार किन पदार्थों का आहार करते हैं?

उत्तर--गौतम! द्रव्य से अनन्त प्रदेश वाले द्रव्य का आहार करते हैं।

क्षेत्र, काल आदि के विषय में पएणवणासूत्र का वही वर्णन जान लेना चाहिए जो नारकियों के प्रकरण में कहा गया है।

प्रश्न—भगवन्! असुरकुमारों द्वारा आहार किये हुए पुद्गल किस रूप में बार-बार परिणत होते हैं?

उत्तर—गौतम! श्रोत्रेन्द्रिय रूप में, सुन्दर रूप में, इच्छित रूप में, मनोहर रूप में, ऊर्ध्व रूप में और सुख रूप में परिणत होते हैं। अधः—रूप में या दुःख रूप में परिणत नहीं होते।

प्रश्न—भगवन्! असुरकुमारों द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए?

उत्तर--गौतम! असुरकुमार के अभिलाप से अर्थात् नारकी के स्थान पर असुरकुमार शब्द का प्रयोग करते हुए, यह सब नारकियों के समान ही समझना चाहिए। यावत् चलित कर्म की निर्जरा करते हैं।

नागकुमारादि देवों का वर्णन
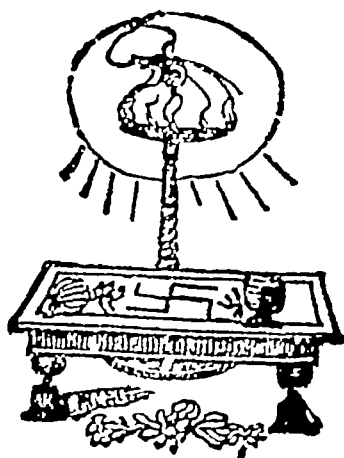
मूलपाठ—

प्रश्न—नागकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पराणत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! जहरणेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं ।

प्रश्न—नागकुमारा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ? ४

उत्तर—गोयमा ! जहरणेणं सत्तरहं थोवाणं, उक्कोसेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स आणमंति वा ४ ।

प्रश्न—नागकुमारा णं आहारट्ठी ?

उत्तर—हंता, आहारट्ठी।

प्रश्न—नागकुमाराणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?

उत्तर—गोयमा ! नागकुमाराणं दुविहे आहारे पण्णत्ते। तंजहा-आभोगनिव्वत्तिए, अणाभोगनिव्वत्तिए य। तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहण्णेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं दिवसपुहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेसं जहा असुरकुमाराणं, जाव नो अचालियं कम्मं निज्जरंति, एवं सुवन्नकुमाराणं वि, जाव थणियकुमाराणं ति।

संस्कृत-छाया-प्रश्न-नागकुमाराणा भगवन् ! कियत्काल स्थितिः प्रज्ञप्ता ?

उत्तर--गौतम ! जघन्येन दश वर्ष सहस्राणि, उत्कृष्टेन देशोने द्वे पल्योपमे।

प्रश्न--नागकुमारा भगवन् ! कियत्कालेन आनमन्ति वा ४ ?

उत्तर-गौतम ! जघन्येन सप्तभिः स्तोकैः उत्कृष्टेन मुहूर्त्त-पृथक्त्वेन आनमन्ति वा ४ ।

प्रश्न--नागकुमारा आहारार्थिनः ?

उत्तर--हन्त, आहारार्थिन' ।

प्रश्न-नागकुमाराणां भगवन् ! कियत्कालेन आहारार्थःसमुत्पद्यते ?

उत्तर-गौतम ! नागकुमाराणां द्विविध आहार' प्रज्ञप्तः । तद्यथा-आभोगनिर्वर्तितः, अनाभोगनिर्वर्तितश्च । तत्र योऽसावनाभोग-निर्वर्तितः सोऽनुसमयमविरहित आहारार्थः समुत्पद्यते । तत्र योऽसावा-भोगनिर्वर्तित. स जघन्येन चतुर्थभक्तेन उत्कृष्टेन दिवसपृथक्त्वेन आहारार्थः समुत्पद्यते । शेष यथा असुरकुमाराणाम्, यावत् नो अचलितं कर्म निर्जरयन्ति । एव सुवर्णकुमाराणामपि, यावत् स्तनितकुमाराणामिति ।

मूलार्थ-प्रश्न--भगवन् ! नागकुमारों की स्थिति कितनी है ?

उत्तर-गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट कुछ कम दो पल्योपम की ।

प्रश्न-भगवन् ! नागकुमार कितने समय में श्वासो-च्छ्वास लेते हैं ?

उत्तर-जघन्य सात स्तोक में और उत्कृष्ट मुहूर्त्त पृथक्त्व में श्वास लेते हैं और निःश्वास छोड़ते हैं।

प्रश्न-भगवन् ! नागकुमार आहारार्थी हैं ?

उत्तर-हाँ गौतम ! हैं।

प्रश्न--भगवन् ! नागकुमारों को कितना समय बीतने पर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

उत्तर-गौतम ! नागकुमारों का आहार दो प्रकार का है--आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित। अनाभोग आहार की अभिलाषा प्रतिसमय-सतत उत्पन्न होती है और आभोगनिर्वत्तित आहार की अभिलाषा जघन्य एक दिवस में और उत्कृष्ट दिवसपृथक्त्व के पश्चात् होती है। शेष सब असुरकुमार की तरह समझना चाहिए। इसी प्रकार सुवर्ण-कुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक समझना चाहिए।
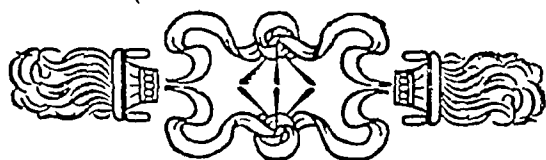
पृथ्वीकाय आदि का वर्णन

मूलपाठ—

प्रश्न—पुढवीकाइयाणं भंते! केवइयं-कालं ठिई पण्णत्ता?

उत्तर—गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं।

प्रश्न—पुढवीकाइया णं भंते! केवइ-कालस्स आणमंति वा, पाणमंति वा?

उत्तर—वेमायाए आणमंति वा।

प्रश्न—पुढवीकाइया आहारट्ठी?

उत्तर—हंता, आहारट्ठी।

प्रश्न—पुढवीकाइयाणं केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जई ?

उत्तर—गोयमा ! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।

प्रश्न—पुढवीकाइया किं आहारं आहारेंति ?

उत्तर—गोयमा ! दव्वओ जहा नेरइयाणं, जाव निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउद्दिसिं, सिय पंचदिसिं, वन्नओ काल--नील—पीत—लोहिय-हालिद्द-सुक्किलाणं । गंधओ सुब्भिगंधाइं २, रसओ तित्ताइं ५, फासओ कक्खडाइं ८, सेसं तहेव । णाणत्तं—

प्रश्न—कइभागं आहारेंति, कइभागं आसादिंति ?

उत्तर—गोयमा ! असंखिज्जभागं आहारेंति, अणंतभागं आसाइंति । जाव—

प्रश्न—तेसिं पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

उत्तर—गोयमा ! फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति। सेसं जहा नेरइयाणं, जाव नो अचलियं कम्मं निज्जरंति। एवं जाव वणस्सइ काइयाणं। णवरं ठिई वण्णेयव्वा जा जस्स। उस्सासो वेमायाए।

संस्कृत-छाया—प्रश्न-पृथिवीकायिकानां भगवन् ! कियन्त काल स्थितिः प्रज्ञप्ता: ?

उत्तर—गौतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्टेन द्वाविंशति-वर्षसहस्राणि ।

प्रश्न—पृथिवीकायिका भगवन् ! कियत्कालेन आनमन्ति वा, प्राणमन्ति वा ?

उत्तर—गौतम ! विमात्रया आनमन्ति वा ।

प्रश्न—पृथिवीकायिका आहारार्थिन: ?

उत्तर—हन्त, आहारार्थिनः ।

प्रश्न—पृथिवाकायिकाना कियत्कालेन आहारार्थः समुत्पद्यते ?

उत्तर—गौतम ! अनुसमयमविरहित आहारार्थः समुत्पद्यते ?

प्रश्न—पृथिवीकायिकाः कमाहारमाहरन्ति ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्यतो यथा नैरयिकाणां यावत् निर्व्याघातन षड्दिशम्, व्याघात प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशम्, स्यात् चतुर्दिशम्, स्यात् पञ्चदिशम् । वर्णतः—काल-नील-पीत-लोहित-हारिद्र-शुक्ल-नाम् । गन्धतः सुरभिगन्धानि २, रसतः तिक्तानि ५, स्पर्शतः कर्क-शानि ८, शेष तथैव, नानात्वम् ।

प्रश्न—कतिभागं आहरन्ति, कतिभागं स्पर्शयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! असंख्येयभागमाहरन्ति, अनन्तभाग स्पर्श-यन्ति, यावत् ।

प्रश्न—तेषा पुद्गला· कीदृशतया भूयो भूयः परिणमन्ति ?

उत्तर—गौतम ! स्पर्शेन्द्रियविमात्रतया, भूयो भूयः परिणमन्ति। शेष यथा नैरयिकाणाम्, यावद् नो अचालित कर्म निर्जयन्ति । एव यावत् वनस्पतिकायिकानाम् । नवर स्थितिर्वर्णयितव्या या यस्य। उच्छ्‌वासो विमात्रया ।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन्! पृथिवीकाय के जीवों की स्थिति कितनी है ?

उत्तर—गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की ।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव कितने काल में श्वासोच्छ्वास लेते हैं?

उत्तर—गौतम! विविध काल में श्वासोच्छ्वास लेते हैं-अर्थात् इनके श्वासोच्छ्वास का समय नियत नहीं है।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव आहार के अभिलाषी हैं?

उत्तर—हाँ, आहार के अभिलाषी हैं।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीवों को कितने समय में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है?

उत्तर—गौतम! प्रतिसमय-निरन्तर आहार की अभिलाषा होती है।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव किसका आहार करते हैं?

उत्तर—गौतम! द्रव्य से अनन्त प्रदेश वाले द्रव्य का आहार करते हैं, इत्यादि नारकी के समान जानना। पृथिवीकाय के जीव व्याघात *न हो तो छहों दिशाओं से आहार लेते हैं; व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओं से, कदाचित् चार और कदाचित् पाँच दिशाओं से आहार

---

* आहार का व्याघात लोकान्त के कोनों में ही संभव है, इसी अपेक्षा से यह कथन किया गया है। जहाँ कोई व्याघात नहीं है वहाँ नियम से छह दिशाओं से ही आहार करते हैं।

लेते हैं। वर्ण से पाँचों वर्ण के द्रव्य का आहार करते हैं। गंध से दोनों गंध वाले और रस से पाँचों रस वाले द्रव्य का आहार करते हैं। स्पर्श की अपेक्षा आठों स्पर्श वाले द्रव्य का आहार करते हैं। शेष सब पहले के वर्णन के समान ही समझना चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वाद लेते हैं?

उत्तर—गौतम! असंख्यात भाग का आहार करते हैं और अनन्त भाग का आस्वादन करते हैं।

प्रश्न—भगवन्! उनके आहार किये हुए पुद्गल बार-बार किस रूप में परिणत होते हैं?

उत्तर—गौतम! विविध प्रकार की स्पर्शनेन्द्रिय के रूप में पुनः-पुनः परिणत होते हैं, शेष सब नारकियों के समान समझना चाहिए। यावत् अचलित कर्म की निर्जरा नहीं होती। इसी प्रकार जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवों के विषय में समझना चाहिए। अलबत्ता इनकी स्थिति पृथक्-पृथक् है, सो जिसकी जितनी स्थिति हो, उसकी उतनी स्थिति कहनी और उच्छ्वास भी विविध प्रकार से जानना चाहिए।

मूलपाठ—

बेइंदियाणं ठिई भाणिऊण उस्सासो वेमायाए।

प्रश्न—बेइंदियाणं आहारे पुच्छा ?

उत्तर—अणाभोगनिव्वत्तिए तहेव, तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से णं असंखेज्ज-समइए अन्तोमुहुत्तिए वेमायाए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेसं तहेव जाव अणंतभागं आसायंति।

प्रश्न—बेइंदिया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति, ते किं सव्वे आहारंति, णो सव्वे आहारंति ?

उत्तर—गोयमा बेइंदियाणं दुविहे आहारे पन्नत्ते; तंजहा—लोमाहारे पक्खेवाहारे य। जे पोग्गले लोमाहारत्ताए गिण्हंति ते सव्वे अपरिसेसए आहारेंति। जे पक्खेवाहारत्ताए गिण्हंति तेसि णं पोग्गलाणं असंखेज्जइभागं आहारेंति, अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणासाइज्जमाणाइं, अफासाइज्जमाणाइं, विद्धंसं आगच्छंति।

प्रश्न—एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

उत्तर—सव्वत्थोवा पुग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा।

प्रश्न—बेइंदिया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिरहंति, ते णं तेसिं पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

उत्तर—गोयमा ! जिब्भिंदिय-फासिंदिय-वेमायत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमंति ।

प्रश्न—बेइंदियाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ?

उत्तर—तहेव, जाव चालिअं कम्मं निज्जरंति ।

संस्कृत-छाया—द्वीन्द्रियाणां स्थितिर्भणितव्या उच्छ्वासो विमात्रया ।

प्रश्न—द्वीन्द्रियाणामाहारे पृच्छा ?

उत्तर—अनाभोगनिर्वर्तितस्तथैव । तत्र योऽसावाभोगनिर्वर्तितः सोऽसंख्येयसमयिक आन्तर्मौहूर्तिकः विमात्रया आहारार्थ समुत्पद्यते। शेष तथैव यावद् अनन्तभागमास्वादयन्ति ।

प्रश्न—द्वीन्द्रिया भगवन् ! यान् पुद्गलान् आहारतया गृह्णन्ति, तान् किं सर्वान् आहरन्ति, नो सर्वानाहरन्ति ?

उत्तर—गौतम ! द्वीन्द्रियाणां द्विविध आहारः प्रज्ञप्तः तद्यथा लोमाहारः प्रक्षेपाहारश्च । यान् पुद्गलान् लोमाहारतया गृह्णन्ति तान् सर्वान् अपरिशेषितान् आहरन्ति । यान् प्रक्षेपाहारतया गृह्णन्ति तेषां पुद्गलानामसंख्येयभागमाहरन्ति, अनेकानि च भागसहस्राणि अनास्वाद्यमानानि, अस्पर्श्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति ।

प्रश्न—एतेषां भगवन् ! पुद्गलानां अनास्वाद्यमानानां अस्पर्श्यमानानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा, बहुका वा, तुल्या वा विशेषाधिका वा ?

उत्तर—गौतम ! सर्वस्तोकाः पुद्गला अनास्वाद्यमाना अस्पर्श्यमाना अनन्तगुणा ।

प्रश्न—द्वीन्द्रिया भगवन् ! यान् पुद्गलान् आहारतया गृह्णन्ति, ते तेषां पुद्गलाः कीदृग्तया भूयो भूयः परिणमन्ति ?

उत्तर—गौतम ! जिह्वेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रियविमात्रया भूयो भूयः परिणमन्ति ।

प्रश्न—द्वीन्द्रियाणां भगवन् ! पूर्वाहृताः पुद्गलाः परिणताः ?

उत्तर—तथैव, यावत् चलितं कर्म निर्जरयन्ति ।

मूलार्थ—दो-इन्द्रिय जीवों की स्थिति कहकर उन का विमात्रा से-अनियत-श्वासोच्छ्वास कहना चाहिए।

तत्पश्चात् द्वीन्द्रिय जीव के आहार का प्रश्न होता है कि-भगवन्! द्वीन्द्रिय जीव को कितने काल में आहार की अभिलाषा होती है?

उत्तर—अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार पहले के ही समान समझना चाहिए। जो आभोगनिर्वर्त्तित आहार है वह द्वीन्द्रिय जीवों का दो प्रकार का है-रोमाहार (रोमों द्वारा खींचा जाने वाला आहार) और प्रक्षेपाहार (कौर करके-मुँह में डालकर किया जाने वाला आहार) जो पुद्गल रोमाहार के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, उन सब के सब का आहार होता है; और जो पुद्गल प्रक्षेपाहार के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, उनमें से असंख्यातवाँ भाग खाया जाता है, शेष अनेक हजार भाग बिना आस्वाद के और बिना स्पर्श के ही नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—भगवन्! नहीं आस्वादन किये जाने वाले और नहीं स्पर्श किये जाने वाले पुद्गलों में से कौन किससे अल्प है, बहुत है, तुल्य है या विशेषाधिक है? अर्थात् जो पुद्गल आस्वाद में नहीं आये, वे अधिक हैं, या जो स्पर्श में नहीं आये वे अधिक हैं?

उत्तर--गौतम! आस्वाद में नहीं आने वाले पुद्गल सब से कम हैं और स्पर्श में नहीं आये हुए पुद्गल उनसे अनन्तगुने हैं।

प्रश्न—भगवन्! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल किस रूप में पलटते हैं?

उत्तर--गौतम! जिह्वा इन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप में पलट जाते हैं।

प्रश्न—भगवन्! द्वीन्द्रिय जीव द्वारा पहले ग्रहण किये हुए पुद्गल परिणत हुए-पलटे-हैं?

उत्तर--यह सब वक्तव्य पहले की भाँति ही समझना। यावत् चलित कर्म की निर्जरा होती है।
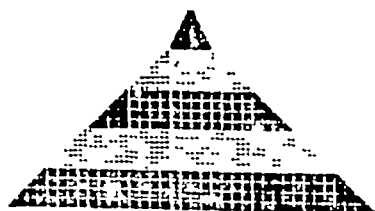
त्रीन्द्रिय आदि जीवों का वर्णन

मूलपाठ—

तेइंदिय-चउरिंदियाणं णाणत्तं ठिइए, जाव णेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्ज-माणाइं, अणासाइज्जमाणाइं, अफासाइज्जमा-णाइं विद्धंसं आगच्छन्ति।

प्रश्न—एएसि णं भंते! पोग्गलाणं अणाघाइज्जमाणाणं २ पुच्छा?

उत्तर—गोयमा! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा, तेइंदियाणं

घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदिय-वेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

संस्कृत–छाया–त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणा नानात्व स्थितौ यावत् अनेकानि च भागसहस्राणि अनाघ्रायमाणानि, अनास्वाद्यमानानि, अस्पृश्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति ।

प्रश्न—एतेषा भगवन् ! पुद्गलानामनाघ्रायमाणाना ३ पृच्छा ।

उत्तर—गौतम ! सर्वस्तोका पुद्गला अनाघ्रायमाणा, अनास्वाद्यमाना अनन्तगुणा, अस्पर्श्यमाना अनन्तगुणा । त्रीन्द्रियाणा घ्राणेन्द्रिय जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रियविमात्रया भूयो भूय. परिणमन्ति ।

मूलार्थ--तीन इन्द्रिय वाले और चार इन्द्रिय वाले जीवों की स्थिति में भेद है, शेष सब पहले की भाँति है। यावत् अनेक हजार भाग बिना सूंघे, बिना चखे, बिना स्पर्शे ही नष्ट हो जाते हैं ।

प्रश्न--भगवन्! इन नहीं सूंघे, नहीं चखे और नहीं स्पर्श किये हुए पुद्गलों में कौन किससे थोड़ा, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

उत्तर--हे गौतम! सब से कम नहीं सूंघे हुए पुद्गल हैं, उनसे अनन्तगुने नहीं चखे हुए और उनसे अनन्तगुने नहीं स्पर्श किये हुए पुद्गल हैं। तीन इन्द्रिय वाले जीवों द्वारा खाया हुआ आहार घ्राणेन्द्रिय के रूप में, जिह्वा इन्द्रिय के रूप में और स्पर्श-इन्द्रिय के रूप में वार-बार परिणत होता है। चार इन्द्रिय वाले जीवों द्वारा खाया हुआ आहार आँख, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय के रूप में बार-बार परिणत होता है।
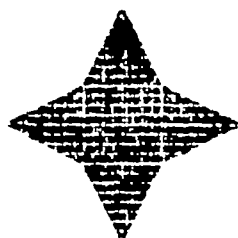
पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च-तथा-मनुष्य आदि का वर्णन
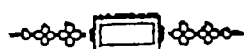
मूलपाठ—

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ठिई भणिऊणं उस्सासो वेमायाए। आहारो अणाभोगनिव्वत्तिओ अणुसमयं अविरहिओ, आभोगनिव्वत्तिओ जहण्णेणं अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स। सेसं जहा चउरिंदियाणं, जाव-चलियं कम्मं णिज्जरेंति।

एवं मणुस्साण वि, णवरं-आभोगनिव्वत्तिए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्स। सोइंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति। सेसं जहा तहेव जाव-निज्जरेंति।

संस्कृत-- छाया-- पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां स्थितिर्भणित्वा उच्छ्वासो विमात्रया। आहारोऽनाभोगनिर्वर्तितोऽनुसमयमविरहितः, आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तेन, उत्कृष्टेन षष्टभक्तेन . शेष यथा चतुरिन्द्रियाणाम्। यावत्--चलित कर्म निर्जरयन्ति।

एवं मनुष्याणामपि, नवरम् आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन अन्तर्मुहूर्तेन, उत्कृष्टेन अष्टमभक्तेन। श्रोत्रेन्द्रियविमात्रतया भूयो भूय' परिणमन्ति। शेष यथा तथैव यावत्--निर्जरयन्ति।

मूलार्थ---पाँच इन्द्रिय वाले तिर्यञ्चों की स्थिति कह कर उनका आहार विमात्रा से-विविध प्रकार से-(कहना चाहिए। अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार प्रतिसमय निरन्तर होता है। आभोगनिर्वर्त्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त में और उत्कृष्ट पष्ठ भक्त (दो दिन व्यतीत हो जाने पर) होता है। शेष वक्तव्यता चतुरिन्द्रिय जीवों के समान समझना चाहिए। यावत् चलित कर्म की निर्जरा होती है।

मनुष्यों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि उनका आभोगनिर्वर्त्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अष्टम भक्त-तीन दिवस बीतने-पर होता है। पंचेन्द्रियों द्वारा गृहीत आहार (पूर्वोक्त चार इन्द्रियों के अतिरिक्त) श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में भी परिणत होता है। शेष सब पहले के समान समझना चाहिए, यावत्-चलित कर्म की निर्जरा करते हैं।

वाण-व्यन्तर आदि का वर्णन
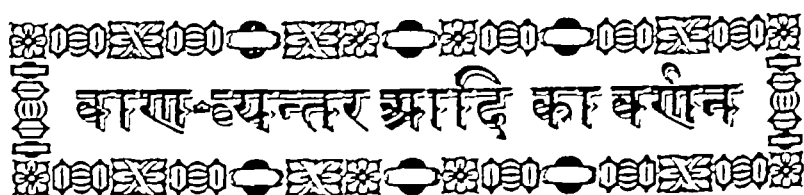
मूलपाठ—

वाणमंतराणं ठिइए नाणत्तं। अवसेसं जहा णागकुमाराणं। एवं जोइसियाण वि, णवरं उस्सासो जहण्णेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स। आहारो जहण्णेणं दिवसपुहुत्तस्स, उक्कोसेण वि दिवसपुहुत्तस्स। सेसं तहेव।

वेमाणियाणं ठिई भाणियव्वा ओहिया। ऊसासो जहण्णेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं। आहारो आभोगनिव्वत्तिओ जहण्णेणं दिवसपुहुत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं। सेसं चलियाइयं तहेव निज्जरावेंति।

संस्कृत छाया—वानव्यन्तराणां स्थितौ नानात्वम्, अवशेषं यथा नागकुमाराणाम् ।

एवं ज्योतिष्काणामपि, नवरं उच्छ्वासो जघन्येन मुहूर्त्तपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेनापि मुहूर्त्तपृथक्त्वेन । आहारो जघन्येन दिवसपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेनापि दिवसपृथक्त्वेन । शेषं तथैव ।

वैमानिकानां स्थितिर्भणितव्या औघिकी । उच्छ्वासो जघन्येन मुहूर्त्तपृथक्त्वेन उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशता पक्षैः, आहार आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन दिवसपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशता वर्षसहस्रैः । शेषं चलितादिकं तथैव निर्जरयन्ति ।

मूलार्थ—वाण-व्यन्तरदेवों की स्थिति में भेद है, शेष सब नागकुमारों के समान समझना चाहिए ।

यही ज्योतिषी देवों के संबंध में भी जानना चाहिए । विशेषता यह है कि-ज्योतिषी देवों का उच्छ्वास-निश्वास जघन्य और उत्कृष्ट मुहूर्त्त-पृथक्त्व के बाद होता है; और आहार जघन्य एवं उत्कृष्ट से दिवस-पृथक्त्व के पश्चात हुआ करता है । और सब बातें पहले के समान ही समझनी चाहिए ।

वैमानिकों की स्थिति औघिकी (सामान्य) कहनी चाहिए । उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्त्त-पृथक्त्व और उत्कृष्ट तेतीस पक्ष के पश्चात् होता है । उनका आभोग-

निर्वर्तित आहार जघन्य दिवसपृथक्त्व के बाद और उत्कृष्ट तेतीस हजार वर्ष बाद होता है। चलित कर्म की निर्जरा होती है, इत्यादि शेष सब पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

व्याख्यान—ऊपर जो विविध प्रकार के जीवों का वर्णन दिया गया है, उसकी कुछ विशेष बातों पर टीकाकार ने प्रकाश डाला है।

असुर कुमार की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है, सो बलि नामक असुरराज की अपेक्षा से है। चमरेन्द्र की आयु एक सागरोपम की ही है और बलिराज का आयुष्य, चमरेन्द्र के आयुष्य से कुछ अधिक है।

असुरकुमार का श्वासोच्छ्वास जघन्य सात स्तोक में बतलाया है, किन्तु स्तोक किसे कहते हैं, यह जान लेना आवश्यक है। टीकाकार कहते हैं—

हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो ।
एगे ऊसास नीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥
सत्त पाणुणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे ।
लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥

स्तोक का परिमाण बतलाने के लिए श्वासोच्छ्वास से आरम्भ किया है, पर प्रत्येक जीव का श्वासोच्छ्वास समान कालीन नहीं होता, अतएव शास्त्र में कहा है कि इस गणना में मनुष्य का श्वासोच्छ्वास लेना चाहिए। वह मनुष्य

हृष्ट हो, बहुत बूढ़ा न हो, शोक-चिन्ता वाला न हो, रुग्ण न हो। ऐसे मनुष्य के एक श्वास और उच्छ्वास को प्राण कहते हैं। सात प्राण का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का लव होता है और सत्तर लव का एक मुहूर्त्त होता है।

काल के लौकिक माप पराधीन हैं। आज घड़ी से काल का माप होता है, लेकिन घड़ी टूट जाय तो क्या किया जाएगा? ज्ञानियों का कथन है कि प्रकृति स्वयं काल नापती है, उसे समझ लेना चाहिए। अनुयोग द्वार सूत्र में प्रकृति का माप सरसों आदि से बतलाया है।

जो माप किसी और के आश्रित नहीं है, किन्तु प्रकृति के आश्रित है, वह लोकोत्तर माप है। दुनिया अपनी स्वतंत्रता को त्याग कर परतंत्रता के माप में पड़ रही है, लेकिन अन्त में प्रकृति का आश्रय लेना ही पड़ता है।

ऊपर मुहूर्त्त का परिमाण बतलाया गया है। तीस मुहूर्त्त का अहोरात्र और पंद्रह अहोरात्र का पक्ष (पखवाड़ा) होता है। एक मास में दो पक्ष होते हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार महीने में कम-ज्यादा दिन हो जाते हैं, इसलिए पक्ष में भी कम-ज्यादा होते हैं। आजकल संवत्सरी पर्व ज्योतिष के हिसाब से माना जाता है, इसी कारण कोई कभी और कोई कभी मनाता है, लेकिन शास्त्रकारों ने काल के माप के लिए पाँच संवत्सर अलग कर दिये हैं। शास्त्र में कहा है कि ७७ लव का एक मुहूर्त्त होता है, ३० मुहूर्त्त का एक दिन-रात होता है, १५ दिन-रात का एक पक्ष और ३० दिन-रात का एक मास होता है। इस काल-गणना में किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं पड़ती।

निर्वर्तित आहार जघन्य दिवसपृथक्त्व के बाद और उत्कृष्ट तेतीस हजार वर्ष बाद होता है। चलित कर्म की निर्जरा होती है, इत्यादि शेष सब पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

व्याख्यान—ऊपर जो विविध प्रकार के जीवों का वर्णन दिया गया है, उसकी कुछ विशेष बातो पर टीकाकार ने प्रकाश डाला है।

असुर कुमार की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है, सो बलि नामक असुरराज की अपेक्षा से है। चमरेन्द्र की आयु एक सागरोपम की ही है और बलिराज का आयुष्य, चमरेन्द्र के आयुष्य से कुछ अधिक है।

असुरकुमार का श्वासोच्छ्वास जघन्य सात स्तोक में बतलाया है, किन्तु स्तोक किसे कहते हैं, यह जान लेना आवश्यक है। टीकाकार कहते हैं—

हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो ।
एगे ऊसास नीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥
सत्त पाणुणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे ।
लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥

स्तोक का परिमाण बतलाने के लिए श्वासोच्छ्वास से आरम्भ किया है; पर प्रत्येक जीव का श्वासोच्छ्वास समान कालीन नहीं होता, अतएव शास्त्र में कहा है कि इस गणना मे मनुष्य का श्वासोच्छ्वास लेना चाहिए। वह मनुष्य

हृष्ट हो, बहुत बूढ़ा न हो, शोक-चिन्ता वाला न हो, रुग्ण न हो। ऐसे मनुष्य के एक श्वास और उच्छ्वास को प्राण कहते हैं। सात प्राण का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का लव होता है और सतत्तर लव का एक मुहूर्त्त होता है।

काल के लौकिक माप पराधीन हैं। आज घड़ी से काल का माप होता है, लेकिन घड़ी टूट जाय तो क्या किया जाएगा? ज्ञानियों का कथन है कि प्रकृति स्वयं काल नापती है, उसे समझ लेना चाहिए। अनुयोग द्वार सूत्र में प्रकृति का माप सरसों आदि से बतलाया है।

जो माप किसी और के आश्रित नहीं है, किन्तु प्रकृति के आश्रित है, वह लोकोत्तर माप है। दुनिया अपनी स्वतंत्रता को त्याग कर परतंत्रता के माप में पड़ रही है, लेकिन अन्त में प्रकृति का आश्रय लेना ही पड़ता है।

ऊपर मुहूर्त्त का परिमाण बतलाया गया है। तीस मुहूर्त्त का अहोरात्र और पंद्रह अहोरात्र का पक्ष (पखवाड़ा) होता है। एक मास में दो पक्ष होते हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार महीने में कम-ज्यादा दिन हो जाते हैं, इसलिए पक्ष में भी कम-ज्यादा होते हैं। आजकल संवत्सरी पर्व ज्योतिष के हिसाब से माना जाता है, इसी कारण कोई कभी और कोई कभी मनाता है, लेकिन शास्त्रकारों ने काल के माप के लिए पाँच संवत्सर अलग कर दिये हैं। शास्त्र में कहा है कि ७७ लव का एक मुहूर्त्त होता है, ३० मुहूर्त्त का एक दिन-रात होता है, १५ दिन-रात का एक पक्ष और ३० दिन-रात का एक मास होता है। इस काल-गणना में किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं पड़ती।

काल-गणना की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। अंगरेज लोग काल मापने के लिए ज्योतिष के सहारे नहीं रहे। उन्होंने अपनी तारीखें नियत कर ली हैं और चार वर्ष में एक दिन बढ़ा दिया है।

अगर हमारे यहां जीत व्यवहार से ऐसा कोई नियम बना दिया जाय तो संवत्सरी आदि में कोई अन्तर न रहे। प्रश्न होता है, नियम किस आधार पर बनाया जाय ? इसका उत्तर स्पष्ट है—७७ लव का एक मुहूर्त्त, ३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र. १५ अहोरात्र का एक पक्ष और दो पक्ष का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक संवत्सर होता है।

असुरकुमार का आहार जघन्य चार भक्त में बताया है। चार भक्त का अर्थ-एक दिन आहार करे, फिर एक दिन और दो रात न खाकर तीसरे दिन खावे। इसे चतुर्थ भक्त कहते हैं। चतुर्थ भक्त उपवास की एक संज्ञा है।

नागकुमार की दो पल्योपम की स्थिति कही गई है। यह उत्तर-दिशा के नागकुमार की अपेक्षा से है। दक्षिण दिशा के नागकुमार की अपेक्षा डेढ़ पल्योपम की ही स्थिति है।

मुहूर्त्त पृथक्त्व का अर्थ है, ७७ लव बीतने पर एक मुहूर्त्त होता है और दो मुहूर्त्त से लेकर नौ मुहूर्त्त तक को मुहूर्त्त पृथक्त्व कहते हैं। दो से लेकर नौ तक की संख्या सिद्धान्त में पृथक्त्व कहलाती है।

असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक का वर्णन किया गया है। इनके बीच में किन-किन का समावेश है, यह बात इस संग्रह-गाथा से ज्ञात हो सकती हैः—

असुरा नाग-सुवण्णा, विज्जु-अग्गी य दीव-उदही य।
दिसि-वाऊ थणिया वि य, दसभेया भवणवासीणं॥

अर्थात्—भवनवासी देवों के दस भेद हैं—(१) असुर-कुमार २) नागकुमार (३) सुवर्णकुमार (४) विद्युतकुमार (५) अग्निकुमार (६ द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिक्कुमार (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार।

एक दंडक नारकी जीवों का और दस दंडक भवनवासी देवों के, यह ग्यारह दंडक हुए। इसके पश्चात् एक दंडक पृथ्वीकाय के जीवों का आता है।

पृथ्वीकायिक जीवों की आयु अन्तर्मुहूर्त्त की है। ऊपर जो परिमाण मुहूर्त्त का बतलाया गया है, उससे कुछ कम समय अन्तर्मुहूर्त्त कहलाता है। पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट स्थिति २२ हजार वर्ष की, खर पृथ्वी की अपेक्षा से कही गई है। पृथ्वी के छह भेद हैं-

सण्हा य सुद्ध वालुय, मणोसिला सक्करा य खर पुढवी।
एगं बारस चोद्दस सोलस अट्ठारस बावीस त्ति।

पहली स्निग्ध-सुहाली पृथ्वी है। इस की स्थिति एक हजार वर्ष की है। दूसरी शुद्ध पृथिवी की बारह हजार वर्ष

की स्थिति है। तीसरी वालुका पृथ्वी की चौदह हजार वर्ष की, चौथी मनःशिला पृथ्वी की सोलह हजार वर्ष की, पाँचवीं शर्करा पृथ्वी की अठारह हजार वर्ष की, और छठी खर पृथ्वी की बाईस हजार वर्ष की स्थिति है।

विमात्रा-आहार कहने से यह तात्पर्य है कि उसमें कोई मात्रा नहीं है। कोई कैसा आहार लेता है, कोई कैसा। पृथ्वीकाय के जीवों का रहन-सहन भिन्न-भिन्न और विचित्र है। इसलिए उनमें श्वास की भी मात्रा नहीं है कि कब-कितना लेते हैं। तात्पर्य यह है कि इनका श्वासोच्छ्वास विषम रूप है। उसकी मात्रा का निरूपण नहीं किया जा सकता।

शास्त्र सम्बन्धी वार्त्ता बड़ी आनन्ददात्री है। मगर जिसमें इस वार्त्ता का रस लेने का सामर्थ्य हो, वही आनन्द ले सकता है। आजकल हम लोगों का ज्ञान अत्यल्प है और जीवन में जंजाल बहुत है। अतएव हम लोग शास्त्र के रहस्य को भली भांति समझ नहीं पाते। मगर आज जीवन कितना ही व्यस्त क्यों न हो, जिस समय शास्त्र का निर्माण हुआ, उस समय ऐसा जंजाल न था। इस कारण उस समय शास्त्र बड़े महत्व की दृष्टि से देखे जाते थे।

उक्त वर्णन से इस बात का भी भलीभांति अनुमान किया जा सकता है कि जैन धर्म क्या है? उसकी बारीकी और व्यापकता कहां तक जा पहुँची है। एक छोटे से राज्य का राजा होता है, दूसरा बड़े राज्य का होता है। वासुदेव का भी राज्य है और चक्रवर्त्ती का भी। चक्रवर्त्ती का राज्य सबसे बड़ा गिना जाता है, क्योंकि उसके राज्य में सभी एक छत्र में आ जाते हैं। सब का एक छत्र के नीचे आ जाना, यही चक्रवर्त्ती का चक्रवर्तीपन है।

हम लोग तीर्थंकरों की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं-'प्रभो ! तू त्रिलोकीनाथ है।' अगर भगवान् त्रिलोकी नाथ हैं, तो उनके राज्य में तीनों लोक के जीवों का समावेश होजाना चाहिए। फिर भले ही कोई छोटा हो या बड़ा हो। चक्रवर्ती मनुष्यों पर ही शासन करता है, लेकिन त्रिलोकीनाथ का छत्र तो चौवीस दण्डकों के जीवों के सिर पर है। उनका छत्र नारकी जीवों पर भी है। जैसे बड़ा राजा, अपने राज्य को प्रान्तों में विभक्त करता है, उसी प्रकार भगवान् ने अपना राज्य चौवीस दंडक रूपी प्रान्तों में विभक्त किया है। इन दंडकों में से पहला दंडक नारकी का है। भगवान् ने नारकियों को सब से पहले याद किया है। मनुष्य के शरीर में भी पहले पाँव गिना जाता है, सिर नहीं। लोग पैर पूजना कहते हैं, सिर पूजना नहीं कहते। पैर का महत्व बढ़ने से सिर का महत्व आप ही बढ़ जाता है। भगवान् का राज्य तीनों लोकों में फैला है। उन्होंने नरक को भी-एक प्रान्त बनाया है।

यहां यह आशंका हो सकती है कि असुरकुमार आदि के, जो समीप ही हैं, दस दंडक माने गये हैं और नारकी जीवों का एक ही। इसका क्या कारण है? इस आशंका का समाधान यह है कि नारकी जीवों में इतनी अधिक उथल-पुथल नहीं होती; क्योंकि वे दुख में पड़े हैं। भवनवासी उथल पुथल करते रहते हैं। इत्यादि कारणों से उनके दस दंडक किये गये हैं *।

* इस विषय में सूत्रों में कोई स्पष्टीकरण नहीं है किन्तु आचार्यों की धारणा ऐसी है कि नारकी में सातों नरक के नैरयिक परस्पर

फिर प्रश्न होता है कि असुरकुमार के सिवा नौ भवनवासी समान ही हैं, फिर इनके अलग-अलग दंडक क्यों बताये गये हैं। एक ही दंडक क्यों न बता दिया?

जिन भगवान् ने दंडक रूपी प्रान्त बनाये हैं, उन्हें इस विषय में अधिक ज्ञान था। हमें उनकी व्यवस्था पर ही निर्भर रहना चाहिए।

पृथ्वीकाय के जीवों का एक दण्डक है। पृथ्वीकाय के जीवों को यह मालूम नहीं है कि मैं पृथ्वी हूं। लेकिन भगवान् कहते हैं कि जो खेल असुरकुमारों में हो रहा है, वही पृथ्वी-काय के जीवों मे भी हो रहा है। जैन शास्त्रों में जैसा अनन्त विज्ञान भरा है, वैसा ज्ञान अन्यत्र देखने में नहीं आता।

भगवान् ने नरक के जीवों, असुरकुमार और पृथ्वी-काय के विषय में ७२ बातें कही हैं। इन जीवों के जितनी-जितनी इन्द्रियाँ हैं, उनका वर्णन भी किया गया। भगवान् की करुणा सभी जीवों पर समान है।

संलग्न है—इनके बीच में कोई दूसरे त्रस जीव नहीं हैं किन्तु भवनपति देवों में यह बात नहीं है, इनके बीच में व्याघात होने से इनके दंडक प्रथक २ माने हैं अर्थात् प्रथम नरक के १३ प्रतर और १२ अन्तर है। अन्तर में एक २ जाति के भवनपति रहते हैं और प्रतर में नेरिये रहते है परन्तु प्रथम नरक के नीचे के प्रतर से सातवीं नरक तक बीच में कोई भी नहीं होने से नेरयिकों का एक और दश जाति के भवनपतियों के दश दंडक (विभाग) किये गये है ऐसी पूर्वाचार्यों की धारणा है।

पृथ्वीकाय की ही तरह जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का भी एक-एक दण्डक माना गया है। फिर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का एक-एक दंडक किया और एक दंडक मनुष्य का किया है। चाहे मनुष्य किसी भी क्षेत्र का और किसी भी जाति का हो, सबका दंडक एक ही है। मनुष्य के दंडक के बाद वान-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक का दंडक गिना गया है।

देव और असुर-दो योनियां हैं। देव में ज्योतिष्क और वैमानिक गिने जाते हैं और असुर योनि में असुरकुमार आदि गिने जाते हैं। देवों में इतने झगड़े नहीं होते, जितने असुरों में होते हैं। भगवान् ने असुरकुमार आदि दस के दस दंडक गिनाये और देवों का एक ही दंडक गिना। यह त्रिलोकीनाथ का राज्य है।

पृथ्वीकायिक जीवों के आहार के विषय में कहा गया है कि अगर व्याघात न हो तो उनका आहार छहों दिशाओं से होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि व्याघात किसे कहते हैं?

लोक के अन्त में, जहां लोक और अलोक की सीमा मिलती है, वहीं व्याघात होना संभव है। जहां व्याघात नहीं है वहां छहों दिशा का आहार लेते हैं, जहां व्याघात हो वहां तीन, चार या पाँच दिशा से आहार लेते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक के अन्त में, कोने के ऊपर रहा हुआ पृथ्वीकाय का जीव तीन, चार या पाँच दिशाओं से आहार ग्रहण करता है। जब तीन दिशाएँ अलोक में दब जाती हैं-तीन तरफ अलोक आ जाता है, तब तीन दिशा से आहार लेते हैं। जब दो

दिशाएँ अलोक में दब जाती हैं तब चार दिशा का और जब एक दिशा अलोक में दब जाती है तब पांच दिशाओं से आहार लेते हैं। मतलब यह कि जो दिशा अलोक में दब जाती है, उसका आहार नहीं लेते।

पृथ्वीकाय के जीवों के एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। उन्हें रसेन्द्रिय नहीं है। जिसके रसेन्द्रिय है वह उसके द्वारा आहार ग्रहण करके स्वाद लेता है, मगर यह बात इनमें नहीं पाई जाती। इस लिए यह जीव स्पर्शेन्द्रिय से ही आहार ग्रहण करके उसका आस्वादन करते हैं। इनका यह स्पर्श भी एक प्रकार का आस्वादन है।

पाँच स्थावरों की स्थिति में अप्काय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। अग्निकाय के जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन दिन की है। वायुकाय की उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्ष की, वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की और पृथ्वीकाय की बाईस हजार वर्ष की स्थिति है। इस प्रकार इन सब की स्थिति है।

दो-इन्द्रिय की स्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। दो इन्द्रिय वाले जीवों को आभोग-आहार की इच्छा असंख्यात समय बाद होती है। असंख्यात समय कितना लेना चाहिए, यह बताने के लिए अन्तर्मुहूर्त्त का असंख्यात समय ग्रहण किया गया है। द्वीन्द्रिय जीवों के आहार का कोई निश्चित नियम नहीं है, अतएव वह विमात्रा से कहा गया है।

इन जीवों का आभोग आहार रोम द्वारा भी होता है। जब वर्षा होती है तब रोमों द्वारा शीत आप ही आजाता है। वह रोमाहार कहलाता है।

द्वीन्द्रिय जीवों के आभोग-आहार के विषय में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वे रोम द्वारा गृहीत आहार को पूर्ण रूप से खा जाते हैं और प्रक्षेपाहार का बहुत-सा भाग नष्ट हो जाता है और असंख्यातवाँ भाग शरीर रूप में परिणत होता है। इस कथन के आधार पर यह प्रश्न किया गया है कि जो पुद्गल स्पर्श में तथा आस्वाद में आये विना ही नष्ट हो जाते हैं, उनमें कौन से अधिक हैं? अर्थात् स्पर्श में न आने वाले पुद्गल अधिक हैं या आस्वाद में न आने वाले? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि आस्वाद में न आने वाले पुद्गल थोड़े हैं और स्पर्श न किये जाने वाले पुद्गल अनन्तगुण हैं।

त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति में अन्तर है। त्रीन्द्रिय जीवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ४६ रात-दिन की है। चौइन्द्रिय जीवों की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट छह मास की है। आहार आदि में जो अन्तर है, वह पहले बतलाया जा चुका है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच का आहार षष्ठभक्त अर्थात् दो दिन बीत जाने पर बतलाया गया है। यह आहार देवकुरू और उत्तर कुरू के युगलिक तिर्यंचों की अपेक्षा कहा गया है। इसी प्रकार मनुष्यों का जो अष्टमभक्त अर्थात् तीन दिन बाद आहार कहा है, वह भी देवकुरू, उत्तरकुरू के युगलिक मनुष्यों की अथवा भरतादि में जब प्रथम आरा प्रारम्भ होता

है या छठा आरा उत्सर्पिणी का पूर्ण होता है, उस समय के मनुष्यों की अपेक्षा समझना चाहिए।

वान-व्यन्तर की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक पल्योपम की है। ज्योतिषी देवों की जघन्य पल्योपम के आठवें भाग की और उत्कृष्ट एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की है।

दो मुहूर्त्त से लेकर नौ मुहूर्त्त तक को मुहूर्त्त-पृथक्त्व कहते हैं। जघन्य मुहूर्त्त-पृथक्त्व में दो या तीन मुहूर्त्त समझना चाहिए और उत्कृष्ट में आठ या नौ मुहूर्त्त लेना चाहिए।

वैमानिकों की स्थिति औधिक कही है। औधिक का का परिमाण एक पल्योपम से लेकर तेतीस सागरोपम तक है। इसमें जघन्य स्थिति सौधर्म देवलोक की अपेक्षा और उत्कृष्ट अनुत्तर विमानों की अपेक्षा से कही गई है।

श्वासोच्छ्वास का जघन्य परिमाण जघन्य स्थिति वालों की अपेक्षा और उत्कृष्ट परिमाण उत्कृष्ट स्थिति वालों की अपेक्षा से जानना चाहिए। यहाँ संग्रह-गाथा कही है, जो इस प्रकार है:—

जस्स जाइं सागराइं तस्स ठिई तत्तिएहिं पक्खेहिं।
उस्सासो देवाणं, वाससहस्सेहिं आहारो ॥

अर्थात्—वैमानिक देवों की जितने सागरोपम की स्थिति हो, उनका श्वासोच्छ्वास उतने ही पक्ष में होता है और आहार उतने ही हजार वर्ष में समझना चाहिए।

यह चौवीस दंडकों के विषय में व्याख्यान हुआ। किस दण्डक वाले जीव की कितनी स्थिति है; क्या आहार है, कर्म पुद्गल कैसे लगते है, और किस प्रकार झड़ते हैं, इत्यादि अनेक-विध प्रश्न गौतम स्वामी ने किये और भगवान् महावीर ने उनका उत्तर दिया।

अब तक जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उन सब के आधार पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, जब आत्मा अरूपी है तो उसमें आहार आदि का झगड़ा क्यों है? श्वासोछ्वास और कर्मबंध आदि भी कैसे होते हैं? आत्मा अमूर्त्त होने के कारण आकाश की भाँति निर्लेप, निर्विकार रहना चाहिए।

सांख्यमत में आत्मा अकर्त्ता है, क्योंकि अमूर्त्तिक है। जो अमूर्त्तिक होता है, वह कर्त्ता नहीं होता, जैसे आकाश। आकाश अमूर्तिक है, अतएव कर्त्ता नहीं है, इसी प्रकार आत्मा भी कर्त्ता नहीं होना चाहिए।

सांख्य के इस मत में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा अमूर्त्त होने से अगर कर्त्ता नहीं है तो सुख-दुःख का भोग क्यों करता है? इसका उत्तर सांख्य यह देते हैं कि यह सब प्रकृति करती है। प्रकृति के संसर्ग से आत्मा अपने आपको सुखी-दुखी मान लेता है, पर वास्तव में सुख-दुःख प्रकृति को ही होते हैं।

सांख्य की यह मान्यता न जैनों को स्वीकार है, न वेदान्तियों को। इस मान्यता पर सर्व प्रथम ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा अगर अरूपी और अकर्त्ता है तो, वह शरीर में क्यों पड़ा है? सांख्य यह कह सकते हैं कि

प्रकृति ने इसे कैद कर रक्खा है, मगर यदि प्रकृति के रोकने से यह शरीर में रुका रहता है और कर्त्ता नहीं है तो उसे मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? इसके अतिरिक्त जड़ प्रकृति को तो कर्त्ता माना जाय और चेतन आत्मा को अकर्त्ता कहा जाय, यह कहां तक तर्क संगत हो सकता है !

अब यह कहा जा सकता है कि आपके (जैन) मत में आत्मा रूपी है या अरूपी ? रूपी तो आप स्वीकार नहीं करते। अगर अरूपी है और ज्ञानवान् भी है तो वह अज्ञान के कार्य क्यों करता है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वभाव से अरूपी होते हुए भी प्रकृति के साथ लगा हुआ है। आत्मा अनादि काल से है और अनादि काल से ही कर्मों के साथ उसका संयोग हो रहा है । कर्मों के साथ एकमेक हो जाने के कारण संसारी आत्मा कथञ्चित् रूपी बना हुआ है और अपने असली स्वरूप को भूल गया है। वास्तव में आत्मा ही कर्त्ता है। वही सब क्रियाएँ करता है आत्मा शरीर में रहने वाला देही है और शरीर, देह है। आत्मा के दो देह हैं। एक सूक्ष्म, दूसरा स्थूल। स्थूल देह जब छूट जाता है, तब भी सूक्ष्म देह आत्मा के साथ बना रहता है। सूक्ष्म शरीर के साथ रहने से ही आत्मा बार-बार जन्म-मरण करता है। जन्म-मरण का यह कारण जब मिट जाता है तब जन्म मरण भी मिट जाता है। जन्म-मरण का कारण क्या है, यही वर्णन अब भगवती सूत्र में आता है।

आत्मारम्भ परारम्भ आदि का वर्णन

मूलपाठ-

प्रश्न—जीवाणं भंते ! किं आयारंभा, परारंभा, तदुभयारंभा, अणारंभा ?

उत्तर-गोयमा ! अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा; णो अणारंभा। अत्थेगइया जीवा णो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अनारंभा।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, 'अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि' एवं पडिउच्चारेयव्वं ?

उत्तर—गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-संसारसमावण्णगा य, असंसारसमावण्णगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावण्णगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं नो आयारंभा ३ जाव-अणारंभा। तत्थ णं जे ते संसारसमावण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-संजया य, असंजया य। तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-पमत्तसंजया य, अप्पमत्तसंजया य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया ते ण नो आयारभा, नो परारंभा, जाव-अणारंभा। तत्थ णं जे ते पमत्तसजया ते सुहं जोग पडुच्च नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव अणारभा। असुभं जोग पडुच्च आयारंभा वि, जाव-णो अणारभा। तत्थ णं जे ते असजया ते अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ 'अत्थेगइया जीवा जाव अणारंभा'।

संस्कृत छाया—प्रश्न—जीवा भगवन्! किमात्मारम्भाः, परारम्भाः, तदुभयारम्भाः, अनारम्भाः?

उत्तर—गौतम! सन्त्येकका जीवा आत्मारम्भा अपि, परारम्भा अपि, तदुभयारम्भा अपि, नो अनारम्भाः। सन्त्येकका जीवा नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, नो उभयारम्भाः, अनारम्भाः।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते—सन्त्येकका जीवा आत्मारम्भा अपि, 'एवं प्रत्युच्चारयितव्यम्'?

उत्तर—गौतम! जीवा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—संसारसमापन्नकाश्च, असंसारसमापन्नकाश्च। तत्र ये ते असंसारसमापन्नकास्ते सिद्धाः, सिद्धा नो आत्मारम्भाः यावत् अनारम्भाः। तत्र ये ते संसार-समापन्नकास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा- संयताश्च, असंयताश्च। तत्र ये ते संयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-प्रमत्तसंयताश्च, अप्रमत्तसंयताश्च। तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्ते नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, यावत् अनारम्भाः। तत्र ये ते प्रमत्तसंयतास्ते शुभं योगं प्रतीत्य नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, यावत् अनारम्भाः। अशुभं योगं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि, यावत् नो अनारम्भाः। तत्र ये ते असंयतास्ते अविरतिं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि, यावत् नो अनारम्भाः। तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते--'सन्त्येकका जीवा यावत् अनारम्भाः'।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन्! क्या जीव आत्मारंभ हैं, परारंभ हैं, उभयारंभ हैं, या अनारंभ हैं?

उत्तर—गौतम ! कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं, परारंभ भी हैं और उभयारंभ भी हैं, पर अनारंभ नहीं हैं; तथा कुछ जीव आत्मारंभ नहीं हैं, परारंभ नहीं हैं, उभयारंभ नहीं हैं, पर अनारंभ हैं।

प्रश्न—भगवन् ! इस प्रकार किस हेतु से कहते हैं कि 'कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं', इत्यादिक पूर्वोक्त प्रश्न फिर से उच्चारण करना चाहिए ?

उत्तर—गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार—संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक। उन में जो जीव असंसारसमापन्नक हैं, वे सिद्ध हैं और वे आत्मारंभ परारंभ या उभयारंभ नहीं हैं, पर अनारंभ हैं। उनमें से जो संसारसमापन्नक हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार संयत और असंयत। उनमें जो संयत हैं; वे दो प्रकार के हैं। वह इस प्रकार-प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत। उनमें जो अप्रमत्त संयत हैं वे आत्मारंभ, परारंभ या उभयारंभ नहीं हैं, पर अनारंभ हैं। उन में जो प्रमत्तसंयत हैं, वे शुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभ, परारंभ यावत उभयारंभ नहीं, पर अनारंभ है। और वे अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभ भी हैं, यावत् अनारंभ नहीं है। और जो असंयत हैं, वे

अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभ भी है, और यावत् अनारंभ नहीं है। इसलिए हे गौतम! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि 'कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं, यावत् अनारंभ भी हैं।

व्याख्यान—गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते हैं—भगवन्! जीव आत्मारंभी हैं. परारंभी हैं, तदुभयारंभी अर्थात् आत्मारंभी और परारंभी हैं, या अनारंभी हैं?

आरंभ शब्द अनेक अर्थों में प्रचलित है। किसी कार्य को शुरू करना भी आरंभ कहलाता है। लेकिन यहां यह अभिप्राय नहीं है। यहां आरंभ का अर्थ है—ऐसा सावद्य कार्य करना, जिससे किसी जीव को कष्ट पहुँचता हो, या उसके प्राणों का घात होता हो। अर्थात् आस्रव द्वार में प्रवृत्ति करना आरंभ कहलाता है।

आत्मारंभ के दो अर्थ हैं—आस्रवद्वार में आत्मा को प्रवृत्त करना और आत्मा द्वारा स्वयं आरम्भ करना। जो ऐसा करता है वह आत्मारंभी कहलाता है। दूसरे को आस्रव में प्रवृत्त करना या दूसरे के द्वारा आरंभ कराना परारंभ है और ऐसा करने वाला परारंभी कहलाता है। आत्मारंभ और परारंभ दोनों करने वाला उभयारंभी कहा जाता है। जो जीव, आत्मारंभ, परारंभ और उभयारंभ से रहित होता है, वह अनारंभी है। श्री गौतम स्वामी ने इसी संबंध में भगवान् से प्रश्न किये हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़रमाते हैं-गौतम ! कई जीव ऐसे हैं जो, आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं, उभयारंभी हैं, पर अनारंभी नहीं हैं। तथा कुछ जीव ऐसे भी हैं जो न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु अनारंभी हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर आत्मा अरूपी है तो आरंभी कैसे हो सकता है ? अगर आत्मा अरूपी होते हुए भी आरंभी है तो सभी आरंभी होने चाहिए। कोई आरंभी और कोई अनारंभी, यह भेद किस कारण से है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि जीव एक ही प्रकार के नहीं है। जीवों के मुख्य दो भेद हैं-एक संसारी अर्थात् जन्म-मरण करने वाले और दूसरे असंसारी अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त-सिद्ध भगवान्।

एक प्रश्न और हो सकता है कि संसार में से सिद्ध हुए हैं या सिद्धों में से संसारी जीव आये हैं ? यह दो भेद कब से बने हैं ? अगर दोनों भेद अनादिकाल से हैं तो सिद्ध, संसार में रहकर बने हैं या संसार से बाहर रहकर ? अगर संसारी जीव पहले हैं और सिद्ध उन्हीं में से निकले हैं, तो जीव मूलतः एक ही प्रकार के हुए। अगर सिद्धों को अनादिकालीन माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि कोई जीव स्वभाव से निरंजन, निर्विकार है और कोई स्वभाव से संसारी होते हैं। ऐसा माने बिना दो भेद किस प्रकार हो सकते हैं ?

यह प्रश्न ऊपर से अटपटा जान पड़ता है, लेकिन

वास्तव मे अटपटा नहीं है। ज्ञानी जनों का कथन है कि जीव अनादिकाल से, स्वभाव से, निश्चयनय की अपेक्षा असंसारी ही है, किन्तु कर्म-रूप उपाधि के संसर्ग से संसारी बना हुआ है यद्यपि जीवों के मौलिक स्वभाव में तनिक भी भेद नहीं है, मगर शुद्धि अशुद्धि के कारण भेद हो गया है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि जीव अनादिकाल से असंसारी है, तो यह सवाल खड़ा होता है कि संसार कबसे है?

'अनादिकाल से!'

जब संसार अनादिकाल से है, तो जीव कर्म नाश करने का उपाय भी तभी से कर रहा है, ऐसी स्थिति में सिद्ध जीव की आदि किस प्रकार होगी? कल्पना कीजिए, एक नगर में दो मुहल्ले हैं। एक मुहल्ले के रहने वाले दूसरे मुहल्ले में गये हैं अब प्रश्न यह है कि शहर कब से है?

'अनादि से!'

अगर नगर को अनादि से मानोगे तो दोनों मुहल्ले और एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में जाना अनादि से मानना पड़ेगा। ऐसा न मानने पर नगर को भी अनादि नहीं माना जा सकता।

कल का भविष्य काल पहले वर्त्तमान के रूप में आया; तब भूतकाल हुआ है। आगे के हजार, लाख और करोड़ वर्ष भी इसीप्रकार समझ लीजिए। लेकिन भूत काल कितना बीता, इसकी कोई सीमा है? 'नहीं'।

जब भूतकाल, कभी न कभी वर्त्तमान के रूप में रह चुका है, और वर्त्तमान के बाद ही भूतकाल बना है, तब उसे अनादि क्यों कहा जाता है? इसलिए कि उसकी आदि का पता नहीं है। इसी प्रकार कोई भी जीव, बिना संसारी अवस्था के सिद्ध नहीं हुआ है लेकिन कब से संसारी सिद्ध हो रहे हैं इस बात का पता नहीं लगाया जा सकता।

तात्पर्य यह है कि जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और असंसारी। संसारी जीव आत्मारंभी, परारंभी, उभयारंभी और अनारंभी भी हैं तथा असंसारी निरारंभी ही हैं। असंसारी किसी भी प्रकार का आरंभ नहीं करते। संसारी जीव आरम्भ करते हैं, इसी कारण वे संसार में हैं और आरम्भ का सर्वथा परित्याग कर देने पर असंसारी हो जाते हैं।

आजकल आरंभ का संकुचित अर्थ लिया जाता है, लेकिन शास्त्रकार का कथन है कि मन, वचन, काय के बुरे योग को भी आरम्भ कहते हैं।

इस संबंध में बहुत-सी बातें हैं, मगर हमें गड़बड़ में न पड़कर यही देखना है कि मोक्ष कैसे हो सकता है? वास्तव में आरंभ ही कर्म-बंध का कारण है। कर्मबंध रुक जाय और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो जाय तो मुक्ति प्राप्त हो जाती है। गीता में भी कहा है—

> सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।
> सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:॥

जैनदर्शन को चाहे जिस दर्शन से मिलाओ, इसकी सभी दर्शनों में दिखेगी। गीता में कहा है—हे अर्जुन!

संसार में जितने भी आरम्भ हैं, वह सब कर्मबन्ध के कारण हैं। जैसे अग्नि और धूम्र का अविनाभाव सम्बन्ध है, उसी प्रकार आरम्भ और दोष का भी अविनाभाव है। जहाँ आरम्भ है, वहाँ कर्मबन्ध रूप दोष अवश्य होता है। आरम्भ ही दोष का कारण है। कारण हट जाने पर कार्य आप ही हट जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आरम्भ के विना न खेती होती है, न व्यापार होता है, न श्वासोच्छ्वास ही लिया जा सकता है। ऐसी दशा में आरम्भ न करके क्या मर जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में गीता का कथन है कि कर्म के दो भेद करना चाहिए-सहज कर्म और असहज कर्म।

जैन शास्त्रों में भी अल्पारम्भ और महारम्भ का विभाग किया है। विना किञ्चित् आरम्भ के कोई जी नहीं सकता। कर्मभूमि अर्थात् आरम्भ का स्थान। कदाचित् अकर्मभूमि में कोई हो तो वह मोक्ष नहीं जा सकता। जब विना आरम्भ के जीवन निभना कठिन है, तो शास्त्र कहता है कि आरम्भ के दो भेद कर लो—अल्पारम्भ और महारम्भ। इस अल्पारम्भ और महारम्भ को ही गीता में, कुछ भेद के साथ सहज-कर्म और असहज कर्म कहा है।

सहज कर्म और असहज कर्म में क्या अन्तर है, इसे समझिए। व्यापार करना कर्म है। लेकिन एक आदमी झूठ बोल कर व्यापार करता है और दूसरा झूठ बोले विना करता है। व्यापार में झूठ का आश्रय न लेने वाला सहज कर्म करता है और झूठ का प्रयोग करने वाला असहज कर्म करता है।

इस प्रकार सहज कर्म और असहज कर्म का अर्थ अल्पारम्भ और महारम्भ लेना चाहिए।

आज कई लोग अल्पारम्भ और महारम्भ का विवेचन करके एकदम निरारम्भी होने का उपदेश देते हैं। वे महारम्भ को त्यागने का उपदेश नहीं देते वरन् महारम्भ को छोड़े बिना ही निरारम्भी होने का उपदेश देते हैं। इसका परिणाम यह आ रहा है कि लोग निरारम्भी तो हो नहीं पाते, और महारम्भ में पड़े रहते हैं। गांधीजी ने आज जिस अहिंसा का उपदेश दिया है, वह यही है कि महारम्भ से बचो। महारम्भ से निकलने वाला अहिंसावादी ही माना जायगा।

एक कपड़ा चर्खे से बना हुआ है और एक मिल से बना हुआ होता है। चर्खे से बने कपड़े में अल्पारम्भ है और मिल के बने कपड़े में महारम्भ है। अगर वस्त्र के बिना ही निर्वाह हो सके, तब तो दोनों ही प्रकार के आरम्भ उठ जाएँ, लेकिन वस्त्र के बिना नहीं रहा जाता, अतएव महारम्भ की जगह अल्पारम्भ से काम चलाना श्रेयस्कर है।

तात्पर्य यह है कि अल्पारम्भ और महारम्भ, दो बातें हैं। नग्न रहना शक्य नहीं है, अतएव वस्त्र की आवश्यकता हुई। वस्त्र बिना आरम्भ के मिल नहीं सकते। ऐसी अवस्था में वस्त्र के लिए महारम्भ होने देना, या अल्पारम्भ से ही काम चलाना, इस विषय पर विवेक के साथ विचार करने की आवश्यकता है। कदाचित् आप का यह खयाल हो कि जैसे शालिभद्र के लिए स्वर्ग से पेटियाँ आती थीं, उसी प्रकार हम लोगों के लिए मैनचेस्टर से गांठें आती हैं और बिना आरम्भ किये ही हमें वस्त्र मिल जाते हैं। मगर आप को यह

भी ध्यान रखना चाहिए कि शालिभद्र ने उन वस्त्रों को भी बन्धन कारक समझ कर त्याग दिया था। उसने कहा था- यह वस्त्र हमें नीचे गिराने वाले हैं, ऊँचे चढ़ाने वाले नहीं। अतएव शालिभद्र ने स्वर्गीय वस्त्रों को त्याग कर, मुनि बन कर देश की खादी धारण की थी। यह विचारणीय है कि जब स्वर्ग के वस्त्र भी बन्धनकारक हैं तो मिल के वस्त्र, जो महारम्भ से बने हैं, अधोगति के कारण क्यों न होंगे।

मुझे मिलों से द्वेष नहीं है। अल्पारम्भ और महारम्भ की मीमांसा करना और आप को बतलाना मेरा कर्त्तव्य है। अगर नग्न न रह सके और अल्पारम्भी वस्त्र भी धारण न किये तो महारम्भ में पड़ना ही पड़ेगा।

कहा जा सकता है कि वस्त्र-वस्त्र सब समान हैं। कौन वस्त्र कहाँ बना है, इस पचड़े में पड़ने की हमें क्या आवश्यकता है? हमें तो तन ढँकने से प्रयोजन है। लेकिन अगर मांसभक्षी भी यह कहने लगे कि हमें तो पेट भरने से मतलब है। अन्न हो या मांस हो, हमें इस पचड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? तो क्या उसका कहना ठीक होगा? अतएव वस्त्र-वस्त्र सब समान हैं यह समझना और अल्पारम्भ, महारम्भ का विचार न करना धर्मज्ञता का लक्षण नहीं है।

संसार का पतन असहज कर्म से हुआ है, सहज कर्म से नहीं हुआ। बालक, माता का दूध पीता है, यह सहज कर्म है और रक्त पीना असहज कर्म है। उचित यह समझा जाता है कि बड़ा होने पर बालक सहज कर्म दूध पीना भी छोड़ दे। लेकिन जब तक बड़ा नहीं हुआ है, तब तक रक्त पीने का असहज कर्म तो न करे!

बच्चा कभी माँ के स्तन में दांत लगा देता है तो माँ उसे थप्पड़ मारती है। यह इसलिए कि बालक को माता का दूध पीने का अधिकार है, रक्त पीने का हक़ नहीं है। इसी प्रकार यह पृथ्वी माता है। इस पर दूध पीने के समान अधिकारमय कार्य जब तक होते रहे तब तक इसका सौन्दर्य नहीं बिगड़ा था, लेकिन खून पीने के समान महारम्भ के कार्यों से इसका सौन्दर्य नष्ट हो रहा है। कोयलों के लिए जंगल वीरान हो गये, जिससे अनेक हानियाँ हुई। इसी प्रकार धुँए से प्रकृति बिगड़ी। इन सब के बदले मिला क्या? केवल तन ढँकने के लिए कपड़ा, जो चर्खे की बदौलत भी मिल सकता था।

खादी पहनने में जो क्रिया लगेगी वह खादी की ही लगेगी, मिल की नहीं लगेगी। मगर मिल के वस्त्र पहनने से तो मिल की क्रिया लगेगी ही। हाथ से बनी खादी की क्रिया हल्की लगेगी और मिल की क्रिया भारी लगेगी। इसके अतिरिक्त मिलों के कारण मनुष्यों की आजीविका छिन रही है। मशीनें बहुत-से मनुष्यों के बदले का काम कर डालती हैं और इससे मनुष्यों में बेकारी बढ़ती है और बेकारी बढ़ने से भुखमरी फैलती है। मनुष्यों का असली भोजन पैदा करने वाले लोग मिल के गुलाम बन जाते हैं और अपने जीवन को खो बैठते हैं। मिल के कपड़े के लिए लोग हाथ, पैर कटा बैठते हैं। उसमें लगने वाली चर्बी और चमड़े के लिए पशुओं की निर्दयता पूर्वक हत्या की जाती है। क्या आपको भी उन दीन और मूक पशुओं पर दया नहीं आती? अगर आप इन जीवों की हिंसा पर विचार करेंगे तो आपको हाथ के और मिल के कपड़े का अन्तर साफ मालूम हो जायगा।

वस्त्र पहनने का उद्देश्य शरीर को शीत-ताप से बचाना है। यह उद्देश्य क्या खादी पहनने से सिद्ध नहीं होता? रहा इज्जत का सवाल, सो आज जनता की मनोभावना में बहुत अन्तर पड़ गया है। अब खादी जिस आदर की दृष्टि से देखी जाती है, वह आदर चमकीले-भड़कीले वस्त्रों को भी नसीब नहीं है। ऐसी स्थिति में जो लोग खादी नहीं पहनते वे धर्म और इज्जत दोनों से हाथ धोते हैं।

महारम्भ का त्याग करके अल्पारम्भी होना ही निरारम्भी होने का मार्ग है। आज महारम्भ का त्याग करोगे तो कल अल्पारम्भ को भी त्याग कर निरारम्भी हो सकोगे और अन्त में सिद्ध हो जाओगे।

आप लोग सन्देह ही सन्देह में पड़े रहते हैं। सुनते हैं, यूरोपियन लोग जब तक न जानें, तब तक तो चाहे न करेंगे, मगर जान लेने पर करने में देरी नहीं लगाते। आप लोग समझते हैं, बुरे को बुरा जान लिया तो बस हो गया, मिथ्यात्व का पाप टल गया। लेकिन पर-स्त्री को पर-स्त्री समझते हुए कुकर्म करने वाला क्या पाप का भागी नहीं होता? इसी प्रकार महारंभ और अल्पारंभ को जानते हुए भी अगर महारम्भ को न छोड़ा तो यह जानना कैसा! इस जानने का फल क्या है?

एक गृहस्थ के घर में चोर घुसे। चोर जब घर में थे, तभी सेठानी की निद्रा भंग हो गई। सेठानी ने सेठजी को जगाया, सावधान किया और कहा— घर में चोर घुसे हैं, माल लिये जा रहे हैं। सेठजी ने उत्तर दिया—'ठीक है, मालूम हो गया।' सेठानी ने फिर सेठ को चेताया, मगर उत्तर वही—

'जानता हूं, मालूम है।' अन्त में सेठजी "जानता हूं, जानता हूं," करते रहे और चोर माल असबाव उठा ले गये।

इसी प्रकार देश सेवक आपको चेतावनी दे रहे हैं कि जागो, सँभलो, देखो धन चला जा रहा है। अभी कुछ विशेष नहीं बिगड़ा है। अभी थोड़े ही पराक्रम का काम है, और वह भी सिर्फ इतना ही की महारंभ को त्याग दीजिए। विदेशी खान-पान और वृथा व्यय से मुँह मोड़ लीजिए। उन्नति के कार्यों में जुट जाइए। आप विवाह आदि अवसरों पर जो वृथा व्यय करते हैं, वही अगर देश और जाति के उत्कर्ष में करें तो क्या आपको वदला नहीं मिलेगा? आप समझते हैं, विवाह में अधिक खर्च करने से समाज में सम्मान मिलता है, मगर क्या आप यह भी जानते हैं कि इससे कौन सम्मान देता है?

'मूर्ख लोग!'

तो इन मूर्खों द्वारा प्राप्त होने वाले सम्मान को तो आप मानते हैं, लेकिन देश सेवकों द्वारा मिलने वाले सम्मान को क्या आप सम्मान नहीं समझते? आप जो फिजूल खर्च करते हैं सो आप अपनी समझ में अपना खर्च करते हैं; लकिन देश-सेवकों का कहना है कि आप भारतवर्ष के धन से होली खेल रहे हैं। आप ऐसा करके भारत का गला दबोच रहे हैं। कदाचित् आप देश और समाज की उन्नति में खर्च न करें, सिर्फ विवाह-शादियों और विदेशी वस्तुओं में खर्च करना बंद करदें, तो भी वह धन वचा तो रह सकेगा! अगर सेठ की तरह 'जानूं हूं, जानूं हूं' करते रहे और जानकर भी आलस्य में पड़े रहे तो पूर्वोक्त सेठ की भांति लुट जाओगे और सेठानी के धिक्कार के पात्र बनोगे।

धन कभी, किसी के यहां स्थायी नहीं रहा। आज है, कल चला जायगा। इस लिये उससे सुकृत कर लो। आप जैन हैं, जैनधर्म का प्रभाव अपने उच्च चरित्र द्वारा बढ़ाइये। जैनधर्म को कलंकित करने वाला कोई काम न कीजिये।

अब मूल विषय पर आइए। यह कहा जा चुका है कि आरम्भ का सरल अर्थ है जीव को कष्ट पहुँचाना। लेकिन इस अर्थ में यह शंका हो सकती है कि जीव सदा सर्वदा तो दूसरे को कष्ट पहुँचाता नहीं है। सब समय आरम्भ नहीं करता है। अतएव जीवों को कभी आरम्भ करने वाले और कभी आरम्भ न करने वाले कहना चाहिए। यह शंका उत्पन्न न हो, इस लिए आरम्भ का समुच्चय में अर्थ किया गया है-आस्रव-द्वार में प्रवृत्ति करना।

अब प्रश्न यह है कि छठे गुणस्थान वाले प्रमत्तसंयत आरम्भी हैं, और सातवें गुणस्थान वाले आरम्भी नहीं हैं, तथा आस्रव की प्रवृत्ति तेरहवें गुणस्थान तक है। फिर यह अर्थ कैसे संगत होगा कि आस्रव-द्वार में प्रवृत्ति करना आरम्भ है, क्योंकि सातवें गुणस्थान से आगे आरम्भिया क्रिया नहीं है।

इसी सूत्र में आगे गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि-भगवान्! जीव जब तक चलता फिरता है, तब तक उसे मोक्ष प्राप्त होता है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने निषेध में दिया है। क्योंकि जब तक जीव चलता फिरता है, तब तक उस के शरीर से प्राणियों को दुःख पहुँचता ही है। तात्पर्य यह है कि चौदहवें गुणस्थान से पूर्व जीव के शरीर से दूसरे प्राणियों को कष्ट पहुँचता ही है।

आत्मा का आरम्भ करे वह अथवा अपने आत्मा की प्रेरणा से जो आरम्भ करे वह आत्मारम्भी है। मतलब यह है कि स्वेच्छा से जो आरम्भ करता है वह आत्मारंभी कहलाता है।

इसी प्रकार परारंभी के भी दो अर्थ हैं। प्रथम दूसरे के आत्मा को कष्ट पहुंचावे वह अथवा दूसरे की प्रेरणा से आरंभ करें वह परारंभी है।

अपने आत्मा का भी आरंभ करे और दूसरे के आत्मा का भी आरंभ करे, इसी प्रकार दूसरे की प्रेरणा तथा अपनी इच्छा से जो आरंभ करे वह उभयारंभी कहलाता है।

आत्मा कई वार काम, क्रोध आदि आन्तरिक विकारों के वश होकर कार्य करता है, कई वार दूसरे के दवाव से काम करता है और कभी-कभी दोनों कारणों से कार्य करता है। इसी कारण आरंभी के तीन भेद किये गये हैं।

गौतम स्वामी के इसी प्रश्न का एक भाग यह है कि, क्या ऐसे जीव भी हैं, जो न आत्मारंभी है, न परारम्भी हैं, न उभयारंभी हैं? क्या कोई निरारंभी भी हैं?

यह प्रश्न इसलिए किया गया है कि ठाणांग सूत्र में आत्मा को एक * कहा है। अतएव या तो सभी आरंभी हों या सभी निरारंभी हों। इसके अतिरिक्त मूल रूप में आत्मा अरूपी है। सो क्या आत्मा आरंभ करता है या सांख्य के कथनानुसार प्रकृति आरंभ करती है और आत्मा भोगता है? इत्यादि बातों को लक्ष्य में रखकर ही यह प्रश्न किया गया है।

---

* एगे आया—ठाणांग सूत्र, प्रथम ठाणा प्रथम सूत्र।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने यह दिया है कि-गौतम! कई जीव आत्मारंभी हैं, कई परारंभी हैं, कई उभयारंभी हैं, पर निरारंभी नहीं कई जीव ऐसे भी हैं जो न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी हैं।

ठाणांगसूत्र में, आत्मा को एक कहा गया है, वह शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा से ही। व्यवहारनय से जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और सिद्ध।

संसरणं संसारः। अर्थात् एक गति से दूसरी गति में जाना संसार है। आत्मा की चंचल दशा ही संसार है। जो आत्मा चंचल दशा में है; वह संसारी है और जो चंचल दशा में नहीं है वह असंसारी या मुक्त है। इन्हीं को सिद्ध कहते हैं।

अष्टकर्म रूपी काष्ठ को या जीव के आस्त्रव आदि के हेतुओं को शुक्लध्यान की अग्नि से जलाकर, आवागमन-रहित होने वाले को सिद्ध कहते हैं। गीता में कहा है—

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'

अर्थात्—जिस स्थिति में पहुँच जाने पर फिर लौट कर नहीं आना पड़ता, उस स्थिति को सिद्ध गति कहते हैं। जो यह स्थिति प्राप्त करते हैं, वह सिद्ध कहलाते हैं।

सिद्ध भगवान् न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं और न उभयारंभी हैं। वे सर्वथा निरारंभी हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि जो शक्ति, ईश्वर मानी गई है, वही जगत् का कर्त्ता है। अगर यह कथन मान लिया तो ईश्वर को भी आरंभी मानना पड़ेगा। इस हालत में

संसारी जीवों से उसमें कोई विशेषता न रह जायगी। अतः जैन-धर्म ऐसा नहीं मानता। जैन-धर्म के अनुसार सिद्ध कृतकृत्य होते हैं, उन्हें कोई भी काम करना शेष नहीं रहा है। बिना इच्छा के जगत्-निर्माण होना संभव नहीं है और ईश्वर में इच्छा शेष नहीं रहती।

जो लोग ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिए कि आप ईश्वर को पूर्णतया कर्त्ता मानते हैं या अंशतया? अगर ईश्वर पूर्णतया कर्त्ता है, तो हम लोग कुछ भी करने-धरने वाले नहीं रहे। जो कुछ किया, ईश्वर ने ही किया। खिलाना, पिलाना, चलाना आदि हमारी समस्त क्रियाओं का कर्त्ता भी ईश्वर ही ठहरता है। सभी भले बुरे काम उसके ही कर्त्तव्य हैं। अगर यह सत्य है तो जीवों को भिन्न भिन्न फल क्यों भोगने पड़ते हैं? मान लीजिए, एक बादशाह की प्रेरणा से पांच आदमियों ने पांच काम किये। जब पांचों बादशाह के बताये हुए काम करके लौटे, तो बादशाह ने उनमें से एक को वजीर बनाया, एक को दूसरा कोई ओहदा दिया, एक को पुरस्कार दिया, एक की सम्पत्ति छीन ली और एक को जेल में डाल दिया। सभी ने बादशाह की इच्छा से, प्रेरणा से, उसके बतलाए काम किये, फिर किसी को पुरस्कार और किसी को दंड क्यों? ऐसा करने वाला बादशाह क्या न्यायी कहला सकता है? नहीं।

इसी प्रकार आत्मा यदि ईश्वर की प्रेरणा से कार्य करता है, स्वयं नहीं करता, तो फिर ईश्वर भिन्न-भिन्न फल क्यों देता है? एक को सुखी और दूसरे को दुखी क्यों बनाता है? किसी को स्वर्ग में और किसी को नरक में क्यों भेजता है?

अगर यह कहा जाय कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा फल भोगता है, तो फिर कर्म का कर्त्ता कौन ठहरा? आत्मा ही कर्म का कर्त्ता सिद्ध हुआ। आत्मा अगर कर्म का कर्त्ता है तो ईश्वर पूर्णतया कर्त्ता नहीं रहा।

अब आप कह सकते हैं कि कर्म का कर्त्ता आत्मा ही है, लेकिन फल देने वाला कोई और है। जैसे चोर स्वेच्छा से जेल नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा अपने कर्म का फल नहीं भोगना चाहता है। ऐसी हालत में फल देने वाला कोई और ही होना चाहिए।

इसका समाधान यह है कि जो जेल में भेजता है, वह जेल जाने योग्य कामों को करने से रोकता भी है। अगर परमात्मा कर्म-फल देता है, वह ज्ञानी भी है-सभी कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान भी है, तो वह बुरे काम करने वाले को रोक क्यों नहीं देता? अगर वह उसी समय रोक दे तो कर्म फल देने की आवश्यकता ही न रहे। आखिर आप उस पिता को क्या कहेंगे, जो अपने पुत्र को, अपनी आँखों के सामने, जान-बूझकर कुएँ में गिरने देता है, रोकने का सामर्थ्य होने पर भी नहीं रोकता; और फिर अन्त में कुएँ में गिरने के लिए दंड देने पर उतारु हो जाता है! क्या वह पिता शक्तिमान्, न्यायी और दयालु कहला सकता है?

तब प्रश्न होता है, आखिर जीव किसकी प्रेरणा से कर्म का फल भोगता है? इसका सरल समाधान यह है कि अगर कोई अपने मुँह में मिश्री डालेगा तो उसे मिठास आप ही आएगी। यह मिठास ईश्वर ने दी या मिश्री में ही मिठास का गुण है? मिर्च खाने वाले का मुँह जलेगा। सो ईश्वर

संसारी जीवों से उसमें कोई विशेषता न रह जायगी। अतः जैन-धर्म ऐसा नहीं मानता। जैन-धर्म के अनुसार सिद्ध कृतकृत्य होते हैं, उन्हें कोई भी काम करना शेष नहीं रहा है। विना इच्छा के जगत्-निर्माण होना संभव नहीं है और ईश्वर मे इच्छा शेष नहीं रहती।

जो लोग ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिए कि आप ईश्वर को पूर्णतया कर्त्ता मानते हैं या अंशतया? अगर ईश्वर पूर्णतया कर्त्ता है, तो हम लोग कुछ भी करने-धरने वाले नहीं रहे। जो कुछ किया, ईश्वर ने ही किया। खिलाना, पिलाना, चलाना आदि हमारी समस्त क्रियाओं का कर्त्ता भी ईश्वर ही ठहरता है। सभी भले बुरे काम उसके ही कर्त्तव्य हैं। अगर यह सत्य है तो जीवों को भिन्न भिन्न फल क्यों भोगने पड़ते हैं? मान लीजिए, एक वादशाह की प्रेरणा से पांच आदमियों ने पांच काम किये। जब पांचों वादशाह के वताये हुए काम करके लौटे, तो वादशाह ने उनमें से एक को वजीर वनाया, एक को दूसरा कोई ओहदा दिया, एक को पुरस्कार दिया, एक की सम्पत्ति छीन ली और एक को जेल में डाल दिया। सभी ने वादशाह की इच्छा से, प्रेरणा से, उसके वतलाए काम किये, फिर किसी को पुरस्कार और किसी को दंड क्यों? ऐसा करने वाला वादशाह क्या न्यायी कहला सकता है? नहीं।

इसी प्रकार आत्मा यदि ईश्वर की प्रेरणा से कार्य करता है, स्वयं नहीं करता, तो फिर ईश्वर भिन्न-भिन्न फल क्यों देता है? एक को सुखी और दूसरे को दुखी क्यों वनाता है? किसी को स्वर्ग मे और किसी को नरक मे क्यों भेजता है?

अगर यह कहा जाय कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा फल भोगता है, तो फिर कर्म का कर्त्ता कौन ठहरा? आत्मा ही कर्म का कर्त्ता सिद्ध हुआ। आत्मा अगर कर्म का कर्त्ता है ता ईश्वर पूर्णतया कर्त्ता नहीं रहा।

अब आप कह सकते हैं कि कर्म का कर्त्ता आत्मा ही है, लेकिन फल देने वाला कोई और है। जैसे चोर स्वेच्छा से जेल नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा अपने कर्म का फल नहीं भोगना चाहता है। ऐसी हालत में फल देने वाला कोई और ही होना चाहिए।

इसका समाधान यह है कि जो जेल में भेजता है, वह जेल जाने योग्य कामों को करने से रोकता भी है। अगर परमात्मा कर्म-फल देता है, वह ज्ञानी भी है-सभी कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान भी है, तो वह बुरे काम करने वाले को रोक क्यों नहीं देता? अगर वह उसी समय रोक दे तो कर्म फल देने की आवश्यकता ही न रहे। आखिर आप उस पिता को क्या कहेंगे, जो अपने पुत्र को, अपनी आँखों के सामने, जान-बूझकर कुएँ में गिरने देता है, रोकने का सामर्थ्य होने पर भी नहीं रोकता; और फिर अन्त में कुएँ में गिरने के लिए दंड देने पर उतारू हो जाता है! क्या वह पिता शक्तिमान्, न्यायी और दयालु कहला सकता है?

तब प्रश्न होता है, आखिर जीव किसकी प्रेरणा से कर्म का फल भोगता है? इसका सरल समाधान यह है कि अगर कोई अपने मुँह में मिश्री डालेगा तो उसे मिठास आप ही आएगी। यह मिठास ईश्वर ने दी या मिश्री में ही मिठास का गुण है? मिर्च खाने वाले का मुँह जलेगा। सो ईश्वर

उसका मुँह जलाने आयगा या मिर्च में ही मुँह जलाने का गुण है। मिश्री अगर मिठास नहीं देती और मिर्च मुँह नहीं जलाती, तो वह मिश्री या मिर्च ही नहीं है। इसी प्रकार कर्म में अगर शुभाशुभ फल देने की शक्ति न हो तो वह कर्म ही नहीं है। जिस प्रकार मुँह को मीठा करने और जलाने का गुण मिश्री और मिर्च में है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ फल देने की शक्ति कर्म में है।

तब प्रश्न होता है कि क्या ईश्वर को कर्त्ता न माना जाय?

हम प्रार्थना में ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर के सिर पर संसार रचने का भार लादते हैं और उसे संसार-कार्य में प्रवृत्त करते हैं। भगवान् ने अपने ज्ञान में सब जीवों को देखा है। जीव स्वयम् तो अपने कार्यों को नहीं जानते, परन्तु ईश्वर को अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा सब के कार्यों का पता है। इसी लिए उन्होंने गौतम स्वामी को अपना वजीर बना कर सब हाल बतला दिया कि जीव इस प्रकार आत्मारंभी, इस प्रकार परारंभी और इस प्रकार उभयारंभी या निरारंभी होते हैं। ऐसा प्रकट करके भगवान ने जगत् को सन्मार्ग दिखलाया है। सन्मार्ग प्रदर्शक होने से भगवान कर्त्ता है। हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं-

आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिन्तु।

अर्थात्-रोग रहित बोधि और श्रेष्ठतम समाधि दीजिए।

अगर परमात्मा कुछ न देता होता तो उससे यह याचना क्यों की जाती? इससे प्रकट है कि परमात्मा निमित्त रूप से कर्त्ता है। वह समस्त आत्मगुणों को प्रकट करने

वाला है। यद्यपि हाथ से लिखा जाता है, तथापि प्रकाश के अभाव में लिखना शक्य नही है। लेखन-क्रिया में हाथ कर्त्ता है, लेकिन प्रकाश भी निमित्त कर्ता है। जैसे सूर्य आँख को प्रकाश देता है, उसी प्रकार ईश्वर हृदय को प्रकाश देता है। अतः ईश्वर को निमित्त-कर्त्ता मानने में कोई हानि नहीं है। स्तुति में भी कहा है—

कारण पद कर्त्तापणे रे, करि आरोप अभेद।
निज-पद अर्थी प्रभु थकी रे, करे अनेक उमेद।
अजित जिन! तारजो रे ॥

जिसे कारण कहते हैं, उसे कर्त्ता मान कर, अभेद रूप से उसकी स्तुति करते हैं। अपने आत्मा की स्वतंत्रता चाहने वाला प्राणी, उस परमात्मा से अनेक उम्मीदें करता है और कहता है--प्रभो! मुझे तारो।

सिद्ध निरारंभी हैं, इसी कारण हमें तार सकते हैं अगर वह निरारंभी न होते तो हमें तार भी न सकते।

सिद्ध पद ध्येय है। इसी की प्राप्ति के लिए सब कुछ किया जाता है। मगर देखना चाहिए कि उस पद की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

सर्व प्रथम आप लोगों को यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि आप यहां क्यों आये हैं? हमारा और आपका ध्येय एक ही है। आप हमारे ध्येय को अपना ध्येय बनाकर यहां उपस्थित हुए हैं, इसलिए हमारा आत्मा, परमात्मा को जिस रूप में स्वीकार करता है, परमात्म पद प्राप्त करने के जो उपाय

देखता है, वही सब हम आपको सुनाते हैं। जो भव्य पुरुष इन उपायों का सदा ध्यान रखते हैं और परमात्मा की स्तुति में मन लगाते हैं, वे संसारी से असंसारी बन जाते हैं, आरंभी से निरारंभी बन जाते हैं।

भगवान् कहते हैं— गौतम ! संसारी जीव भी दो तरह के हैं—संयत और असंयत। जो मनुष्य सब प्रकार की बाह्याभ्यन्तर ग्रंथि से और विषय-कषाय से निवृत्त हो गये हैं, वह संयत कहलाते हैं। जो विषय-कषाय से निवृत्त नहीं हुए हैं और आरंभ में प्रवृत्त हैं, वह असंयत कहलाते हैं।

संयत भी दो प्रकार के हैं—प्रमादी और अप्रमादी। अप्रमादी संयत न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभया-रंभी हैं, किन्तु निरारंभी हैं। प्रमादी संयत के दो भेद हैं— शुभ योग वाले और अशुभ योग वाले। शुभ योग वाले प्रमादी संयत न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी हैं। अशुभ योग वाले प्रमादी संयत निरारंभी नहीं हैं, किन्तु आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं और उभयारंभी हैं।

पूरी तरह विचार न करने वाला इन्हीं वचनों से झगड़े में पड़ जाता है। तेरहपंथी भाइयों का कथन है कि यहां शुभ योग वाला निरारंभी है, ऐसा कहा है। वे मन, वचन और काय के योग को ही योग समझते हैं और ऐसे शुभ योग वाले को ही निरारंभी समझते हैं। इसी आधार पर वे मिथ्यात्वी की क्रिया को भी भगवान् की आज्ञा में बतलाते हैं। लेकिन ऐसा शुभ योग तो सभी गुणस्थानों में है—मिथ्या दृष्टि में भी ऐसा शुभ योग मिल सकता है। अगर इस शुभ योग के होने से ही कोई निरारंभी हो जाता है तो फिर प्रथम

गुणस्थान वालों के लिए क्यों न कहा जाय कि वे शुभ योग में वर्त्तमान हैं, अतः निरारंभी हैं ? कदाचित् यह कहा जाय कि प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व होने के कारण मिथ्या दृष्टि निरारंभी नहीं है। तो अविरत सम्यग्दृष्टि के भी शुभ योग होता है, उसे निरारंभी क्यों न कहा जाय ? परन्तु सम्यग्दृष्टि को भी शुभ योग की अपेक्षा से निरारंभी नहीं कह सकते । अतएव यहां शुभ योग का अर्थ सिर्फ मन, वचन, काय का योग नहीं है, किन्तु उपयोग लगाकर कार्य करना है।

टीकाकार लिखते हैं-शुभ योग वाले प्रमत्तसंयत निरारम्भी है, इसका अर्थ यह है कि वह उपयोग सहित जो कार्य करता है, उस सोपयोग कार्य की अपेक्षा से वह निरारम्भी है। उपयोग पूर्वक योग की प्रवृत्ति को शुभयोग कहते हैं। उदाहरण के लिए प्रतिलेखन क्रिया को लीजिए। अगर वह उपयोग सहित प्रतिलेखन करता है तो निरारम्भी हैं अगर उपयोग के बिना ही प्रतिलेखन करता है तो उसके अशुभयोग है। इसका प्रमाण यह है:-

पुढवी-आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ॥

अर्थात् -प्रतिलेखना में प्रमाद करने वाला-उपयोग रहित होकर प्रतिलेखना करने वाला पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—छहों कायों की विराधना करता है।

यद्यपि प्रतिलेखन करते समय छहों कायों के जीव वहाँ नहीं आते, लेकिन जहाँ उपयोग है वहीं दया है। उपयोग न रखना ही हिंसा है।

ऊपर जो गाथा प्रमाण रूप में उद्धृत की गई है, उस का व्यतिरेक रूप से अर्थ किया जाय तो यह स्पष्ट है कि उपयोग शुद्ध हो और प्रतिलेखन करे तो छहों कायों की दया करता है। अतएव यहाँ योग का अर्थ सामान्य योग नहीं लिया गया है, किन्तु उपयोग के अर्थ में योग शब्द का व्यवहार किया गया है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योग यहाँ लिया जाय तो बड़ी गड़बड़ी होगी।

सातवें से दसवें गुणस्थान में योग के नौ भेद माने जाते हैं। मगर तेरहपंथियों ने नौ भेद मिटा कर उनके स्थान पर पांच ही भेद रख दिये हैं। शुभ योग मिथ्यात्वी और अभव्य जीव के भी होता है, मगर उनके उपयोग-यतना-नहीं होने के कारण उन्हें निरारम्भी नहीं कहा जा सकता।

सार यह है कि प्रमादी साधु छठे गुणस्थान में हैं। शुद्ध नय के अनुसार जिसमें उपयोग है, वह साधु है और जिसमें उपयोग नहीं है, वह साधु नहीं है। अनारम्भी होने का कारण उपयोग है।

शरीर के योग से तेरहवें गुणस्थान तक हिंसा होती है। लेकिन उपयोग होने से वह हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती। प्रतिलेखन करते समय भी हलन-चलन होता है और उसमें जीवघात भी होता है, लेकिन वहां उपयोग शुद्ध शुभ योग है, इस लिए हिंसा नहीं है। ऐसा साधु शुभयोगी

होने के कारण अनारम्भी है। इसके विपरीत हलन-चलन न करने वाले का योग भी अगर अशुभ है तो वह आरंभी ही माना जायगा।

जैनधर्म में हिंसा और अहिंसा क्या है, यह देखने योग्य है। कई लोग यह तर्क किया करते हैं कि--जैनशास्त्रों में एकेन्द्रिय जीव के घात को भी हिंसा कहा गया है। उधर साधुको पूर्ण अहिंसक भी माना है। यह कैसे संभव हो सकता है? मुनि से वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है, चलने-फिरने में हिंसा होती है, बिना हिंसा किए कोई जीव जीवित नहीं रह सकता, ऐसी स्थिति में साधु भी पूर्ण अहिंसक कैसे हो सकते हैं? कदाचित् और क्रियाएँ बंद हो जाएँ तो भी जीवन के लिए श्वासोच्छ्वास अनिवार्य है। थोड़ा बहुत हलन-चलन भी अनिवार्य है। इसमें जीवघात होता है। फिर पूर्ण अहिंसा की साधना कैसे संभव हो सकती है? अतएव या तो इतनी सूक्ष्म हिंसा को हिंसा ही न समझा जाय या अहिंसा को अव्यवहार्य माना जाय।

जैनशास्त्रों में हिंसा का जो स्वरूप बतलाया गया है, उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इस प्रश्न का समाधान सहज ही हो जाता है। हिंसा का लक्षण इस प्रकार है-

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

—तत्त्वार्थसूत्र।

प्रमाद के योग से अर्थात् उपयोग से भ्रष्ट हो कर जीव के प्राणों का घात करना हिंसा है। मुनि जब बोलते हैं तो

भाषासमिति से बोलते हैं और जब चलते हैं तो यतना के साथ चलते हैं। अतएव मुनि सर्वथा अहिंसक हैं।

अब प्रश्न होता है कि जिनकल्पी मुनि वस्त्र नहीं रखते हैं, फिर वे यतना कैसे करते हैं? इसका उत्तर यह है कि मुनि चाहे जिनकल्पी हो या स्थविरकल्पी, उसमें लिंग का होना आवश्यक है। और लिंग में रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका का होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रमाद का योग है-अयतना है-असावधानी है-वहीं हिंसा होती है। मुनि प्रत्येक क्रिया यतनापूर्वक ही करते हैं, अतएव वे पूर्णरूप से अहिंसक हैं।

संसार-समापन्न जीवों के दो भेद कहे गये हैं—संयत और असंयत। मुनि-महात्मा संयत कहलाते हैं। जिन्होंने कषाय पर विजय प्राप्त कर ली है और जो आत्मा के असली आनन्द का उपभोग करते हैं, वे संयत हैं, और जो ऐसा नहीं कर पाये हैं, वे असंयत हैं,। संयत मुनियों में भी दो भेद हैं—अप्रमादी और प्रमादी। अप्रमादी संयत न आत्मारंभी है, न परारंभी हैं, न उभयारंभी है, किन्तु निरारंभी हैं। सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के साधु अप्रमादी कोटि में अन्तर्गत है। प्रमादी संयत भी दो प्रकार के हैं-एक शुभयोगी, दूसरे अशुभयोगी। शुभयोगी के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। विस्तार के भय से उस पर और अधिक विचार नहीं किया जा सकता। जो शुभ योगी नहीं है, अर्थात् जो साधु हो गये हैं मगर यतना को भूले हुए हैं, जिन्होंने आरम्भ का त्याग तो कर दिया है मगर सावधान-जागरूक नहीं हैं, वे शब्दनय से आत्मारंभी है, परारंभी है, उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी नहीं है।

साधुओ ! इस प्रश्नोत्तर से आपके लिए एक बात स्पष्ट हो जाती है। आप यह न समझें कि आपने तीन करण, तीन योग से पाप का त्याग कर दिया सो आप एकदम निष्पाप अवस्था में पहुंच गये हैं। अब कोई भी पाप आपको स्पर्श नहीं कर सकता। त्याग की प्रतिज्ञा का शाब्दिक उच्चारण करने से ही त्याग नहीं हो जाता। वास्तविक त्यागी और निरारंभी बनने के लिए सावधानी रखने की आवश्यकता है। जिस श्रद्धा के साथ संसार का परित्याग किया है, वही श्रद्धा आजीवन स्थिर रहे, बल्कि बढ़ती जाय, ऐसा प्रयत्न सदैव करना चाहिए। इसी प्रयोजन से भगवान् ने गौतम को क्षण भर भी प्रमाद न करने के लिए कहा है। प्रमाद ही आरंभ है। अतएव आरंभ का त्याग कर देने पर भी संयम में सावधानी न रखने से आरंभ होता है।

प्रश्न हो सकता है कि जो निरारंभी नहीं हैं, उन्हें साधु कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि उनमें गफ़लत आ गई है, पर उस गफ़लत को मिटाने की इच्छा उनमें है और उनकी लेश्या शुद्ध है। अन्तःकरण में लेश्या की अशुद्धि नहीं है, इसलिए वे साधु-पद में ही गिने जाते हैं। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही शुद्ध हो सकता है। जिसकी लेश्या बिगड़ जायगी, वह लिंग-धारी होने पर भी साधु नहीं है। भेष होने पर भी मिथ्यात्व होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रमादी संयमी अशुभ योग की अपेक्षा तो आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं-अनारंभी नहीं हैं, और शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारंभी, न परारंभी न उभयारंभी हैं, वरन् अनारंभी हैं।

यह हुई संयत की बात। असंयत के विषय में भगवान् कहते हैं—असंयतों में जो अविरति हैं, वे आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं और उभयारंभी भी हैं। वे अनारंभी नहीं है। असंयत में भले ही शुभ योग की प्रवृत्ति हो जाय, तब भी त्याग-दशा में होने वाली सावधानी उसमें नहीं है, अतएव वह अनारंभी नहीं है।

गौतम स्वामी, भगवान् से कहते हैं कि हे देवाधिदेव! आपकी अमृतवाणी सुनने से मुझे तृप्ति नहीं होती; इसलिए मैं फिर प्रश्न करता हूँ। भगवान् ने भी गौतम स्वामी को लक्ष्य करके बाल जीवों के कल्याण के लिए सब बातें कही हैं। बड़े आदमी को अमृत मिलता है तो वह सब को बांट देता है। इस नियम के अनुसार गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किये हैं, वे सारे संसार के लिए हैं।

नारकी आदि चौवीस दंडक के जीव आरम्भी हैं ?

—•••*•••—

मूलपाठ—

प्रश्न-नेरइया णं भंते ! किं आयारंभा, परारंभा, तदुभयारंभा, अणारंभा ?

उत्तर-गोयमा ! नेरइया आयारंभा वि, जाव णो अणारंभा ।

प्रश्न-से केणट्ठेणं ?

उत्तर-गोयमा ! अविरतिं पडुच्च, ते तेणट्ठेणं, जाव 'नो अणारंभा' एवं जाव असुरकुमारा वि । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया वि ।

मणुस्सा जहा जीवा, णवरं सिद्धविरहिया भाणियव्वा ।

वाणमंतरा जाव---वेमाणिया, जहा नेरइया ।

सलेस्सा जहा ओहिया । कण्हलेसस्स, नीललेसस्स, काउलेसस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं-पमत्त अप्पमत्ता न भाणियव्वा । तेउलेसस्स, पम्हलेसस्स, सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं सिद्धा न भाणियव्वा ।

संस्कृत-छाया---प्रश्न-नैरयिका भगवन् ! किमात्मारम्भाः, परारम्भाः, तदुभयारम्भाः, अनारम्भाः ?

उत्तर-गौतम ! नैरयिका आत्मारम्भा अपि, यावत् नो अनारम्भाः ।

प्रश्न-तत्केनार्थेन ?

मनुष्या यथा जीवाः, नवरं सिद्धविरहिता भणितव्याः।

वानव्यन्तरा यावद् वैमानिकाः, यथा नैरयिकाः।

सलेश्या यथा औघिकाः। कृष्णलेश्यस्य, नीललेश्यस्य, कापोतलेश्यस्य यथा औघिका जीवाः, नवरं प्रमत्ताऽप्रमत्ता न भणितव्याः। तेजोलेश्यस्य, पद्मलेश्यस्य, शुक्ललेश्यस्य, यथा औघिका जीवा, नवर सिद्धा न भणितव्याः।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन्! नारकी जीव क्या आत्मारंभी है, परारंभी है, तदुभयारंभी है, या अनारंभी है?

उत्तर—गौतम! नारकी आत्मारंभी भी है; यावत् अनारंभी नहीं है।

प्रश्न—भगवन्! किस कारण से?

उत्तर—गौतम! अविरति की अपेक्षा से—इस लिए अविरति रूप हेतु से नारकी यावत् अनारंभी नहीं है। इसी प्रकार यावत् असुरकुमार भी। पूर्वोक्त सामान्य जीवों की भांति पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले तक जानना चाहिए। मनुष्यों में ज्यों समुच्चय जीव का कहा वैसे कहना। विशेषता यह है कि सामान्य जीवों में सिद्ध कहे हैं सो यहां नहीं कहना चाहिए।

नैरयिकों की तरह वान-व्यन्तर यावत् वैमानिक समझना।

लेश्या वाले जीवों के विषय में सामान्य जीवों के समान समझना चाहिए। कृष्णलेश्या वाले नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले जीव भी, सामान्य जीव की भांति हैं। विशेषता यह है कि सामान्य जीवों में कहे हुए प्रमत्त और अप्रमत्त यहां नहीं कहना चाहिए। तथा तेजो-लेश्या वाले, पद्मलेश्या वाले और शुक्लेश्या वाले जीव सामान्य जीवों के समान समझना। विशेषता यह कि सामान्य जीवों में से सिद्धों का कथन यहां नहीं करना चाहिए।

व्याख्यान—गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नारकी जीव घोर दुःख भोग रहे हैं, उन्हें एक श्वास की भी साता नहीं है, और अशक्त ऐसे हैं कि कुछ कर नहीं सकते। इस लिए वे निरारंभी हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम! नारकी जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, परन्तु निरारंभी नहीं हैं। मेरी आरंभी और अनारंभी की व्याख्या शक्ति-अशक्ति या दुःख-सुख पर अवलंबित नहीं है, किन्तु व्रत और अव्रत की अपेक्षा से है। नरक के जीवों के न व्रत हैं, न मर्यादा है और न उन जीवों के व्रत-मर्यादा हो ही सकती है।

धर्म का पालन न घोर दुःख में होता है, न घोर सुख में। मध्यम श्रेणी के जीव ही व्रतों का पालन कर सकते हैं। नरक के जीव बहुत दुखी हैं और स्वर्ग के जीव बहुत सुखी हैं, इसलिए इन दोनों के ही व्रत नहीं होते। सुख दुख के संग्राम में उतर कर आत्मा को वहाँ सक्षम बनाये रखने वाला ही व्रत में उतर सकता है।

भगवान् कहते हैं—गौतम! नारकी अव्रती हैं, इस कारण वे अनारंभी नहीं हैं। इसी प्रकार असुरकुमार से वैमानिक देव तक सभी देवगति वाले निरारंभी नहीं हैं, क्योंकि वे सभी अव्रती हैं।

यह कथन करके भगवान् ने सावधान किया है कि—हे साधुओ! ऐ मनुष्यो! जो योग देवों को भी प्राप्त नहीं हो सकता, वह योग तुम्हें प्राप्त है। इस दुर्लभ योग को प्रमादी होकर वृथा न खोओ। देवता भी निरारंभी नहीं हो सकते। तुम निरारंभी हो सकते हो। इसलिए व्रतों का पालन करने में असावधान मत रहना।

पृथ्वीकाय के जीव एकेन्द्रिय हैं। हिलते-डुलते नहीं हैं, न कुछ क्रिया ही करते हैं। वे इतने स्थिर हैं कि साधु भी उतना स्थिर नहीं दिखाई देता। साधुओं को पृथ्वी के समान बनने के लिए कहा जाता है। फिर भी वह वैसे नहीं हो पाते। पृथ्वी अच्छे-बुरे सभी व्यवहारों को समानभाव से सहन करती है। तो क्या पृथ्वी के जीव निरारंभी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भी भगवान् ने यही कहा है कि वे भी निरारंभी नहीं हैं। क्योंकि आत्मा की शुद्ध दशा की धारणा और आत्मा की

जागृति व्रत से हैं । पृथ्वीकाय के जीवों में व्रत नहीं है, इसलिए वे निरारंभी नहीं कहला सकते । केवल ऊपर से काया सिकोड़ने से ही निरारंभी कोई नहीं हो सकता ।

अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के लिए भी यही बात है । वे आत्मारम्भी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, निरारंभी नहीं हैं ।

तिर्यंच पंचेन्द्रियों में से किसी-किसी में भावना जागृत हुई है, इनमें से श्रावक भी हुए हैं, परन्तु सम्पूर्ण व्रत का वहां भी संभव नहीं है । अतएव पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च भी आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी नहीं हैं ।

मनुष्य, संयत और असंयत के भेद से दो प्रकार के हैं । यों तो उनमें संयतासंयत नाम का तीसरा भेद भी है, पर यहां आरंभ का प्रकरण होने से दो ही भेद किये गये हैं । संयत के प्रमादी और अप्रमादी के भेद से दो प्रकार हैं । जीव के विषय में पहले समुच्चय रूप से जो कहा है वही यहां समझना चाहिए ।

वाण-व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक के विषय में नारकी जीवों के समान ही समझना चाहिए, क्योंकि अव्रत की दृष्टि से नारकी और देवता समान हैं ।

साधुओं को ऐसी प्राप्ति हुई है जो सर्वार्थ सिद्धि के देवों को भी नसीब नहीं है । इतने पर भी अगर साधु शुद्ध उपयोग से भ्रष्ट होता है तो फिर नरक के जीवों की कक्षा में बैठना होगा ।

सर्वार्थसिद्धि के देव बहुत सुखी हैं। वेद-विकार उन्हें पीड़ित नहीं कर सकता। फिर भी वे साधु वृत्ति नहीं धारण कर सकते। मुनियों की आत्म-दशा उनसे भी उच्चतर है। इसका कारण क्या है? मुनियों को अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। कई बार उन्हें भोजन-पानी भी प्राप्त नहीं होता। कभी उनके शरीर की खाल उतार ली जाती है, नाना प्रकार के परिषह और उपसर्ग उन्हें सहन करने पड़ते हैं, फिर भी वह सर्वार्थ-सिद्ध के देवों की अपेक्षा अधिक सुखी क्यों हैं? इस प्रश्न के समाधान के लिए निराले ही चक्षु से देखने की आवश्यकता है। चर्म-चक्षु यहां काम नहीं देती। एक उदाहरण द्वारा यह बात समझाने का प्रयत्न किया जाता है।

एक बुद्धिमान् धनिक को कोई रोग हो गया। उसका जी घबड़ाने लगा और सिर में पीड़ा होने लगी। उसके पास एक हीरा था। किसी जानकार पुरुष ने उससे कहा—मैं औषध देकर तुम्हारी बीमारी हटा दूंगा, तुम अपना हीरा मुझे दे देना; क्या वह आदमी अपना हीरा देगा?

'नहीं!'

क्यों? वह जानता है कि अवधि पूरी होने पर रोग तो आप ही चला जायगा, लेकिन गया हुआ हीरा फिर नहीं मिल सकता। यही नहीं, वरन् रूग्ण अवस्था में हीरा अधिक प्रिय लगेगा। ठीक ऐसी ही बात साधुओं के संबंध में समझिए। साधु को संयम रूपी हीरा प्राप्त हुआ है। उन्हें इस हीरे के आगे संसार के तुच्छ सुख, दुःख रूप प्रतीत होते हैं। वे समझते हैं कि यह ऊपरी दुःख, वास्तविक और स्थायी दुःख को नष्ट करने के लिए आये हैं। कांटे से कांटा निकलता है।

अगर मैं संयम के साथ इन दुःखों को सहन करूँगा तो सर्वार्थसिद्ध के देवता भी मेरी समानता नहीं कर सकेंगे। मैंने संसार में रहकर घोर दुःख पाया, फिरभी कोई फल नहीं निकला । लेकिन संयम का पालन करते हुए यह जो दुःख आया है, इसे अगर प्रसन्नता पूर्वक, संयम में स्थिर रहते हुए सहन कर लिया तो मेरा संयम रूपी हीरा सुरक्षित रह जायगा और उसके प्रभाव से अनन्त और अक्षय सुख की प्राप्ति होगी। यह दुःख, दुःख नहीं है, मेरा आन्तरिक विकार ही है, जो दुःख के रूप में बाहर फूट रहा है । इसका बाहर निकल जाना ही श्रेयस्कर है।

जुलाब लेने पर भी दस्त लगते हैं और संग्रहणी की बीमारी में भी दस्त लगते हैं । इन दोनों प्रकार के दस्तों में क्या विशेषता है? एक दस्त रोग से भरा हुआ है और दूसरा रोग को बाहर निकालता है। यही बात दुःख के सम्बन्ध में है। कोई कोई दुःख, दुःख को बढ़ाने वाला होता है, कोई दुःख आत्मा को चिर सुखी बनाता है।

गौतम स्वामी, भगवान् से पूछते हैं—भगवन्! सलेश्य-लेश्या वाले-जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, या अनारंभी हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—लेश्यावाले जीव के विषय में वही उत्तर समझ लो, जो जीव के विषय में दिया गया है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों को औधिक समझो । इतनी विशेषता अवश्य है कि इनमें प्रमत्त अप्रमत्त तथा संयत, असंयत का भेद नहीं है; क्यों कि जिनमें यह तीन लेश्याएँ होती हैं, वे संयत (साधु)

नहीं होते। शेष आगे की तीन लेश्या वालों में यह भेद होते हैं। जहाँ लेश्या पद आवे वहाँ सिद्धों को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि सिद्धों में लेश्या नहीं होती।

कृष्ण आदि द्रव्यों के निमित्त से जीव के जो परिणाम होते हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं। कहा भी है:—

> कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।
> स्फटिकस्येव तत्राऽयं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥

आचार्य-रचित इस श्लोक का अर्थ यह है कि-कृष्ण आदि द्रव्यों की सन्निकटता से आत्मा में जो परिणाम उद्भूत होते हैं, उसे लेश्या कहते हैं। जैसे स्फटिक के नीचे काले रंग की वस्तु रखने से स्फटिक काला दिखाई देता है, वैसे ही लेश्या से आत्मा हो जाता है।

लेश्यावाले जीवों का जहाँ निरूपण करना हो वहाँ संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक भेद नहीं करना चाहिए, क्योंकि लेश्या वाले संसारसमापन्नक ही होते हैं, असंसारसमापन्नक नहीं होते।

'हे भगवन्! क्या लेश्या वाले जीव आत्मारंभी है?' यह लेश्या का प्रश्न-क्रम है। इसी तरह के छह प्रश्न, छह लेश्याओं के संबंध में और समझ लेने चाहिए। अतः लेश्या संबंधी सात प्रश्न होते हैं। इनके उत्तर में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में जीव-सामान्य के समान समझना चाहिए, सिर्फ प्रमादी और अप्रमादी के भेद छोड़ देने चाहिए। संयत,

असंयत का भी भेद नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन लेश्याओं में संयम नहीं हो सकता।

शंका—भगवती सूत्र के २५ वें शतक में कषाय कुशील संयमी को छहों लेश्याएँ कही हैं, फिर यहां आप तीन अप्रशस्त लेश्याओं में संयम का निषेध कैसे करते हैं? सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापना चारित्र तथा मनःपर्यय ज्ञान में छहों लेश्याएँ बताई गई हैं, फिर यहां सिर्फ तीन लेश्या वालों में ही साधुपन होता है, ऐसा क्यों कहते हैं? अतएव यहां प्रमादी, अप्रमादी के भेद का जो निषेध किया है सो उचित नहीं जान पड़ता। हां यह कहा जा सकता है कि कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले प्रमादी ही हैं; अप्रमादी नहीं।

समाधान—यदि प्रमादी होने के कारण ही अप्रशस्त लेश्याओं का होना कहते हो तो पुलाक-नियंठा (निर्ग्रन्थ-साधु) मूल गुण और उत्तर गुण के प्रतिसेवी हैं और लब्धि फोड़ने पर उनमें तीन शुद्ध लेश्याएँ ही कही हैं। अगर इनमें अप्रशस्त लेश्याएँ भी होती, तो फिर तीन प्रशस्त लेश्याएँ ही क्यों कही हैं? इसी प्रकार बकुश नियंठा में भी तीन ही लेश्याएँ कही हैं।

कोई अपने में दोष लगाना नहीं चाहता, फिर भी दोष लग गया है। किन्तु दोष लगने मात्र से लेश्या बुरी नहीं हो सकती। एक आदमी संकट में पड़ कर, विवशता से बुरा काम करता है और दूसरा स्वेच्छा से—प्रसन्नता पूर्वक। इन दोनों में कुछ भेद है या नहीं? अवश्य है। पहला मनुष्य बुरा काम करता हुआ भी विचार से शुद्ध है। दूसरा काम से और

विचार से भी अशुद्ध है। अगर दोनों की लेश्याएँ समान मानी जाएँ तो दोनों समानरूप से पापी समझे जाएँगे।

आचार्य कहते हैं कि कुशील में जो छह लेश्याएँ कही हैं, उनमें तीन द्रव्य लेश्याएँ और तीन भाव लेश्याएँ हैं। तात्पर्य यह है कि पहले अशुद्ध लेश्या थी। भावना पलटी और साधुपना आ गया। इस लिए भाव लेश्या तो शीघ्र पलट गई, मगर द्रव्य लेश्या के पलटने में देरी लगती है। ऐसी स्थिति में द्रव्य लेश्या तो तीन पहले वाली बनी रही, मगर भाव लेश्याएँ तीन प्रशस्त हो गई। इन तीन अप्रशस्त लेश्याओं में प्रमादी, अप्रमादी का अभाव है। अतएव कुशील-नियंठा में जो छह लेश्याएँ कही हैं उनमें तीन द्रव्य लेश्याएँ समझनी चाहिए। इस विषय का विशेष विचार सद्धर्ममण्डन नामक ग्रंथ में किया गया है।

तेरहपंथी कहते हैं कि भगवान् में छह लेश्याएँ थीं और आठों कर्म मौजूद थे। अतएव गोशाला को मृत्यु से बचाने में अगर वह चूक गये तो आश्चर्य ही क्या है? जब उनसे कहा जाता है कि कषायकुशीलनियंठा में लेना क्यों कहा है? तब कहते हैं—कहा होगा किसी अपेक्षा से! जब उनसे पूछते हैं कि—पुलाक-नियंठा बकुशनियंठा तथा प्रतिसेवनानियंठा में तीन शुद्ध लेश्याएँ क्यों कहीं हैं? तो बस, चुप हो रहते हैं।

भगवान् में शुद्ध लेश्या कही गई है। मगर तेरहपंथी गोशालक को बचाने के कारण भगवान् को पाप लगना कहना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भगवान् को लेश्याएँ भी छह कह दी हैं।

तात्पर्य यह है कि अशुद्ध लेश्याओं में साधुता नहीं रहती। बल्कि गोम्मटसार ग्रन्थ में तथा अन्य ग्रंथों में तो अशुद्ध लेश्यामें अपकथन भी नहीं माना है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि श्रावक संसार संबंधी कार्य करता है, फिर उसमें शुद्ध लेश्या कैसे रह सकती है ? इसका उत्तर यह है कि साधु लब्धि फोड़कर दूसरे को सज़ा देने पर भी जैसे विराधक नहीं है, इसी प्रकार श्रावक संसार संबंधी कार्य करता हुआ भी, भावना की अशुद्धता न होने के कारण अप्रशस्त लेश्या वाला नहीं है। व्रत का पालन, शुद्ध लेश्या के अन्तर्गत है। यह कहा जा सकता है कि श्रावक आरंभ करता है, मगर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जहां वह हल्का आरंभ करता है वहां व्रतों का पालन भी करता है। श्रावक के परिणाम सदा अच्छे रहते हैं, इसलिए उसकी लेश्या भी शुद्ध ही है।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या का एक दंडक कर लीजिए। यह तीन औधिक हैं। इनमें प्रमादी, अप्रमादी का भेद नहीं है, क्योंकि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में साधुता नहीं है जहां साधु में छह लेश्याएँ कही गई हों वहां तीन द्रव्य लेश्याएँ समझनी चाहिए, भाव लेश्याएं नहीं। यह बात टीकाओं और टब्बों में स्पष्ट करदी गई है। अतएव अशुद्ध लेश्याओं में प्रमादी और अप्रमादी का भेद नहीं रहता।

प्रश्न-सूत्र का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिए ? यह विधि बतलाते हैं। वह इस प्रकार है—भगवन कृष्णलेश्या वाले जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, या अनारंभी हैं ? इसका उत्तर है—गौतम ! आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, अनारंभी नहीं हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि कृष्णलेश्या वाला जीव जब अनारंभी होता ही नहीं है, तब उसमें प्रमादी और अप्रमादी का भेद कहाँ से आएगा ?

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! आपने जो निरूपण किया है सो किस हेतु से? इसका उत्तर भगवान् देते हैं-अव्रत की अपेक्षा से कृष्णलेश्या वाले जीव आत्मारंभी होते हैं, परारंभी होते हैं, उभयारंभी होते हैं, किन्तु अनारंभी नहीं होते।

शास्त्रकारों ने विरताविरत (एकदेशविरत—श्रावक) में तीन अशुद्ध लेश्याएँ भी मानी हैं, लेकिन कई ग्रंथ इससे सहमत नहीं हैं। गोम्मटसार में, श्रावक में तीन शुद्ध लेश्याएँ ही बताई हैं। इसके अनुसार खोटी लेश्या वाला श्रावक भी नहीं हो सकता।

जैसा प्रश्न और उत्तर कृष्णलेश्या के विषय में ऊपर लिखा गया है, वैसा ही नील और कापोत लेश्या में भी समझना चाहिए।

तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के प्रश्नोत्तर वैसे ही समझना चाहिए, जैसे समुच्चय जीव के विषय में हैं। इन लेश्याओं में संयत, असंयत, प्रमादी और अप्रमादी का भेद भी है।

प्रमादी में भी तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या होती है। उसमें शुभयोग और अशुभयोग भी होता है। अगर वह उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो अनारंभी है अगर ऐसा नहीं करता तो अनारंभी नहीं है।

तेजोलेश्या आदि में समुच्चय जीव की अपेक्षा इतनी विशेषता है कि इनमे असंसारसमापन्नक (सिद्ध) नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्ध अलेश्य हैं।

संसार-परिभ्रमण का हेतु आरंभ माना गया है। जितने आरंभ है, सब दोषयुक्त हैं। मुक्ति पूर्ण निर्दोष को प्राप्त होती है, दोषी को नहीं। गीता में भी कहा है कि:—

'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता'

जितने भी आरंभ हैं, सब दोष से व्याप्त है। जैसे अग्नि के विना धूम नहीं होता, उसी प्रकार दोष के विना आरंभ नहीं होते।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्रश्न होता है कि जीव का घात न करना ही आरंभ का त्याग है, या इसके लिए और भी किसी क्रिया का सेवन करना आवश्यक है? इसका उत्तर यह है कि अगर जीव-घात न करना ही आरंभ का त्याग कहलाता तो पृथ्वीकाय के जीव भी अनारंभी कहलाते। पृथ्वीकाय के जीव स्थिर पड़े हैं। वे प्रायः किसी जीव का घात नहीं कर पाते। लेकिन इतने मात्र से पृथ्वीकाय के जीव अनारंभी नहीं हो सकते। अनारंभी होने के लिए एक और विशेषता होनी चाहिए। वह है ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विद्यमानता। जिसमें इस रत्नत्रय का सद्भाव है, वही निरारंभी हो सकता है। अतएव अब ज्ञान का प्रकरण आरंभ होता है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्बन्धी

प्रश्नोत्तर

—••✲••—

मूलपाठ—

प्रश्न-इहभविए भंते ! णाणे, परभविए नाणे, तदुभयभविए नाणे ?

उत्तर-गोयमा ! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे। दंसणं पि एवमेव।

प्रश्न-इहभविए भंते ! चरित्ते, परभविए चरित्ते, तदुभयभविए चरित्ते ?

उत्तर-गोयमा ! इहभविए चरित्ते, नो

परभविए चरित्ते, नो तदुभयभविए चरित्ते। एवं तवे, संजमे।

संस्कृत-छाया—प्रश्न-ऐहभविक भगवन्! ज्ञान, पारभविक ज्ञान, तदुभयभविक ज्ञानम्?

उत्तर-गौतम! ऐहभविकमपि ज्ञान, पारभविकमपि ज्ञान, तदुभयभविकमपि ज्ञानम्। दर्शनमपि एवमेव।

प्रश्न-ऐहभविक भगवन्! चारित्र, पारभविक चारित्र, तदुभयभविकं चारित्रम्?

उत्तर-गौतम! ऐहभाविक चारित्र, नो पारभविकं चारित्रं, नो तदुभयभविक चारित्रम्। एव तपः, संयमः।

मूलार्थ—प्रश्न-भगवन्! क्या ज्ञान ऐहभविक है? पारभविक है या उभयभविक है?

उत्तर-गौतम! ज्ञान ऐहभविक भी है; पारभविक भी है और उभयभविक भी है। इसी प्रकार दर्शन भी।

प्रश्न-भगवन्! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक है या उभयभविक है?

उत्तर गौतम! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक नहीं है

तथा उभयभविक भी नहीं है। इसी प्रकार तप और संयम भी समझना चाहिए।

व्याख्यान—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्‌चारित्र, यह तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। इनके विषय में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—

हे भगवन्! मोक्ष के अंग ज्ञान आदि को आत्मा जब एक बार प्राप्त कर लेता है, तब यह भवान्तर मे साथ रहते हैं, या इसी भव में रह जाते हैं? अर्थात् यह अगले भव में साथ जाते हैं या नहीं?

जीव वर्त्तमान काल में जो भव भोग रहा है वह इह भव कहलाता है। इह भव का ज्ञान आगामी भव में जायगा या नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि ज्ञान तीनों तरह का है। कोई ज्ञान ऐहभविक है अर्थात् वर्त्तमान भव में ही रहता है, परभव में साथ नहीं जाता। कोई ज्ञान पारभविक है अर्थात् आगामी जन्म में भी आत्मा के साथ जाता है। और कोई ज्ञान उभय भविक है अर्थात् इस भव और परभव में साथ रहता है।

उभयभविक ज्ञान, एक प्रकार से पारभविक ज्ञान ही है, मगर यहाँ उसे अलग ग्रहण किया है। अतएव उभयभविक ज्ञान का अर्थ पर तर भविक ज्ञान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कोई-कोई ज्ञान अगले जन्म से भी अगले जन्म में साथ रहता है। उसे यहाँ उभयभविक ज्ञान कहा है।

इस वर्णन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैः—

(१) इस भव में ज्ञान नहीं है, इस कारण परभव में भी ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह बात नहीं है।

(२) परलोक में ज्ञान जाता है। ज्ञान-उपार्जन करने के लिए जो प्रयास किया गया है, उसका फल इसी जन्म मे समाप्त नहीं हो जाता। एक जन्म का प्रयास अनेक जन्मों तक फलदायक होता है।

(३) जिसने इस जन्म में ज्ञान का अध्ययन नहीं किया, उसे परभव में भी पश्चाताप करना पड़ता है। ठाणांग सूत्र में कहा है-जो साधु, शिक्षक का योग मिलने पर भी और भिक्षा आदि की अनुविधा न होने पर भी ज्ञान की आराधना नहीं करता, वह देवभव में जाकर पश्चाताप करता है।

जो वस्तु परलोक में साथ जाने वाली नहीं है, उसके लिए लोग प्रयत्न करते हैं, यहां तक कि ऐसी वस्तुओं के लिए ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते हैं, मगर जो साथ जाने वाली है उसी के लिए प्रयत्न कम करते हैं, अथवा करते ही नहीं है। जो वस्तु इस भव में भी शायद ही पूरा साथ देती है, जो पल भर में नष्ट-भ्रष्ट या पराई बन जाती है, जो थोड़ी ही देर तक रुचिकर प्रतीत होती है और थोड़ी देर में अरुचिकर बन जाती है, इसी तुच्छ चीज के लिए जीवन निछावर कर देना और परभव में भी आनन्द देने वाली वस्तु की ओर उपेक्षा रखना, कितने अविवेक की बात है!

प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा ज्ञान प्राप्त किया जाय तो कुछ

ही दिनों में बहुत-सा ज्ञान हो सकता है, लेकिन इस ओर कौन ध्यान देता है !

इस प्रश्नोत्तर में उनका भी समाधान हो गया है, जो आत्मा को ज्ञानशून्य मानते हैं, अर्थात् जिनके मत के अनुसार मोक्ष में ज्ञान का अभाव हो जाता है।

बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं। उनके मत के अनुसार परलोक में अनुयायी आत्मा नहीं है। इस प्रश्नोत्तर से उनके मत का भी खंडन हो जाता है। अगर आत्मा पर-लोक में न जाता तो आत्मा का ज्ञान-गुण भी कैसे जा सकता है ?

इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम ! ज्ञान इस भव में भी साथ रहता है, परभव में भी साथ रहता है और परतरभव में भी साथ रहता है।

दर्शन का अर्थ यहाँ सम्यक्त्व है; क्योंकि मोक्ष-मार्ग का प्रकरण है। मोक्षमार्ग के प्रकरण में दर्शन का अर्थ सम्यक्त्व ही लिया जाता है। दर्शन के विषय में भी वही उत्तर समझना चाहिए, जो ज्ञान के सम्बन्ध में दिया गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र में पहले सम्यग्-दर्शन और उसके अनन्तर ज्ञान का उल्लेख किया है; मगर यहाँ पहले ज्ञान का और फिर दर्शन का उल्लेख किया है। इन दो क्रमों में से कौन-सा क्रम ठीक माना जाय ? इसका समाधान यह है कि वास्तविक रीति से पहले सम्यग्दर्शन

ही आता है, मगर उपकार की दृष्टि से पहले सम्यग्ज्ञान का ही उल्लेख किया जायगा। मेघ हटने पर सूर्य जब उदित होता है तो उसका प्रताप और प्रकाश एक साथ ही प्रकट होता है, उसी प्रकार जब मिथ्यात्वमोहनीय रूपी मेघ पटल का विनाश होता है तब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही साथ आत्मा में प्रकट होते हैं। इनमें क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं। जहाँ ज्ञान है, वहाँ दर्शन है, जहाँ दर्शन है वहाँ ज्ञान भी है। ऐसा होने पर भी ज्ञान को सम्यक् बनाने वाला दर्शन है। अतएव कहीं-कहीं दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है। मगर ज्ञान के बिना श्रद्धा (सम्यक्त्व) नहीं जानी जा सकती, इसलिए ज्ञान की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए यहाँ उसे प्रथम स्थान दिया गया है।

अब चारित्र का प्रश्न उपस्थित होता है। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक है या उभयभविक है? भगवान् इसका उत्तर देते हैं—गौतम! चारित्र इसी भव में रहता है, परभव में साथ नहीं जाता।

चारित्र की ही तरह तप और संयम का भी प्रश्नोत्तर है। अर्थात् जैसे चारित्र परभव में साथ नहीं जाता, उसी प्रकार तप और संयम भी नहीं जाता।

चारित्रवान् पुरुष, इस भव में जिस चारित्र से चारित्री हुआ था, परभव में भी उसी चारित्र से चारित्री हो या वही चारित्र परलोक में भी साथ जाय, यह बात नहीं है। इसी कारण चारित्र धारण करते समय यावज्जीवन की प्रतिज्ञा की जाती है, जन्मान्तर की नहीं। चारित्र की अवधि मृत्यु हो जाने पर पूर्ण हो जाती है।

प्रश्न होता है कि अगर इस भव का चारित्र परभव में साथ नहीं जाता तो न सही, परभव में नया चारित्र उत्पन्न होता है या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि मुनि सर्वचारित्री हैं और श्रावक देशचारित्री हैं। इस जन्म के पश्चात् यह दोनों ही देवगति में जाते हैं और देवगति में चारित्र का अभाव है। अतः परभव में चारित्र उत्पन्न नहीं होता।

जो साधु मोक्ष जाते हैं, उनमें भी चारित्र की उत्पत्ति असंभव है, क्योंकि कर्मों का क्षय करने के लिए ही चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है और कर्मों का क्षय हो जाने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए मोक्ष में चारित्र की कोई उपयोगिता ही नहीं है। चारित्र धारण करते समय जीवन-पर्यन्त की प्रतिज्ञा ली थी, वह पूर्ण हो गई और मोक्ष में नया चारित्र उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार मोक्ष मे भी चारित्र नहीं है। यहाँ स्वरूप-रमण रूप चारित्र का ग्रहण नहीं किया है, मगर अनुष्ठान रूप-क्रियास्वरूप-चारित्र लिया गया है।

शंका—चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला चारित्र मोक्ष में क्यों नहीं है ?

समाधान-इस शंका का समाधान पहले ही हो गया है। अनुष्ठानरूप चारित्र की मर्यादा पूर्ण हो गई, अतएव वह मोक्ष में नहीं रहा। हाँ, आत्मा का सत् चित्-आनन्द रूप सहज चारित्र मोक्ष में भी विद्यमान रहता है।

इसके अतिरिक्त, क्रिया शरीर से होती है और सिद्ध शरीर-रहित होते हैं। अतएव सिद्ध भगवान् न चारित्री हैं, न अचारित्री ही कहे जा सकते हैं। अव्रत का अभाव होने से उन्हें अचारित्री नहीं कहा जा सकता।

अब प्रश्न यह है कि तप इस भव में है, परभव में है, या दोनों भवों में है? इस प्रश्न का उत्तर चारित्र के समान ही है।

तेरहपंथियों की यह मान्यता है कि अहिंसा, संयम और तप, इस क्रम में से संयम तो ऊपर के गुणस्थानवालों में ही होता है, लेकिन तप मिथ्यात्वी को भी होता है। मगर यह मान्यता भ्रमपूर्ण है, क्योंकि तप, चारित्र से अलग नहीं है। चारित्र में ही तप का अन्तर्भाव होता है।

अनन्तानुबंधी चोकड़ी (क्रोध, मान, माया, लोभ) का क्षयोपशम या क्षय होने पर सम्यग्दृष्टि होती है और अप्रत्याख्यान—चौकड़ी का क्षयोपशम या क्षय होने पर—देश चारित्र होता है। उदाहरणार्थ-जिसकी अप्रत्याख्यानी चौकड़ी का क्षय या क्षयोपशम नहीं हुआ है, उसने अगर तेला किया, तो वह तेला चारित्र के अंश रूप तप में अन्तर्गत नहीं होगा, अपितु अभिग्रह रूप होगा। इस प्रकार तप और संयम चारित्र के ही अंग होने से उनके संबंध में प्रश्न और उत्तर भी उसी प्रकार के होंगे, जो चारित्र के विषय में है।

किसी किसी का कथन है कि दर्शन से भ्रष्ट होने वाला सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु चारित्रभ्रष्ट सिद्ध हो सकता है। अतएव चारित्र की अपेक्षा दर्शन अधिक वांछनीय है और दर्शन की अपेक्षा चारित्र सामान्य वस्तु है। यह कथन शास्त्रकार को स्वीकार नहीं है। अतएव जिनका ऐसा कथन है, उन्हें 'गौतम' स्वामी और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर में मिल ही जाता है।

असंवृत्त अनगार सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

मूलपाठ—

प्रश्न—असंवुडे णं भंते! अणगारे किं सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाइ, सव्व-दुक्खाणं अंतं करेइ?

उत्तर—गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे?

प्रश्न—से केणट्ठेणं, जाव-नो अंतं करेइ?

उत्तर—गोयमा! असंवुडे अणगारे आउ-वज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणव-द्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ; हस्सकाल-ठिइयाओ दीहकालठिइयाओ पकरेइ, मंदा-णुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपए-

सग्गाओ बहुप्पएसग्गाओ पकरेइ; आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। अस्साया-वेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारकंतारं अणुपरियट्टइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! असंवुडे अणगारे णो सिज्झइ, जाव-णो अंतं करेइ।

संस्कृत-छाया—प्रश्न-असंवृतो भगवन्! अनगारः किं सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति?

उत्तर—गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न—तत् केनार्थेन, यावत्—नो अन्तं करोति?

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन् ! क्या असंवृत अनगार सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है, सब दुःखों का अन्त करता है ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ-ठीक--नहीं है ।

प्रश्न—भगवन् ! सो किस कारण से यावत् दुःखों का अंत नहीं करता ?

उत्तर—गौतम ! असंवृत अनगार आयु को छोड़ कर शिथिल बंध से बाँधी हुई सात कर्म--प्रकृत्तियों को घन रूप से बांधना आरंभ करता है, अल्पकालीन स्थिति वाली प्रकृत्तियों को दीर्घ कालीन स्थिति वाली करता है, मंद अनुभाग वाली प्रकृत्तियों को तीव्र अनुभाग वाली करता है और थोड़े प्रदेश वाली प्रकृत्तियों को बहुत प्रदेश वाली बनाता है। और आयु कर्म को कभी बांधता है। कभी नहीं भी बांधता। असाता वेदनीय कर्म को वारंवार उपार्जन करता है। तथा अनादि अनंत, दीर्घ मार्ग वाले, चतुर्गति रूप संसार रूपी अरण्य में बार बार पर्यटन करता है। इस कारण हे गौतम ! असंवृत अनगार सिद्ध नहीं होता, यावत्-सर्व दुःखों का अंत नहीं करता।

व्याख्यान—श्रीगौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—हे भगवन् ! असंवृत अनगार क्या सिद्ध गति को प्राप्त करता

है ? वह क्या बुद्ध होता है ? मुक्त होता है ? निर्वाण पाता है ? समस्त दुःखों का अंत करता है ?

इस प्रश्न का उत्तर समझने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि असंवृत अनगार किसे कहते हैं ? जिसने आस्रवद्वार को नहीं रोका है, अर्थात् जो कर्म का आस्रव करने वाली क्रियाएँ करता है, जिसकी प्रवृत्ति हिंसा और मृषावाद आदि में है, जो अदत्त को ग्रहण करता है, जो ब्रह्मचर्य का भी भली भाँति पालन नहीं करता, जो अपरिग्रही भी नहीं है, फिर भी जो अनगार कहलाता है, उसे असंवृत अनगार समझना चाहिए।

प्रश्न होता है—जिसमें साधु के अहिंसा आदि लक्षण ही नहीं पाये जाते, उसे अनगार या साधु क्यों कहा जाय ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वह वास्तव में साधु नहीं है, फिर भी अपने आपको साधु के रूप में प्रसिद्ध करता है, बाह्य चिह्न भी वह साधु के ही रखता है, इस कारण लोक में वह साधु कहलाता है। मगर क्योंकि वह साधु के सम्पूर्ण आचार का पालन नहीं करता, इसलिए केवल नाम और भेष के उस साधु को यहां असंवृत (असंवुड) अनगार कहा है। ऐसा साधु क्या मुक्ति प्राप्त करता है ? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है।

चरम भव—अंतिम जन्म—की प्राप्ति होने पर सिद्धि प्राप्त होती है। अतएव 'सिद्ध होता है' इस क्रिया-पद का अर्थ यहाँ यह समझना चाहिए—'चरम भव प्राप्त करके मोक्ष के योग्य होता है ?'

चरम भव प्राप्त करने पर भी [illegible] सब नहीं होते।

जिन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हें बुद्ध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि चरम शरीरी मनुष्य को भावी नय की अपेक्षा से सिद्ध कह सकते हैं, लेकिन बुद्ध तभी कहेंगे जब केवल ज्ञान प्राप्त हो जाय। अतएव यहाँ बुद्ध होने का अर्थ-केवलज्ञानी होता है।

मूल पाठ में तीसरा पद 'मुच्चइ है, जिस जीव को केवलज्ञान प्राप्त हो चुका है-जो बुद्ध हो गया है-उसके सिर्फ भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं। जब वह भवोपग्राही कर्म को प्रतिक्षण छोड़ता है, तब 'मुक्त' कहलाता है।

चौथा पद 'परिनिव्वाइ' है। 'भवोपग्राही' कर्म को प्रतिक्षण छोड़ने वाला वह महापुरुष कर्मपुद्गलों को ज्यों ज्यों क्षीण करता जाता है, त्यों त्यों शीतल होता जाता है। इस प्रकार की शीतलता प्राप्त करना ही निर्वाण प्राप्त करना कहलाता है।

निर्वाण के विषय में बौद्धों की मान्यता कुछ विलक्षण ही है। एक बार बुद्ध से पूछा गया—'मुक्त जीव कहाँ जाता है?' इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने प्रश्न किया—'दीपक बुझ कर कहाँ जाता है?' जब उनसे यह कहा गया कि दीपक बुझने पर कुछ शेष नहीं रहता-दीपक शून्य रूप में परिणत हो जाता है, तब बुद्ध ने कहा—इसी प्रकार मुक्त होने पर जीव शून्य हो जाता है, कुछ भी नहीं रह जाता। मगर वास्तविक बात यह नहीं है। किसी भी सत् वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता। जो है, वह सदा रहेगी ही। उसकी अवस्थाओं में परिवर्त्तन तो होगा, मगर उसका सर्वथा नाश होना संभव नहीं है। दीपक का भी सर्वथा नाश नहीं हो

जाता है। दीपक तेज के परमाणुओं का समुदाय है। जब वह बुझता है तो तेज के परमाणु, अन्धकार के परमाणुओं के रूप में परिणत हो जाते हैं-सर्वथा नष्ट नहीं हो सकते। तेज और अन्धकार, दोनों ही पौद्गलिक हैं और उनमें यह अवस्था-भेद होता रहता है। अतएव दीपक, द्रव्य रूप से कायम रहता है।

इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार न्यायशास्त्र में किया गया है। वह जरा गहन विचार है, अतएव यहाँ उसे छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे दीपक बुझ जाने पर भी सर्वथा नष्ट नहीं होता-तामस परमाणुओं के रूप में पलट जाता है और द्रव्य रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार मुक्त जीव भी, द्रव्य दृष्टि से विद्यमान रहता है। उसकी पहले की अवस्था बदलती है, नवीन अवस्था उत्पन्न होती है, मगर द्रव्य से आत्मा नष्ट नहीं होता।

जिस जीव ने चरम भव प्राप्त किया, केवलज्ञान भी पा लिया, जो भवोपग्राही कर्मों को क्षीण कर रहा है, वही जीव अपने चरम भव के अन्त में, जब सब कर्म अंशों को क्षय कर चुकता है, तब उसके समस्त दुःखों का अन्त होता है। दुःखों का सर्वथा अन्त होने पर शुद्ध सुख ही सुख शेष रह जाता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तव में कर्म ही दुःख हैं। वह कर्म भले ही उच्च गति के कारण हों, लेकिन हैं दुःख रूप ही। सब कर्मों से मुक्त होना ही सब दुःखों का अन्त करना कहा जाता है। कर्म की उपाधि से मिलने वाला सुख वास्तविक रूप में दुःख ही है। कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले दुःख को तो सभी दुःख मानते हैं, मगर ज्ञानी

जन् कर्म से प्राप्त होने वाले सुख को भी दुःख रूप ही मानते हैं। अगर ऐसा न माना जाय तो आत्मा का विकास नहीं हो सकता और सहज-सिद्ध शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

गौतम स्वामी का प्रश्न है कि असंवृत अनगार क्या इस गति को प्राप्त करता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम! ऐसी बात नहीं है, अर्थात् असंवृत अनगार मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

भगवान् का संक्षिप्त उत्तर सुनकर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं:—प्रभो! असंवृत अनगार मुक्ति क्यों प्राप्त नहीं कर सकते? वह भी तो अनगार हुए हैं! भगवान् फर्माते हैं-गौतम बाह्य अनगारपन ही मोक्ष का कारण नहीं है। आस्रव का त्याग ही वास्तविक अनगारपन है और वही मोक्ष का हेतु है। केवल घर-द्वार का त्याग कर देने से ही कोई सच्चा अनगार नहीं हो जाता और न मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

हे गौतम! अनगार हो करके भी जो आस्रव को नहीं रोकता है, उसकी क्या स्थिति होती है, यह ध्यान पूर्वक सुन। वह असंवृत अनगार आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों को पुष्ट करता है।

भगवान् ने यह उत्तर क्यों दिया है, इस सम्बन्ध में टीकाकार कहते हैं-इस संबंध में आगे विचार किया जाएगा। असंवृत अनगार की मोक्ष-प्राप्ति अनेक दोष रूपी मुद्गरों से चूर्ण हो जाती है। अर्थात् असंवृत को मोक्ष मानने से अनेक प्रबल दोष आते हैं। उन पर आगे प्रकाश डाला गया है।

जो लोग चारित्र-भ्रष्ट को भी मोक्ष मानते हैं, उनकी मान्यता को दूषित करने के लिए यह कथन किया गया है।

यहाँ आयुकर्म को पृथक् कर दिया है, क्योंकि वह बार-बार नहीं बँधता, बल्कि एक भव में एक बार ही बँधता है और वह भी एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही बँध जाता है। शेष सात कर्मों को, अगर वे शिथिल बँधे हों तो मजबूत रूप से बांध लेता है। मोक्ष, कर्मों का, सर्वथा नाश होने पर होता है और असंवृत अनगार कर्मों को और अधिक सुदृढ़ बनाता है। ऐसी स्थिति में उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है?

असंवृत अनगार ढीले कर्मों को मज़बूत करता है, रूखे कर्मों को चिकने करता है, अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों का प्रगाढ़ संबंध कर लेता है।

यहाँ शुभ कर्म का ग्रहण न करके अशुभ कर्म का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यहाँ असंवृत अनगार की निन्दा का प्रकरण है। तात्पर्य यह है कि असंवृत अनगार अशुभ कर्मों को ही मजबूत करता है, शुभ कर्मों को नहीं। असंवृत अनगार पहले के अशुभ कर्म के बंध को निधत्त कर लेता है और निधत्त को निकाचित के रूप में परिणत करता है।

'पकरेइ' पद में जो 'प्र' उपसर्ग है, वह प्रारंभ का सूचक है। असंवृत अनगार कर्मों को प्रगाढ़ बंधन में बांधना आरंभ करता है। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए।

जोगा पयडिपएसं ।

अर्थात्—योग से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है।

असंवृत अनगार थोड़ी स्थिति वाली कर्म-प्रकृतियों को दीर्घकाल की स्थिति वाली बना लेता है, क्योंकि असंवृतपन कषायरूप भी है और कषाय स्थितिबंध का कारण है। इस संबंध में कहा है—

ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ ।

अर्थात्—स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं।

अनुभाग का अर्थ है—रस। असंवृत अनगार मंद रस वाली कर्म-प्रकृतियों को तीव्र रस वाली बनाना आरंभ करता है। अर्थात् पतले रस वाले कर्मों को गाढे रस वाले बनाता है। जैसे नीम के पत्ते का रस पतला होता है। उसे औटाया तो वह गाढ़ा हो गया। वह जितना गाढ़ा होगा, उतना ही अधिक कटुक होगा। इसी प्रकार असंवृत अनगार पतले रस वाले कर्मों को गाढ़े रस वाले करता है, जिससे कि उन कर्मों में तीव्र फल देने की शक्ति आ जाती है। रसबंध भी कषाय से होता है और असंवृत अनगार में कषाय की तीव्रता होती है।

कर्म-बंध के चार प्रकार हैं-प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। इनमें प्रकृति और प्रदेश बंध योग से होते हैं और स्थिति तथा अनुभागबंध कषाय से होते हैं। असंवृत अनगार का योग अशुभ होता है और कषाय तीव्र होते हैं। इसलिए वह चारों ही बंधों में वृद्धि करता है।

योग और कषाय की प्रकृति प्रायः साथ ही होती है। दोनों के लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाय तो 'लेश्या' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैसी लेश्या होगी, वैसा ही कर्म बंधेगा।

असंवृत अनगार थोड़े प्रदेश वाले कर्म-दलिकों को बहुप्रदेशी अधिक बना लेता है। प्रदेश बंध योग से होता है और असंवृत अनगार में अशुभ योग विद्यमान रहता है।

असंवृत अनगार असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय करता है। यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि असातावेदनीय कर्म, सात कर्मों के अन्तर्गत वेदनीय कर्म में आ गया है। फिर उसे अलग क्यों कहा गया?

इसका उत्तर यह है कि असंवृत अनगार अत्यन्त दुखी होता है, यह प्रकट करने के लिए असातावेदनीय कर्म का पृथक् उल्लेख किया है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि असाता से बचने के लिए असंवृतपन का त्याग करना चाहिए।

कर लेती है और वह उसके अधीन होकर दुःखी बन जाता है। जूआ, वेश्या सेवन आदि दुर्व्यसनों में भी सुख की लालसा से ही प्रवृत्ति की जाती है, लेकिन जुआरियों और वेश्यागामियों का जीवन स्पष्ट बतलाता है कि वे किस बुरी तरह आपदाओं में पड़कर घोर दुःख के भागी होते हैं। उनकी विवेक हीन प्रवृत्ति सुख के बदले दुःख के पहाड़ उसके सिर पर पटक देती है। अतएव सुख की भ्रमणा में पड़कर दुःख के कारण भूत असंवृतपन को अंगीकार करना घोर अज्ञान है। उससे यत्न पूर्वक साधुओं को सदा बचते रहना चाहिए।

यह वर्णन करके भगवान् ने आस्रव-द्वार की प्रवृत्ति से डराया है। क्या भगवान् डराते हैं? वे अभयंकर होते हैं। वे भय को भंजन करते हैं। मगर मुनि के निमित्त से कोई भयभीत हो जाय तो मुनि को प्रायश्चित्त लगता है। फिर भगवान् ने क्यों डराया है? यह प्रश्न किसी को उठ सकता है। मगर देखना यह चाहिए कि भगवान् का वास्तविक उद्देश्य क्या है? भगवान् ने किन बातों से डराया है? धर्म से डराने और पाप से डराने में बहुत अन्तर है। भगवान् ने यह सूत्र पाप से डराने के लिए कहे हैं, जिससे सामान्य लोग पाप से दूर रहें और अकल्याण से बच जाएँ। वस्तु के स्वरूप का यथातथ्य वर्णन कर देना दोष नहीं है और करुणा भाव से ऐसा करना महान् गुण है! यह वर्णन असंवर से डराने वाला होते हुए भी सच्ची निर्भयता का कारण है, संसार के भयों से छुड़ाने वाला है, दुःखों से बचाने वाला है और परम कल्याण का कारण है। इस वर्णन का असली उद्देश्य असाधुता से बचाना है। अतएव यह दोषपूर्ण नहीं है, वरन्

चतुर और करुणावान् वैद्य द्वारा प्रयुक्त चिकित्सा के समान मंगल-साधन करने वाला है ।

भगवान् कहते हैं—गौतम ! असंवृत अनगार अपार संसार रूपी अरण्य में भ्रमण करेगा । गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा था कि असंवृत अनगार क्या मोक्ष जाएगा ? उसका उत्तर भगवान् ने दिया—नहीं, वह अपार संसार में भ्रमण करेगा ।

क्या गौतम स्वामी को यह मालूम नहीं था कि असाधु मोक्ष नहीं जाते ? अगर मालूम था तो भगवान् से उन्होंने किस लिए पूछा ? कुछ लोगों का कथन था कि चारित्र-भ्रष्ट भी मोक्ष जा सकता है । जो लोग चारित्र-भ्रष्ट को भी मोक्ष मानते थे, उन्हें चारित्र का महत्त्व बताने के लिए यह बात स्वयं न कह कर भगवान् के मुख से कहलाई है । अगर गौतम स्वामी स्वयं ही कह देते तो भी हमारे लिए यह बात मान्य ही होती, तथापि उसे विशेष प्रभाव शाली बनाने के लिए उन्होंने संपूर्ण-ज्ञानी भगवान् से कहलाना ही उचित समझा ।

असंवृत अनगार जिस संसार में भ्रमण करता है, उसके लिए भगवान् ने अनादिक, अनवदग्र और दीर्घमद्ध आदि विशेषण लगाये हैं । इन विशेषणों का अर्थ क्या है, यह आगे बतलाया जाता है ।

अर्थात् ऋण से होने वाले दुःख की अपेक्षा भी अधिक दुःख-दायी। जिसके सिर पर ऋण होता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। कहावत है—'ऋणकर्त्ता पिता शत्रुः' अर्थात् ऋण (कर्ज) करने वाला पिता अपने पुत्र का शत्रु है। जिस पर ऋण होता है, उसे घोर दुःख होता है। उसकी स्थिति सदैव बिगड़ी रहती है। वह घड़ी भर चैन नहीं लेने पाता। सदा संताप एवं अशान्ति के कारण ऋणी को बड़ी व्यग्रता रहती है। अतएव यहाँ संसार का 'अणाइयं' विशेषण ऋणातीतम् है, जिसका अर्थ है-ऋण के दुःख से भी अधिक दुःख वाला। ऐसे संसार में असंवृत अनगार को भ्रमण करना है।

अणाइयं का चौथा अर्थ है—अणातीतम्। 'अण' का अर्थ 'पाप' है और अणातीत का अर्थ है—अतिशय पाप। सारांश यह है कि संसार में पाप तो अनेक हैं, मगर साधु होकर आस्रव का सेवन करना सब पापों से बढ़ कर पाप है, इसलिए असंवृत अनगार अतिशय पापरूप संसार में भ्रमण करता है।

संसार का दूसरा विशेषण है-अणवयग्गं। यहाँ 'अव-यग्ग' शब्द देशी प्राकृत भाषा का है, जिसका अर्थ होता है-अन्त। इसमें निषेध वाचक 'अण लगा देने से 'अणवयग्ग' शब्द बना है। 'अणवयग्ग' का अर्थ अनन्त है।

अथवा 'अवयग्ग शब्द का अर्थ है—जिसका अन्त समीप हो। उसमें निषेधवाची 'अण्' लगा देने से यह अर्थ होता है—जिसका अन्त समीप न हो।

अथवा—'अणवयग्गं' का अर्थ 'अनवताग्रम्' है। जिसका परिमाण ज्ञात न हो, जिसके अन्त का पता न चले, वह 'अनवताग्र' कहलाता है।

तीसरा विशेषण—' दीहमद्धं ' है। अध्व का अर्थ मार्ग है, और दीह का अर्थ दीर्घ (लम्बा) है। जिसका मार्ग लम्बा हो, वह 'दीहमद्ध' कहलाता है। अथवा दीर्घकाल वाले को ' दीहमद्ध ' कहते हैं।

चौथा विशेषण ' चाउरंत ' है। चाउरंत का अर्थ है—चार विभाग वाला। देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति, इस प्रकार चार विभाग जिसमें हैं वह (संसार) चाउरंत (चातुरन्तक) कहलाता है।

इस प्रकार के विशेषणों वाले संसार—कान्तार में अर्थात् भव-वन में असंवृत अनगार बार बार परिभ्रमण करता है।

इस सब का आशय यह है कि असंवृत अनगार ऐसे संसार रूपी वन में भ्रमण करता है, जिसमें दुःख ही दुःख है जिसके अन्त का कोई प्रमाण नहीं है, जिसकी समाप्ति का पता नहीं है, जिसका मार्ग लम्बा है और जिसके चार गति रूप चार विभाग हैं।
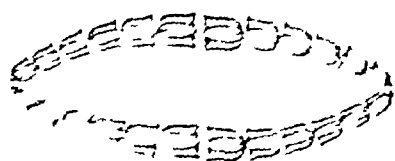
संवृत अनगार सम्बन्धी प्रश्न

मूलपाठ—

प्रश्न—संवुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झइ, जाव-सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ?

उत्तर—हंता, सिज्झइ, जाव- अंतं करेइ ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! संवुडे अणगारे आ-उयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियवंधण-बद्धाओ सिढिलवंधणबद्धाओ पकरेइ, दीह-कालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, वहुप्प-

एसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं ण बंधइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ। अणादीयं च णं अणवदग्गं, दीहमद्धं, चाउरंतसंसारकंतारं वीईवयइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—'संवुडे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ'।

संस्कृत-छाया—प्रश्न-संवृतो भगवन्! अनगार सिद्ध्यति, यावत् सर्वदुःखानामन्तं करोति?

उत्तर—हन्त, सिद्ध्यति यावत्-अन्तं करोति।

प्रश्न—तत् केनार्थेन?

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! संवृत अनगार सिद्ध होता है ? यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

उत्तर—हाँ, सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

प्रश्न—सो किस हेतु से भगवन् ?

उत्तर—गौतम ! संवृत अनगार आयु को छोड़ कर सात गाढ़ी बांधी हुई कर्म-प्रकृतियों को शिथिल बंध वाली करता है, दीर्घकालीन स्थिति वाली प्रकृतियों को अल्प-कालीन स्थिति वाली बनाता है, तीव्र फल देने वाली प्रकृतियों को मन्द फल देने वाली बनाता है, बहुत प्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्प प्रदेश वाली बनाता है। आयुष्य कर्म का बंध नहीं करता है। तथा असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता है। इस लिए अनादि, अनंत लंबे मार्ग वाले, चातुरन्तक चार प्रकार की गति वाले-संसार रूपी वन का उल्लंघन करता है। इस लिए हे गौतम ! संवृत अनगार सिद्ध होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है, ऐसा कहा जाता है।

व्याख्यान—असंवृत अनगार के विषय में कहा जा चुका है। प्रस्तुत प्रश्नोत्तर में संवृत अनगार की चर्चा की गई है। आस्रवद्वार का निरोध करके संवर की साधना करने

वाला मुनि संवृत अनगार कहलाता है। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! संवृत अनगार सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और निर्वाण पाता है? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा-हाँ गौतम! पाता है।

संवृत अनगार छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्त और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक के अप्रमत्त होते हैं। यहाँ किस गुणस्थानवर्त्ती संवृत अनगार से प्रयोजन है?

इस सम्बन्ध में कहा गया है-संवृत अनगार चरमशरीरी और अचरमशरीरी के भेद से दो प्रकार के हैं। जो दूसरा शरीर धारण नहीं करेंगे वह चरमशरीरी कहलाते हैं। जिन्हें दूसरी देह धारण करनी पड़ेगी वह अचरमशरीरी हैं। गौतम स्वामी और भगवान् के यह प्रश्नोत्तर चरमशरीरी की अपेक्षा से हैं। अचरमशरीरी के विषय में नहीं हैं। इस के लिए एक सूत्र की दो गति करनी चाहिए-एक परम्परा और दूसरी साक्षात्। अर्थात् साक्षात्-इसी भव से सिद्धि होगी और परम्परा से अगले किसी भव में सिद्धि प्राप्त होगी। चरमशरीरी इसी भव से मोक्ष जाएँगे अतएव यह सूत्र उन पर साक्षात् रूप से लागू होता है। अचरमशरीरी सात-आठ भव में मोक्ष जाएँगे, अतएव उनके लिए परम्परा से सिद्धि होगी ऐसा समझना चाहिए।

एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर कृष्णपक्षी, शुक्ल-पक्षी हो जाता है। प्रकाश की अपेक्षा यद्यपि दोनों पक्ष समान-से प्रतीत होते हैं, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को लगभग सारी रात उजेला रहता है और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को सारी रात अन्धेरा रहता है। फिर भी दोनों में अन्तर है। अन्तर यह है कि भले ही कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा उजेली है, मगर उस में मलीनता रही हुई है, और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा में आज अन्धेरा है, मगर उसमें मलीनता का नाश आरम्भ हुआ है इस प्रकार कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा में भी पर्याप्त अन्तर है। इसी प्रकार बाह्य साधु और अंतरंग साधु का अन्तर पहचानना चाहिए। जैसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा की रात में आज अन्धेरा है, लेकिन आगे प्रकाश ही होगा, उसी प्रकार छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमादी संवृत अनगार आज चाहे गिर गये हों तथापि परम्परा से वह मोक्ष जाएँगे ही। और पर-म्परा की सीमा सिर्फ सात-आठ भव ही है। सात-आठ भवों के भीतर ही उन्हें मुक्ति प्राप्त हो जायगी। कहा भी है—

जहन्नियं चरित्ताऽऽराहणं आराहित्ता सत्तट्ठभवग्गहणेहिं सिज्झइ

अर्थात्—जघन्य चारित्र की आराधना करने वाला सात-आठ भव ग्रहण करके सिद्ध हो जाता है।

इस प्रमाण से यह स्पष्ट है कि संवृत अनगार सात-आठ भव में सिद्धि प्राप्त कर लेता है, मगर असंवृत अनगार के लिए यह नियम लागू नहीं होता। असंवृत अनगार की परम्परा तो अपार्ध, पुद्गल परावर्त्तन भी हो सकती है। अतएव संवृत और असंवृत का भेद स्पष्ट है। इस प्रकार

उक्त सूत्र साक्षात् रूप से चरम शरीरी, अप्रमादी, संवृत अनगार के लिए लागू होता है और परम्परा से अचरम शरीरी संवृत अनगार के लिए।

असंवृत अनगार विराधक है, किन्तु प्रमादी संवृत अनगार आराधक है। यह भी दोनों में अन्तर है।

भगवान् ने गौतम स्वामी को उत्तर दिया—संवृत अनगार सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, निर्वाण प्राप्त करता है और सब दुःखों का अन्त करता है। इस पर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! आप ऐसा क्यों कहते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—गौतम ! संवृत अनगार आयु कर्म का बंध नहीं करते। शेष सात कर्मों के गाढ़ बंधन को ढीला कर देते हैं। बहुत काल की स्थिति वाले कर्मों को अल्पकालीन स्थिति वाले बना देते हैं। करोड़ों सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों को अन्तर्मुहूर्त मात्र में भस्म कर डालते हैं। जिन कर्मों का रस तीव्र होता है, उन्हें मंद रस वाला कर देते हैं। बहुत प्रदेश वाले कर्मों को कम प्रदेश वाले कर देते हैं। असातावेदनीय कर्म को पुष्ट नहीं करते। पहले जिस संसार का वर्णन किया जा चुका है, उसमें भ्रमण नहीं करते। सभी उनके लिए स्वजन बन जाते हैं। उन्हें दुःख-मुक्त होने के सुख से भी अधिक सुख प्राप्त होता है। उनके पाप अलोप हो जाते हैं। वह अपार संसार को सहज पार कर जाते हैं। इस लिए संवृत अनगार सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

असंयत जीव

मूल पाठ-

प्रश्न—जीवे णं भंते! असंजए अविरइए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इओ चुए पेच्चे देवे सिया?

उत्तर—गोयमा! अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए णो देवे सिया।

प्रश्न—से केणट्ठेणं जाव—इओ चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया?

उत्तर—गोयमा जे इमे जीवा गामाऽऽगर-णगर-निगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोण-

मुह-पट्टणाऽऽसम-सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए, अकामछुहाए, अकामबंभचेरवासेणं, अकाम-सीताऽऽतव-दंसमसग-अकामअण्हाणग-सेय-जल्लमल-पंक-परिदाहेणं, अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा, अन्नयरेसु वाणमंतरेसु, देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

संस्कृत छाया—प्रश्न—जीवो भगवन्! असंयतः, अविरतिकः, अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, इतश्च्युतः प्रेत्य देवः स्यात्?

उत्तर—गौतम! अस्त्येकको देवः स्यात्, अस्त्येकको नो देवः स्यात्।

प्रश्न—तत्केनार्थेन, यावत्—इतश्च्युतः प्रेत्य अस्त्येकको देवः स्यात्, अस्त्येकको नो देवः स्यात्?

अन्यतरेषु वानव्यन्तरेषु देवलोकेषु देवतया उपपत्तारो भवन्ति ।

मूलार्थ-प्रश्न—हे भगवन्! असंयत, अविरत और पापकर्म का हनन तथा त्याग न करने वाला जीव इस लोक से चयकर-मर कर-परलोक में देव होता है ?

उत्तर—गौतम! कितनेक देव होते हैं, कितनेक देव नहीं होते ।

प्रश्न—भगवन्! यहाँ से चयकर यावत्-पूर्वोक्त जीव, कोई देव होते हैं, कोई देव नहीं होते, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—गौतम! जो जीव ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पट्टन, आश्रम तथा सन्निवेश में अकाम तृषा से, अकाम क्षुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य से, अकाम शीत, आतप तथा डांस-मच्छरों के काटने के दुःख को सहन करने से, अकाम अस्नान, पसीना, जल्ल, मैल तथा पंक (कीचड़) से होने वाले परिदाह से, थोड़े समय तक या बहुत समय तक अपने आत्मा को क्लेशित करते हैं । वे आत्मा को क्लेशित करके, मृत्यु के समय मर कर वान-व्यन्तर देवलोकों के किसी देवलोक में, देव रूप से उत्पन्न होते हैं ।

व्याख्यान—गौतम स्वामी ने असंवृत और संवृत

अनगार की गति के सम्बन्ध में प्रश्न किये और भगवान् ने उन प्रश्नों के उत्तर भी दिये। लेकिन संसार में और भी जीव हैं जो संवृत या असंवृत अनगार नहीं हैं। वे असंयत और अविरत कहलाते हैं। वे इस भव के पश्चात् देवगति में जाते हैं या नहीं? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है।

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि मनुष्य गति मिलना कठिन है, लेकिन देवगति का मिलना उतना कठिन नहीं है। इसी अभिप्राय से गोतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि-भगवन्! जो जीव असंयत हैं, असाधु हैं, वे यहाँ से मर कर देवगति प्राप्त करते हैं? असंयम वाला सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, इसलिये यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि जिसने प्राणातिपात आदि के व्रत-प्रत्याख्यान नहीं धारे हैं। अथवा 'वि' अर्थात् विशेष प्रकार की 'रति' अर्थात् तल्लीनता होना, तात्पर्य यह कि जिसमें तप आदि के प्रति विशेष तल्लीनता नहीं है, वह अविरत कहलाता है।

अर्थ है, जिसने संयम धारण नहीं किया और जिसने तप-विशेष को नहीं अपनाया है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब असंयमी कह दिया था, तब अविरत कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि वर्त्तमान काल के पाप का निरोध न करने वाले का बोध कराने के लिए अविरत शब्द का प्रयोग किया है।

एक आचार्य इन शब्दों का अर्थ दूसरा लेते हैं। उनके मत के अनुसार मरणकाल से पहले तप आदि द्वारा जिसने पाप का नाश न किया हो, वह अप्रतिहत पापकर्मा कहलाता है। और मृत्युकाल आजाने पर भी पाप का नाश न करने वाला अप्रत्याख्यातपापकर्मा है। तात्पर्य यह है कि जिसने न मृत्यु से पहले पापों का त्याग किया, न मृत्यु आने पर ही त्याग किया, वह अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा का एक अर्थ और भी लिया जाता है। जिसने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके पापकर्मों को नष्ट नहीं किया वह अप्रतिहतपापकर्मा कहलाता है। शुद्ध श्रद्धा धारण करना, पूर्व के पापों का नाश करना कहलाता है। और सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर सर्वविरति आदि अंगीकार करके पाप-कर्मों का निरोध न करने वाला अप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है। इस प्रकार जिसने न सम्यक् श्रद्धा धारण की और न व्रत धारण किये वह अप्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—ऐसा जीव यहाँ से मरकर

अनगार की गति के सम्बन्ध में प्रश्न किये और भगवान ने उन प्रश्नों के उत्तर भी दिये। लेकिन संसार में और भी जीव हैं जो संवृत या असंवृत अनगार नहीं हैं। वे असंयत और अविरत कहलाते हैं। वे इस भव के पश्चात् देवगति में जाते हैं या नहीं? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है।

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि मनुष्य गति मिलना कठिन है, लेकिन देवगति का मिलना उतना कठिन नहीं है। इसी अभिप्राय से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि-भगवन्! जो जीव असंयत हैं, असाधु हैं, वे यहाँ से मर कर देवगति प्राप्त करते हैं? असंयम वाला सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, इसलिये यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि जिसने प्राणातिपात आदि के व्रत प्रत्याख्यान नहीं धारे हैं। अथवा 'वि' अर्थात् विशेष प्रकार की 'रति' अर्थात् तल्लीनता होना, तात्पर्य यह कि जिसमें तप आदि के प्रति विशेष तल्लीनता नहीं है, वह अविरत कहलाता है।

जिसने भूतकालीन पाप को निन्दा-गर्हा आदि के द्वारा दूर कर दिया हो वह प्रतिहत-पाप-कर्मा कहलाता है। जिसने भविष्यकालीन पापों का त्याग कर दिया हो वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा कहलाता है। यहाँ पाप में हिंसा, असत्य, चोरी आदि अठारह पाप समझने चाहिए। जो मनुष्य पाप कर्मों को प्रतिहत और प्रत्याख्यात नहीं करता अर्थात् जो भूतकाल के पापों की आलोचना नहीं करता और भविष्य के पापों का त्याग नहीं करता वह अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

अर्थ है, जिसने संयम धारण नहीं किया और जिसने तप-विशेष को नहीं अपनाया है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब असंयमी कह दिया था, तब अविरत कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि वर्त्तमान काल के पाप का निरोध न करने वाले का बोध कराने के लिए अविरत शब्द का प्रयोग किया है।

एक आचार्य इन शब्दों का अर्थ दूसरा लेते हैं। उनके मत के अनुसार मरणकाल से पहले तप आदि द्वारा जिसने पाप का नाश न किया हो, वह अप्रतिहत पापकर्मा कहलाता है। और मृत्युकाल आजाने पर भी पाप का नाश न करने वाला अप्रत्याख्यातपापकर्मा है। तात्पर्य यह है कि जिसने न मृत्यु से पहले पापों का त्याग किया, न मृत्यु आने पर ही त्याग किया, वह अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा का एक अर्थ और भी लिया जाता है। जिसने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके पापकर्मों को नष्ट नहीं किया वह अप्रतिहतपापकर्मा कहलाता है। शुद्ध श्रद्धा धारण करना, पूर्व के पापों का नाश करना कहलाता है। और सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर सर्वविरति आदि अंगीकार करके पाप-कर्मों का निरोध न करने वाला अप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है। इस प्रकार जिसने न सम्यक् श्रद्धा धारण की और न व्रत धारण किये वह अप्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—ऐसा जीव यहाँ से मरकर

देवता होता है ? 'यहाँ से मरकर' का अर्थ होगा—जहाँ यह प्ररूपणा की जा रही है, वहाँ से चलकर। यह प्ररूपणा मध्यलोक में की जा रही है और मध्यलोक में प्रायः मनुष्य-तिर्यंच होते हैं। इसलिए 'यहाँ से' का अर्थ मनुष्यगति से और तिर्यंचगति से, समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि ऐसा जीव मनुष्यगति और तिर्यंचगति से च्युत होकर क्या देवता होता है ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—गौतम ! ऐसे जीव कोई कोई देवता होते हैं और कोई कोई देवता नहीं होते।

यहाँ तृष्णा-विजय की बात कही है। साधु अथवा श्रावक होकर संयम और व्रत जैसी कल्याणकारी वस्तु के बदले में तुच्छ वस्तु की अभिलाषा करना उचित नहीं है। देवयोनि मिलना बड़ी बात नहीं है। वह तो मिथ्यादृष्टि को भी मिल जाती है। अतएव इस प्रश्नोत्तर द्वारा यह भी सूचित किया गया है कि स्वर्ग की कामना मत करो। स्वर्ग तो मिथ्यादृष्टि और पशु भी पा सकते हैं। इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब देवलोक का ऐश्वर्य भी तुच्छ है तो मनुष्यलोक का वैभव क्या उत्कृष्ट होगा ?

ग्रामः—जहाँ थोड़ी बुद्धि वाला और बहुत बुद्धि वाला-दोनों प्रकार के मनुष्य रह सकते हों, वह ग्राम कहलाता है। एक जगह एक टीका में लिखा है कि जहाँ बसने से बुद्धि नष्ट होजाय, वह ग्राम है। मगर ग्राम का यह अर्थ उपयुक्त नहीं जँचता, क्योंकि अधिकतर मस्तिष्कशक्ति की उत्पत्ति ग्रामों में ही होती है। असली तत्त्व ग्रामों में ही हैं। नागरिक लोग, ग्रामों में उत्पन्न पदार्थ ही खाते हैं। आम तौर पर यह खयाल किया जाता है कि नगर के लोग चतुर होते हैं। लेकिन कच्चा लोहा खान से निकलता है और शाण पर चढ़ने से वह तीक्ष्ण हो जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शाण पर चढ़ा लोहा वहीं बना है। इसी प्रकार नगर में बुद्धि का संघर्ष होता है, इस कारण नगर-निवासियों की बुद्धि में तीक्ष्णता आ जाती है, मगर बुद्धि की उत्पत्ति ग्रामों में ही होती है।

आकर—खदान को 'आकर' कहते हैं। जहाँ लोहा आदि धातुएँ निकलती हैं, वह भूभाग आकर कहलाता है।

नगर—न कर अर्थात् जहाँ कर (टैक्स) न लगे, वह स्थान नगर है। आज नगरों पर खूब कर लग गया है और नवीन-नवीन कर लगते जाते हैं, मगर प्राचीन काल में नगरों पर कर नहीं थे। इसलिए नगरों में खूब क्रय-विक्रय होता था और नागरिक लोग ग्रामीणों की भी सार-सँभाल कर सकते थे। आज के नागरिकों पर इतना बोझ लदा है कि उन्हें अपनी ही सुध-बुध नहीं है। वे ग्राम्य जनता की क्या सुध ले सकेंगे!

निगम—जहाँ व्यापारी अधिक निवास करते हों, उस

बस्ती का नाम निगम है। अर्थात् जहाँ माल का आना जाना बना रहता हो और व्यापार खूब होता हो, वह निगम कहलाता है।

राजधानी—जहाँ स्वयं राजा स्थायी रूप से रहता हो, वह राजधानी है।

खेट—जिस छोटी बस्ती के चारों ओर धूल का कोट हो उसे खेट या खेड़ा कहते हैं।

कर्बट—कुत्सित नगर कर्बट कहलाता है। जिसकी गणना न ग्राम में की जा सके, न नगर में ही, वह कर्बट है। इसे आजकल के कस्बे

मडम्ब—जिस बस्ती के समीप दूसरी बस्ती न हो, जिससे दूसरी बस्तियाँ दूर हों, वह मडम्ब है। दूर का अर्थ यहाँ ढाई कोस लिया गया है।

द्रोणमुख—जहाँ के लिये जलमार्ग भी हो और स्थल मार्ग भी हो, वह बस्ती द्रोणमुख कहलाती है।

आश्रम—जिस स्थान पर कंदमूल, फल, फूल खाने वाले तापस रहते हों, वह आश्रम कहलाता है।

सन्निवेश—जहाँ दूध, दही, बेचने वाले लोग रहते हों, वह सन्निवेश कहलाता है। उसे घोष भी कहते हैं।

भगवान् कहते हैं कि इन स्थानों में से किसी भी स्थान में रहता हो, मगर जो अकाम निर्जरा करता है, वह देव होता है।

अकाम निर्जरा का साधारण अर्थ है—विना इच्छा के निर्जरा करना-अर्थात् भूखों, प्यासों मरना। लेकिन यहाँ यह अर्थ संगत नहीं है। मोक्ष प्राप्ति के योग्य निर्जरा की अभिलाषा नहीं होना अकाम निर्जरा है। और मोक्ष प्राप्ति की कामना से जो निर्जरा की जाती है, वह सकाम निर्जरा कहलाती है। मुझे स्वर्ग प्राप्त हो जाय, या मेरा अमुक लौकिक कार्य सिद्ध हो जाय, इस भावना से भूखा रहना, प्यासा रहना, कष्ट भोगना, यह सब सकाम निर्जरा नहीं है। अभिलाषा किये बिना भी फल की प्राप्ति होती है, अतएव अभिलाषा करने की आवश्यकता नहीं है। यही नहीं, वरन् अभिलाषा न करने से हजारगुना अधिक फल होता है। अतएव चाह करना, फल में न्यूनता उत्पन्न कर लेना है।

हे गौतम! असंयमी, अविरत और मिथ्यादृष्टि कहीं भी रहता हो, अगर वह अकाम निर्जरा करता है, अन्न के अभाव में नहीं वरन् अन्न होते हुए भूखा रहता है, वह देवयोनि प्राप्त करता है।

अज्ञानपूर्वक की जाने वाली निर्जरा अकामनिर्जरा है और ज्ञानपूर्वक की जाने वाली सकामनिर्जरा है।

जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, वह पूर्वोक्त स्थानों में से किसी में भी रहता हुआ मिथ्यादृष्टि पुरुष निर्जरा आदि की अभिलाषा से रहित अकाम तृषा सहन कर रहा है। वह भूखा रहता है, मगर अकाम अर्थात् धर्म भावना से नहीं। स्त्रीसमागम नहीं करता है, मगर यों ही बिना किसी प्रयोजन के। ब्रह्मचर्य पालने का उसका अभिप्राय कुछ नहीं है। वह धर्म समझकर ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता, मगर स्त्री होते हुए भी लज्जा आदि के कारण समागम नहीं करता और ब्रह्मचर्य रखता है। यह अकाम ब्रह्मचर्य है। वह रात्रि में ऐसे स्थान पर रहता है जहाँ स्त्री से भेंट न हो, वह अकाम ब्रह्मचर्यवास कहलाता है।

इस अकाम ब्रह्मचर्य के लिए या यों ही स्नान नहीं करता है, स्वेद (पसीना) जल्ल, मल आदि सहन करता है। यह सब अकामनिर्जरा है।

स्वेद का अर्थ है—पसीना। पसीने पर जो रज लग जाती है वह जल्ल कहलाती है। जल्ल का जम जाना मल है। इन सब कष्टों का सहन करना—मगर धर्मभाव से निर्जरा के लिए नहीं—वह अकामनिर्जरा है। इस प्रकार थोड़े काल तक या बहुत काल तक वह आत्मा को क्लेश पहुँचाता है, फिर भी उसके इन कार्यों से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इस अकाम निर्जरा के कारण वह वान-व्यन्तर आदि देव के भव में उत्पन्न होता।

परिणाम रखने वाले का ही वर्णन किया है, लेकिन आगे कहा जायगा कि अकाम निर्जरा नौवें ग्रैवेयक विमान तक होती है। कई ज्ञानी सकाम निर्जरा वाले भी देवलोक में जाते हैं और कई मिथ्यात्वी अकामनिर्जरा वाले भी देवलोक में जाते हैं। इन दोनों के देवलोक में जाने में क्या अन्तर है. यह बताने के लिए कहा है कि अकाम निर्जरा वाले वान-व्यन्तर देव भी होते हैं और सकाम निर्जरा वाले परलोक की उत्तम से उत्तम स्थिति प्राप्त करके मोक्ष की भी आराधना कर सकते है।

वाण-व्यन्तरों का (स्थान)

मूलपाठ—

प्रश्न—केरिसा णं भंते ! तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोया पराणत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! से जहानामए इह मणुस्सलोगम्मि असोगवणे इ वा, सत्तवगणवणे इ वा, चंपयवणे इ वा, चूयवणे इ वा, तिलगवणे इ वा, लाउवणे इ वा, निग्गोहवणे इ वा, छत्तोहवणे इ वा, असणवणे इ वा, सणवणे इ वा, अयसिवणे इ वा, कुसुंभवणे इ वा, सिद्धत्थवणे इ वा, बंधुजीवगवणे इ वा, णिच्चं कुसुमिय. माइय लवइय, थवइय, गुलुइय, गोच्छिय. जमलिय. जुवलिय, विणमिय, पणमिय,

सुविभत्तपिंडिमंजरिवडेंसगधरे सिरीए अतीव अतीव २ उवसोभमाणे चिट्ठइ, एवामेव तेसिं वाण-मंतराणं देवाणं देवलोगा जहराणेणं दसवास-सहस्सट्ठितीएहिं, उक्कोसेणं पलिओवमट्ठितीएहिं, बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं, तद्देवीहि य आइएणा, विकिण्णा, उवत्थडा, संथडा, फुडा, अवगाढ-गाढा, सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति। एरिसगा णं गोयमा! तेसिं च वाणमंतराणं देवाणं देवलोआ पन्नत्ता, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइजीवे णं असंजए जाव—देवे सिया।

संस्कृत-छाया-प्रश्न—कीदृशा भगवन्! तेषां वानव्यन्तराणां देवाना देवलोकाः प्रज्ञप्ताः?

उत्तर—गौतम! तद् यथा नामेह मनुष्यलोके अशोकवन वा, सप्तपर्णवन वा, चम्पकवन वा, चूतवन वा, तिलकवन वा, अलाबु-वन वा, न्यग्रोधवन वा, छत्रौघवन वा, असनवन वा, शणवन वा, अतासिवन वा, कुसुम्भवन वा, सिद्धार्थवन वा, बन्धुजीवकवन वा, नित्य कुसुमित, मयूरित, लवकितम्, स्तवकितम्, गुल्मकितम्,

गुच्छितम्, यमलितम्, युगलितम्, विनमितम्, प्रणमितम्, सुविभक्त-पिण्डी–मञ्जर्यवतंसकधर श्रिया अतीवातीवोपशोभमानम्-उपशोभमानं तिष्ठति, एतेन तेषां वानव्यन्तराणां देवानां देवलोकाः जघन्येन दशवर्षसहस्रस्थितिकैः, उत्कृष्टेन पल्योपमस्थितिकैर्बहुभिर्वानव्यन्तरैर्देवैर्देवीभिश्च आकीर्णाः, निकीर्णाः, उपस्तीर्णाः संस्तीर्णाः, स्पृष्टाः, स्फुटावगाढगाढाः, श्रिया अतीवातीवोपशोभमाना उपशोभमानास्तिष्ठन्ति। हे गौतम! तेषां च वानव्यन्तरदेवानां देवलोकाः प्रज्ञप्ताः, तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते जीवोऽसंयतो यावद्-देवः स्यात्।

मूलार्थ-प्रश्न—हे भगवन्! उन वान-व्यन्तर देवों के देवलोक किस प्रकार के कहे गये हैं?

का वन, तथा दुपहरिया वृक्षों का वन, अतीव अतीव शोभा से सुशोभित होता है, इसी प्रकार वाण-व्यन्तर देवों के देवलोक जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट पल्योपम की स्थिति वाले, बहुत से वाण-व्यन्तर देवों और देवियों से व्याप्त, विशेष व्याप्त, उपस्तीर्ण—एक दूसरे के ऊपर आच्छादित, परस्पर मिले हुए भोगे हुए या प्रकाश वाले, अत्यन्त अवगाढ़, शोभा से अतीव अतीव सुशोभित रहते हैं। हे गौतम! वाण व्यन्तर देवों के स्थान-देवलोक इस प्रकार के कहे गये हैं। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि असंयत जीव यावत्—देव होता है।

व्याख्यान—अब गौतम स्वामी वाण व्यन्तर देवों के देवलोक के विषय में प्रश्न करते हैं। व्यन्तरों का देवलोक कैसा है? वहाँ क्या कोई सुख है?

इस प्रश्न के उत्तर से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वाण-व्यन्तर देव किन्हें कहते हैं? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि वन विशेष में उत्पन्न होने वाले अर्थात् बसने वाले देव वान-व्यन्तर कहलाते हैं।

दूसरे आचार्य के मत से वन में उत्पन्न होने वाले वान कहलाते हैं और वन में क्रीड़ा करने वाले व्यन्तर देव कहलाते हैं। वन में यद्यपि फूल-फल भी उत्पन्न होते हैं, मगर यहाँ उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहाँ देवयोनि के उन जीवों को ही लेना चाहिए जो वन में उत्पन्न होते हैं, [illegible] में क्रीड़ा करते हैं?

वाण व्यन्तरों के स्थान का वर्णन करने के लिए भगवान् ने मनुष्यलोक के वृक्षों के वनों का उदाहरण दिया है। यह आशंका की जा सकती है कि मनुष्यलोक में महल आदि उत्तम स्थान बहुत से हैं, उनकी उपमा न देकर सिर्फ वनों की उपमा क्यों दी है? वास्तव में वन की उपमा देने में प्रकृति सम्बन्धी बहुत विचार गर्भित है।

आजकल लोग प्रकृति से बहुत दूर हट गये हैं, इसलिए उन्हें कृत्रिम वस्तु बहुत प्रिय लगती है। लेकिन जिसने प्रकृति का अभ्यास किया है, जिसने प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति की है, वही प्राकृतिक और कृत्रिम वस्तुओं का भलीभाँति अन्तर समझ सकता है। एक आदमी घाम से व्याकुल और थका हुआ है। उसे एक ओर कलकल करता हुआ निर्झर और उसी के किनारे एक सुन्दर सघन छायादार वृक्ष मिलता है और दूसरी ओर राजमहल। वह किसे पसंद करेगा?

आक्सीजन वायु पथ्य है। मनुष्य आक्सीजन वायु के बिना जीवित नहीं रह सकता। यह वायु महल से नहीं, वृक्ष से मिलती है। महल, मनुष्य के जीवन को प्रकृति विरोधी बनाता है। इस प्रकार वृक्ष की छाया में जो आनन्द है, वह बेचारे महल में कहाँ!

महलों के कारण लोग प्रकृति से इतने दूर जा पड़े हैं कि महल की दीवार पर बने हुए वन के दृश्य तो प्रसन्नता पूर्वक देखते हैं, लेकिन वन को साक्षात् देखना नहीं चाहते। मगर चाहे आप वन को साक्षात् न देखना चाहें तथापि बिना वन के चैन नहीं है। इसी कारण वन के चित्र देखने पड़ते हैं। आप प्रकृति से दूर भागना चाहते हैं मगर प्रकृति आपको अपनी ओर खींच रही है। इसलिए आप नैसर्गिक वन के बदले कृत्रिम वन के चित्र की ओर आकृष्ट होते हैं।

मनुष्य—जीवन के लिए जो वस्तुएँ अत्यन्त उपयोगी हैं, वह महल से नहीं निकलती हैं। बल्कि महल ऐसी वस्तुओं का विनाश करता है। ऐसी वास्तविक वस्तु वन में ही उपजती है। इसलिए वाण-व्यन्तर देवों के स्थान की उपमा चक्रवर्ती के महल से न देकर वन से दी गई है।

भगवान् कहते हैं—गौतम! वाण-व्यन्तर देवों का स्थान वैसा ही सुशोभित होता है, जैसा मनुष्यलोक में अशोक वृक्ष का वन शोभा देता है।

भगवान् ने इस उपमा द्वारा यह सूचित किया है कि प्राकृतिक वस्तु जैसी शोभा देती है, कृत्रिम वस्तु वैसी शोभा नहीं दे सकती।

वाण व्यन्तरों के स्थान का वर्णन करने के लिए भगवान् ने मनुष्यलोक के वृक्षों के वनों का उदाहरण दिया है। यह आशंका की जा सकती है कि मनुष्यलोक में महल आदि उत्तम स्थान बहुत से हैं, उनकी उपमा न देकर सिर्फ वनों की उपमा क्यों दी है? वास्तव में वन की उपमा देने में प्रकृति सम्बन्धी बहुत विचार गर्भित है।

आजकल लोग प्रकृति से बहुत दूर हट गये हैं, इसलिए उन्हें कृत्रिम वस्तु बहुत प्रिय लगती है। लेकिन जिसने प्रकृति का अभ्यास किया है, जिसने प्रकृति के सौन्दर्य की परख की है, वही प्राकृतिक और कृत्रिम वस्तुओं का भलीभांति अन्तर समझ सकता है। एक आदमी घाम से तप कर और थका हुआ है। उसे एक ओर कलकल करता हुआ निर्झर और नदी के किनारे एक सुन्दर सघन छायादार वृक्ष मिलता है और दूसरी ओर राजमहल वह किसे पसंद करेगा?

'वृक्ष की छाया को!'

आक्सीज़न वायु पथ्य है। मनुष्य आक्सीज़न वायु के बिना जीवित नहीं रह सकता। यह वायु महल से नहीं, वृक्ष से मिलती है। महल, मनुष्य के जीवन को प्रकृति विरोधी बनाता है। इस प्रकार वृक्ष की छाया में जो आनन्द है, वह बेचारे महल में कहाँ।

महलों के कारण लोग प्रकृति से इतने दूर जा पड़े हैं कि महल की दीवार पर बने हुए वन के दृश्य तो प्रसन्नता पूर्वक देखते हैं, लेकिन वन को साक्षात् देखना नहीं चाहते। मगर चाहे आप वन को साक्षात् न देखना चाहें तथापि बिना वन के चैन नहीं है। इसी कारण वन के चित्र देखने पड़ते हैं। आप प्रकृति से दूर भागना चाहते हैं मगर प्रकृति आपको अपनी ओर खींच रही है। इसलिए आप नैसर्गिक वन के बदले कृत्रिम वन के चित्र की ओर आकृष्ट होते हैं।

मनुष्य—जीवन के लिए जो वस्तुएँ अत्यन्त उपयोगी हैं, वह महल से नहीं निकलती हैं। बल्कि महल ऐसी वस्तुओं का विनाश करता है। ऐसी वास्तविक वस्तु वन में ही उपजती है। इसलिए वाण-व्यन्तर देवों के स्थान की उपमा चक्रवर्ती के महल से न देकर वन से दी गई है।

भगवान् कहते हैं—गौतम! वाण-व्यन्तर देवों का स्थान वैसा ही सुशोभित होता है, जैसा मनुष्यलोक में अशोक वृक्ष का वन शोभा देता है।

भगवान् ने इस उपमा द्वारा यह सूचित किया है कि प्राकृतिक वस्तु जैसी शोभा देती है, कृत्रिम वस्तु वैसी शोभा नहीं दे सकती।

शरण लेता है ? शहर मे जब प्लेग का प्रकोप होता है, तब लोग कहाँ जाते हैं ?

'जंगलों को।'

उस समय घर में रहने के लिए आपको कुछ रकम दी जाय तो आप घर मे रहना पसंद करेंगे ?

'नहीं !'

और अगर जंगल मे रहने की फीस लीजाय, तो आप देंगे या नहीं ?

'अवश्य देंगे।'

आप लोग बनावटी के चक्कर मे पड़कर अकृत्रिम को भूल रहे हैं, लेकिन प्राकृतिक रचना ही वास्तव मे सब प्रकार से सुन्दर और लाभदायक है।

बाह्य सुख की अपेक्षा से व्यन्तर देव सुखी हैं, क्योंकि उन्हें रोग शोक नहीं होता। मनुष्य लोक के जीव इसलिए सुखी नहीं है कि मनुष्य प्रकृति के विरोधी हैं। प्रकृति से विरोध करने वाले को सुख कहाँ ! सुख देने वाली प्रकृति है, मगर वह तभी सुख देती है, जब उसका विरोध न किया जाय।

भगवान् ने जिस समय वाण-व्यन्तर के देवलोक से इन वनों की उपमा दी, उस समय भारत में खूब वन थे। और उन वनो में मनुष्य उसी प्रकार विचरते थे, जैसे वाण-व्यन्तर अपने देवलोक में विचरते हैं। लेकिन धीरे-धीरे भारतीयजन कृत्रिमता के मोह मे फँस गये। परिणाम यह

और कोई वस्तु नहीं है। साथ ही वन के समान जीवन को आनन्दमय बनाने वाला और कोई नहीं है।

हवा प्रायः शहर की ही गंदी होती है। ग्राम की हवा को भी नगर वाले ही दूषित बनाते हैं। नगर की अपेक्षा ग्राम कम गंदे होते हैं। आज तो ग्रामीणों ने भी अपना जीवन-क्रम बदल-सा दिया है और ग्रामों में भी गंदगी का प्रवेश हो गया है। मगर कभी आपने यह सुना है कि अमुक वन की हवा बिगड़ी है और नगर की हवा नहीं बिगड़ी है? अगर कभी किसी वन की वायु में किसी प्रकार का विकार हुआ भी हो तो वह नगर की ही देन होगी।

एक भाई प्रश्न करते हैं कि भगवान् का समवसरण कृत्रिम है या अकृत्रिम? इसका उत्तर यह है कि उववाइसूत्र में समवसरण का विस्तृत वर्णन है। समवसरण में देव कृत्रिमता प्रकट करते हैं, अन्यथा समवसरण अकृत्रिम ही है। ग्रंथों में कहा गया है कि देवकृत तीर्थंकरों का समवसरण भी दो ही बार होता है—एक बार केवलज्ञान उत्पन्न होने के समय और दूसरी बार निर्वाण के समय। जैसी कृत्रिमता इन समयों पर देव प्रकट करते हैं, उस कृत्रिमता के बिना समवसरण जुड़ता ही न हो, सो बात नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि जब तांबे के कोट आदि हों तभी समवसरण होता हो। उववाईसूत्र में वर्णन है कि भगवान् अमुक उद्यान में विराजमान हुए और धर्म कथा कही। समवसरण का सामान्य अर्थ है, उस विशद परिषद् का जुड़ना, जिसमें धर्म का उपदेश तीर्थंकर ने किया हो।

भगवान् सदैव अकृत्रिम अवस्था में ही रहते थे।

जो बिजली प्रकाश देती है, उसकी उत्पन्न होती हुई गैस दुर्गन्ध देती है, ऐसा सुना जाता है। लेकिन वही गैस प्रकाश देती है। अगर उस दुर्गन्ध से घृणा की जाय तो बिजली का प्रकाश नहीं हो सकता। आप कदाचित् घृणा करें भी, मगर जो आदमी उस गैस को उत्पन्न करता है वह यदि घृणा करने लगे तो किसी को प्रकाश न मिले। मतलब यह है कि उस दुर्गन्धयुक्त गैस से बिजली का उज्ज्वल प्रकाश निकलता है। इसी प्रकार भूख प्यास सहने वाले और अकाम निर्जरा करने वाले के लिए, लोग कहते हैं, यह वृथा कायक्लेश कर रहा है, मगर ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि यह कष्ट नहीं, गैस है जिस से वाण व्यन्तर का विद्युत्प्रकाश उत्पन्न होगा।

बिजली पर पतंग मँडराते हैं और अपनी जान दे देते हैं। यही बात आप के लिए भी है, आप बिजली को देखते हैं, पर यह नहीं देखते कि यह प्रकाश किसके अधीन है? आप देवलोक के सुख को तो देखते हैं, परन्तु यह नहीं देखते कि यह सुख निकला कहां से है? देवलोक के सुख के उद्गम को न देखकर, केवल सुख को ही देखना बिजली पर पड़ने के समान है।

जैसे जेल से डरने वाला स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकता और जैसे आँच और धुंएँ से डरने वाली महिला रसोई नहीं बना सकती, उसी प्रकार कष्टों से घबराने वाला देवलोक के सुख नहीं पा सकता। यह ठीक है कि अज्ञानपूर्वक सहन किया गया कष्ट मोक्ष का कारण नहीं है, मगर वह भी सर्वथा निष्फल नहीं होता। उस कष्ट का फल यह देवलोक है। मगर यह ख्याल रखना चाहिए कि केवल कष्ट सहने मात्र

से स्वर्ग नहीं मिलता है। केवल कष्टसहन से ही स्वर्ग मिलता तो नरक में घोर कष्ट सहने वाले नारकी और बूचड़ खाने में मारे जाने वाले पशु भी स्वर्ग ही पाते। स्वर्ग वास्तव में पुण्य से मिलता है और पुण्य शुभभाव से होता है। इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ।

प्रथम शतकः-द्वितीय उद्देशक

प्रश्नोत्थान

—❀—
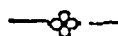
मूलपाठ

रायगिहे नगरे समोसरणं। परिसा णिग्गया, जाव-एवं वयासी—

संस्कृत छाया—राजगृहे नगरे समवसरणं। परिषद् निर्गता, यावत्-एवमवादीत्।

मूलार्थ—राजगृह नगर में समवसरण हुआ। परिषद् निकली यावत् इस प्रकार फरमाया।

व्याख्यान—अब भगवतीसूत्र के प्रथम शतक का दूसरा उद्देशक आरम्भ होता है। पहले उद्देशक के साथ दूसरे का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा गया है कि पहले उद्देशक में

दुःखों का वेदन
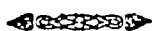
मूलपाठः—

प्रश्न—जीवे णं भंते ! सयंकडं दुखं वेएइ ?

उत्तर—गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-'अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ ?'

उत्तर—गोयमा ! उदिरणं वेएइ, अणुदिरणं नो वेएइ । से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ-'अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ ।' एवं चउवीसदंडएणं, जाव वेमाणिए ।

प्रश्न—जीवा णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेंति ?

उत्तर—गोयमा! अत्थेगइयं वेदेंति, अत्थेगइयं नो वेदेंति।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा! उदिण्णं वेदेंति, नो अणुदिण्णं वेदेंति। से तेणट्ठेणं, एवं जाव—वेमाणिया।

प्रश्न—जीवे णं भंते! सयंकडं आउयं वेएइ ?

उत्तर—गोयमा! अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ। जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा आउएण वि दो दंडगा—एगत्तपुहत्तिया, एगत्तेणं पुहत्तेण वि तहेव।

तत् तेनार्थेन एवमुच्यते–अस्त्येकक वेदयति, अस्त्येकक नो वेदयति ।' एव चतुर्विंशति-दण्डकेन, यावद्-वैमानिकः ।

प्रश्न—जीवा भगवन् ! स्वयकृतं दुःख वेदयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! अस्त्येकक वेदयन्ति, अस्त्येकक नो वेदयन्ति ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! उदीर्ण वेदयन्ति, नो अनुदीर्ण वेदयन्ति, तत् तेनार्थेन एव, यावद्-वैमानिका ।

प्रश्न—जीवो भगवन् ! स्वयकृतमायु वेदयति ?

उत्तर—गौतम ! अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येकक नो वेदयति । यथा दुःखेन द्वौ दण्डकौ तथाऽऽयुष्केणापि द्वौ दण्डकौ-एकत्वपृथक्त्वतो, एकत्वेन यावद् वैमानिकाः, पृथक्त्वेनाऽपि तथैव ।

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन् ! जीव स्वयंकृत दुःख-कर्म भोगता है ?

उत्तर-गौतम ! कुछ भोगता है, कुछ नहीं भोगता ।

प्रश्न-भगवन् ! सो किस प्रकार आप कहते हैं-'कुछ भोगता है कुछ नहीं भोगता ।'

उत्तर—गौतम? उदीर्ण-उदय में आये हुए-कर्म को भोगता है, अनुदीर्ण कर्म को नहीं भोगता। इस लिए कहा गया है—'कुछ भोगता है, कुछ नहीं भोगता।' इस प्रकार चौबीस दंडकों में, यावत्-वैमानिक तक समझना।

प्रश्न—भगवान्! जीव स्वयंकृत कर्म भोगते हैं?

उत्तर—गौतम! कुछ भोगते हैं, कुछ नहीं भोगते।

प्रश्न—सो किस कारण?

उत्तर—गौतम! उदीर्ण कर्म को भोगते हैं, अनुदीर्ण को नहीं भोगते, इस कारण ऐसा कहा है। इस प्रकार यावत् वैमानिकों तक समझना चाहिए।

प्रश्न—भगवान्! जीव स्वयंकृत आयु को भोगता है?

गौतम स्वामी ने स्वयंकृत (अपने किये) कहकर दूसरे द्वारा किये हुए दुःख को भोगने की बात हटाई है। इस प्रश्न द्वारा उन्होंने अन्य अनेक मतों के विधान का निषेध करके जैन धर्म की मान्यता प्रकट की है। किसी-किसी मत में यह स्वीकार किया गया है कि कर्म दूसरा करता है और उसका फल दूसरा भोगता है। गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उपस्थित करके इस मान्यता को हटाया है।

कदाचित् कोई यह आशंका करे कि दूसरे के किये कर्म, दूसरा नहीं भोगता, इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में शास्त्रकार का कथन यह है कि अगर ऐसा हो तो समस्त लौकिक और लोकोत्तर व्यवहार गड़बड़ में पड़ जाएँगे। यज्ञदत्त के भोजन करने से देवदत्त की भूख नहीं मिटती, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। यज्ञदत्त के निद्रा लेने से देवदत्त की थकावट नहीं मिटती, यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। देवदत्त के औषध सेवन से यज्ञदत्त का रोग नहीं मिटता, यह बात कौन नहीं जानता? जो भोजन करता है उसी की भूख मिटती है, जो सोता है उसी की थकावट दूर होती है और जो औषध का सेवन करता है वही निरोग होता है, यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि बच्चा-बच्चा जानता है। यह बात कर्म के सम्बन्ध में भी समझी जा सकती है। कहा भी है—

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अर्थात्—स्वयं आत्मा ने जो कर्म पहले उपार्जन किये हैं, उन्हीं कर्मों का शुभ या अशुभ फल वह आत्मा भोगता है। अगर दूसरे के किये हुए कर्मों का फल आत्मा भोगने लगे तो अपने किये कर्म निष्फल हो जाएँगे।

दूसरों के शुभ कर्म से सुख प्राप्त कर लेगा। किसी भी मनुष्य को मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी, क्योंकि उसे पर-कृत कर्मों का फल भोगना होगा। इस प्रकार उसके मोक्षसाधक सभी अनुष्ठान निष्फल हो जाएँगे। ऐसा होने से कृतकर्मनाश और अकृतकर्माभ्यागम दोष आएँगे अर्थात् किये कर्मों का फल न मिलना और बिना किये का फल मिलना, यह दोनों बाधाएँ उपस्थित होंगी। अतएव यही मानना अनुभव और युक्ति के अनुकूल है कि जीव अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगता है, पराये किये का नहीं।

कभी मत समझो कि कर्त्ता दूसरा है और आपत्ति हमारे सिर आ पड़ी है। बिना किया कोई भी कर्म भोगा नहीं जाता। यह संभव है कि अभी तुमने कोई कार्य नहीं किया है और फल भोगना पड़ रहा है, मगर यह फल तुम्हारे ही किसी समय किये कर्म का फल है। प्रत्येक कर्म का फल तत्काल नहीं मिल जाता। इसलिए हमारे किस कर्त्तव्य का फल किस समय मिलता है, यह चाहे समझ में न आवे. तथापि यह सुनिश्चित है कि तुम जो फल आज भोग रहे हो वह तुम्हारे ही किसी कर्म का है।

हम अपने ही किये कर्म का फल भोगते हैं, यह जान लेने पर शान्ति ही रहती है, अशान्ति नहीं होती। अपनी आँख में अपनी ही उँगली लग जाय तो उलहना किसे दिया जाय! उसे शान्तिपूर्वक सह लेने के सिवाय और क्या उपाय है? दूसरा उँगली लगाता तो उलहना दिया जा सकता था। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं—अगर कभी दूसरे की उँगली आँख में लग जाय, तो भी समभाव रखना चाहिए, क्योंकि

अर्थात्—स्वयं आत्मा ने जो कर्म पहले उपार्जन किये है, उन्हीं कर्मों का शुभ या अशुभ फल वह आत्मा भोगता है। अगर दूसरे के किये हुए कर्मों का फल आत्मा भोगने लगे तो अपने किये कर्म निष्फल हो जाएँगे।

कई लोग कहते हैं-लोक में यह देखा जाता है कि कोई कर्म करता है और दूसरा कोई उसका फल भोगता है। उदाहरणार्थ-इंग्लेण्ड और जर्मनी परस्पर युद्ध करते है, मगर उसका फल भारतवर्ष को भी भुगतना पड़ता है। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं कि यह समझ की कमी है। धर्म शास्त्र के ज्ञाता यही मानते है कि कर्त्ता द्वारा जो किया जाता है, वही कर्म कहलाता है। जिसे कर्त्ता नहीं करता वह कर्म ही नहीं है।

क्रियते इति कर्म।

अर्थात्—कर्त्ता द्वारा जो किया जाय, वह कर्म कहलाता है।

अगर नहीं किये हुए कर्म भोगे जाते हैं, तो किये हुए कर्म बिना फल के ही नष्ट भी हो जाएँगे। ऐसी स्थिति मे बड़ी गड़बड़ी मचेगी। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति ने शुभ कर्म किया और दूसरे ने अशुभ कर्म किया। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ है। अगर एक व्यक्ति दूसरे के कर्म का भी फल भोगता है तो उसे शुभ और अशुभ फल एक ही साथ भोगना पड़ेगा! दूसरे के कर्म का फल भोगने के कारण कोई भी प्राणी सुखी नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसे दूसरों के अशुभ कर्म भोगने पड़ेंगे। इसी प्रकार कोई भी जीव अशुभ कर्म करके भी दुःख नहीं भोगेगा, क्योंकि वह

दूसरों के शुभ कर्म से सुख प्राप्त कर लेगा। किसी भी मनुष्य को मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी, क्योंकि उसे पर-कृत कर्मों का फल भोगना होगा। इस प्रकार उसके मोक्षसाधक सभी अनुष्ठान निष्फल हो जाएँगे। ऐसा होने से कृतकर्मनाश और अकृतकर्माभ्यागम दोष आएँगे अर्थात् किये कर्मों का फल न मिलना और विना किये का फल मिलना, यह दोनों बाधाएँ उपस्थित होंगी। अतएव यही मानना अनुभव और युक्ति के अनुकूल है कि जीव अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगता है, पराये किये का नहीं।

कभी मत समझो कि कर्त्ता दूसरा है और आपत्ति हमारे सिर आ पड़ी है। विना किया कोई भी कर्म भोगा नहीं जाता। यह संभव है कि अभी तुमने कोई कार्य नहीं किया है और फल भोगना पड़ रहा है, मगर यह फल तुम्हारे ही किसी समय किये कर्म का फल है। प्रत्येक कर्म का फल तत्काल नहीं मिल जाता। इसलिए हमारे किस कर्त्तव्य का फल किस समय मिलता है, यह चाहे समझ में न आवे. तथापि यह सुनिश्चित है कि तुम जो फल आज भोग रहे हो वह तुम्हारे ही किसी कर्म का है।

हम अपने ही किये कर्म का फल भोगते हैं, यह जान लेने पर शान्ति ही रहती है, अशान्ति नहीं होती। अपनी आँख में अपनी ही उँगली लग जाय तो उलहना किसे दिया जाय! उसे शान्तिपूर्वक सह लेने के सिवाय और क्या उपाय है? दूसरा उँगली लगाता तो उलहना दिया जा सकता था। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं—अगर कभी दूसरे की उँगली आँख में लग जाय, तो भी समभाव रखना चाहिए, क्योंकि

दूसरा निमित्त मात्र है। वास्तव में तो जीव अपना किया कर्म ही भोगता है।

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ही गौतम स्वामी ने अपने किये हुए कर्म के विषय में प्रश्न किया है। पहला प्रश्न दुःख के सम्बन्ध मे किया गया है, अतः पहले यह देखना चाहिए कि दुःख किसे कहते हैं?

मगर इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व एक बात पर और विचार कर लेना आवश्यक है। वह यह है कि दुःख अगर अपने ही किये भोगे जाते हैं तो सुख किस का किया भोगा जाता है? इस का उत्तर यह है कि संसार के दुःख तो दुःख हैं ही, लेकिन संसार के सुख भी दुःख ही हैं। पर के संयोग से कभी सुख नहीं प्राप्त होता, दुःख ही होता है।

कहा जा सकता है कि संसार में साक्षात् सुख अनुभव किया जाता है, सभी सुख को जानते हैं, फिर उन्हें सुख न मानकर दुःख क्यों कहा गया है? इस सम्बन्ध में यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भोगोपभोग से प्राप्त होने वाला सुख, दुःख का कारण है। सुख भोगने से दुःख की दीर्घ परम्परा पैदा होती है। इसके अतिरिक्त वह सुख पराधीन है—भोग्य पदार्थों के, इन्द्रियों के और शारीरिक शक्ति के अधीन है। जहां पराधीनता है वहां दुःख है। उस सुख में निराकुलता नहीं है, व्याकुलता है, अतृप्ति है, भय है, उसका शीघ्र अन्त हो जाता है। उसकी मात्रा अत्यल्प होती है। इन सब कारणों से सांसारिक सुख, वास्तव में दुःखरूप है, दुःख

मूल है, दुःख-मिश्रित है। अतएव उसे सुख नहीं कहा जा सकता।

यहां आध्यात्मिक दृष्टि से वर्णन किया गया है। आत्मा की स्वाभाविक अनन्त शक्तियों का विकास तभी संभव है, जब संसार के असली दुःखमय स्वरूप को देखा और समझा जाय। अगर संसार के सुखाभास को सुख मान लिया, तो सांसारिक सुख का त्याग होना असम्भव हो जायगा। वास्तव में सांसारिक सुख, सुखाभास ही है। चन्दन का लेप करना, सुगन्धित पुष्पों की माला पहनना, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करना, यह सब दुःख हैं, इसमें सुख की भ्रान्ति हो रही है।

अगर वस्त्रों में सुख होता तो सर्दी में प्रिय और सुखद प्रतीत होने वाले वस्त्र गर्मी में भी प्रिय और सुखद प्रतीत होते। सर्दी में जो वस्तु सुखदायी है, वह गर्मी में सुखदायी क्यों न होगी? इससे पता चलता है कि वास्तव में बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है। उनमें सुख की कल्पना करना भ्रम मात्र है। जिन वस्त्रों को आप सुखरूप मानते हैं, उनमें कभी आग लग जाय तो कैसे लगेंगे?

'दुःखरूप!'

भूख में लड्डू सुख देने वाले मालूम पड़ते हैं; लेकिन भूख मिट जाने पर वही लड्डू आपको जबरदस्ती मार-मार कर खिलाए जाएँ तो कैसे लगेंगे?

'जहर सरीखे!'

अब जरा विचार करो कि जो लड्डू सुखदायी मालूम

होते थे, वही थोड़े समय बाद दुःखदायी कैसे प्रतीत होने लगे? लड्डू में अगर सुख देने का स्वभाव है तो वह प्रत्येक स्थिति में सुख क्यों नहीं देता? इससे यह स्पष्ट है कि लड्डू में सुख की कल्पना करना भ्रम है। वास्तविक बात यह है कि जब एक दुःख होता है तो उस दुःख के कारण दूसरा दुःख भी सुख प्रतीत होने लगता है। संसार में तो दुःख ही दुःख है। नरक से लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान तक यही बात है। संसार की जिस वस्तु में जितना अधिक सुख माना जायगा, उसके पीछे उतना ही अधिक दुःख लगा हुआ है। उदाहरणार्थ-चांदी के कड़ों में कम और सोने के कड़ों में अधिक सुख माना जाता है। अतएव चांदी के कड़ों के गुम जाने की अपेक्षा सोने के कड़े गुम जाने में अधिक दुःख है। इस प्रकार जिसे जितना ज्यादा आनन्द दायक मानोगे, वह उतना ही अधिक दुःखद सिद्ध होगा।

सारांश यह है कि संसार के सुख भी वस्तुतः दुःख ही हैं। किंपाक फल दीखने में बहुत सुन्दर और खाने में बहुत स्वादिष्ट होता है, पर उसका खाना मृत्यु को आमंत्रण देना है। उसे आप सुख मानेंगे या दुःख?

'दुःख!'

इसी प्रकार कर्म-मात्र दुःखरूप है, चाहे वह सातावेदनीय हो, या असातावेदनीय हो।

गौतम स्वामी का प्रश्न है कि जीव अपने किये कर्म भोगता है या नहीं भोगता? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया-किसी कर्म को भोगता है, किसी को नहीं भोगता।

इस संक्षिप्त उत्तर से, वस्तुस्थिति स्पष्ट न होते देख गौतम स्वामी ने फिर पूछा—भगवन् ! जीव किसी कर्म को भोगता है, किसी को नहीं भोगता, इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—गौतम ! कर्म की दो अवस्थाएँ हैं—उदयावस्था और अनुदयावस्था। जो कर्म उदीरणा द्वारा या स्वाभाविक रूप से उदय में आये हैं, उन्हें जीव भोगता है, और जो कर्म अब तक उदय में नहीं आये हैं, उन्हें नहीं भोगता। इस लिए सामान्य रूप में यही कहा जा सकता है कि जीव अपने किये कर्म भोगता भी है और नहीं भी भोगता है।

यहां यह आशंका हो सकती है कि जगत् में कर्मों के फल में कोई व्यवस्था नहीं देखी जाती। एक हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला और चोरी करने वाला व्यक्ति सुखमय जीवन व्यतीत करता है और इसके विपरीत अच्छे काम करने वाला धर्मात्मा गरीबी और मुसीबत की जिन्दगी विताता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि कर्मों का फल अवश्य होता है, अथवा अच्छे कर्मों का अच्छा फल और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलता है ?

इस शंका का समाधान करने के उद्देश्य से ही गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है और भगवान् ने उत्तर दिया है। पहले बतलाया गया है कि कर्म की दो अवस्थाएँ हैं—उदयावस्था और अनुदयावस्था। चोरी करना, झूठ बोलना और दूसरों को सताना पाप-कर्म है और उसका फल अशुभ ही हो सकता है, मगर ऐसे पापी के पापकर्म अभी उदय-अवस्था में नहीं आये हैं। वह अपने पहले किये हुए किसी शुभकर्म

का फल इस समय भोग रहा है, इसी कारण सुखी मालूम होता है। वर्त्तमान में किये जाने वाले अशुभ कर्मों की जब उदय-अवस्था होगी, तब उसे इनका फल भी अवश्य भोगना पड़ेगा। यही बात दुखी धर्मात्मा के विषय में लागू पड़ती है। इस समय अगर कोई धर्मनिष्ठ पुरुष दुखी है तो समझना चाहिए कि वह पहले किये हुए किसी अशुभ कर्म का फल भोग रहा है। उसके वर्त्तमानकालीन धर्म कार्यों का फल अभी नहीं हो रहा है। पहले के कर्म उदयावस्था में हैं और वर्त्तमान-कालीन कर्म अनुदय-अवस्था में हैं। जब वह उदयावस्था में आएँगे तो उनका अच्छा फल उसे अवश्य प्राप्त होगा।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवान्! क्या चौवीस दंडकों के सभी जीव इसी प्रकार अपने किये कर्म भोगते हैं? इसके उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—हाँ गौतम, इसी प्रकार भोगते हैं।

पहले प्रश्न में और इस प्रश्न में क्या अन्तर रहा? यह प्रश्न इसलिए किया गया है कि नरक के जीव को तो परमाधामी देव दुख देते हैं, फिर क्या वहाँ पर भी जीव अपने ही किये दुख भोगता है? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया है, इससे यह सिद्ध हुआ कि नरक के जीव भी अपने ही किये कर्मों का फल भोगते हैं। कोई भी जीव दूसरे के किये कर्म नहीं भोगता। परमाधामी जीव निमित्त-मात्र हैं। वास्तव में असली कारण तो अपने २ कर्म ही हैं।

गौतम स्वामी ने पहला प्रश्न एक जीव की अपेक्षा से किया था, अब वह बहुत जीवों की अपेक्षा कर रहे हैं। इस

प्रश्न के उत्तर में भी भगवान् ने 'हाँ' कहा है। अर्थात् जो उत्तर एक जीव के सम्बन्ध में है, वही बहुत जीवों के संबंध में भी है। और वह उत्तर यही कि बहुत जीव (सभी जीव) अपने ही किये कर्म का फल भोगते हैं और उदय-प्राप्त कर्म का फल भोगते हैं, अनुदय प्राप्त का फल नहीं भोगते। यह बात चौवीसों ही दंडकों के जीवों के लिये समान रूप से चरितार्थ होती है।

दुख या कर्म सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के पश्चात् गौतम स्वामी ने दूसरा प्रश्न किया कि:—भगवन्! जीव अपने किये आयुष्य को वेदता है? इसका उत्तर भगवान् फर्माते हैं— हे गौतम! जीव अपने उपार्जन किये आयुष्य को वेदता है, पर-कृत को नहीं वेदता।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि आयु-कर्म आठ कर्मों के अन्तर्गत है। अतएव समुच्चय रूप से कर्मों के विषय में जो प्रश्नोत्तर किया जा चुका है, वह आयुकर्म पर भी लागू होता ही है। उसी प्रश्नोत्तर से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव स्वयं-कृत आयु को भोगते हैं। तथापि यहाँ अलग प्रश्नोत्तर आयुकर्म के विषय में क्यों किया गया है?

इसका समाधान यह है कि लोक-भ्रम निवारण के लिये विशेष रूप से यह प्रश्नोत्तर किया गया है। महाभारत आदि ग्रन्थों में यह कल्पना पाई जाती है कि आयु भी दी और ली जा सकती है। इसके अतिरिक्त कई अज्ञान पुरुष अपनी आयु बढ़ाने के लिए बकरा मारते हैं और समझते हैं कि हमने उस की आयु ले ली है। इस प्रकार की मूढ़ता का निवारण करने के लिये भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपनी आयु

ही भोगी जाती है, दूसरे की आयु कोई नहीं भोग सकता। अपनी उपार्जन की हुई आयु में से भी किसी आयु का भोग होता है, किसी का नहीं होता। उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य यहाँ मौजूद है लेकिन उसने स्वर्ग की आयु बांध ली है। वह पहले बँधी मनुष्य-आयु को भोग रहा है और अभी बँधी देव-आयु को नहीं भोग रहा है—आगे भोगेगा, क्योंकि उसका उदय अभी नहीं आया है। चौवीसों दण्डकों के लिये आयु के विषय में यही बात समझनी चाहिए।

नारकी जीव सब समान है ?
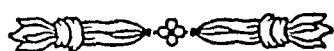
मूलपाठः—

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! सव्वे समाहारा, सव्वे समसरीरा, सव्वे समुस्सासनीसासा ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'नेरइया नो सव्वे समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सासनीसासा ?'

उत्तर—गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—महासरीरा य अप्पसरीरा य । तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति, बहुतराए पोग्गले परिणामेंति, बहुतराए पोग्गले

उस्ससंति, बहुतराए पोग्गले नीससंति; अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेंति अभिक्खणं उस्ससंति, अभिक्खणं नीससंति। तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारेंति, अप्पतराए पोग्गले परिणामेंति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति, अप्पतराए पोग्गले नीससंति, आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणमेंति, आहच्च ऊससंति, आहच्च नीससंति; से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ--नेरइया सव्वे नो समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सासनीसासा।'

संस्कृत-छाया-प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वे समाहारा, सर्वे समशरीरा, सर्वे समोच्छ्वास-निःश्वासा ?

उत्तर—गौतम ! नाऽयमर्थः समर्थः।

प्रश्न—तत्केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते—'नैरयिका नो सर्वे समाहाराः, नो सर्वे समशरीराः, नो सर्वे समोच्छ्वास--निःश्वासाः?'

उत्तर—गौतम ! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—महा-

शरीराश्च, अल्पशरीराश्च । तत्र ये ते महाशरीरास्ते बहुतरान् पुद्गलान् आहारयन्ति, बहुतरान् पुद्गलान् परिणामयन्ति, बहुतरान् पुद्गलान् उच्छ्वसन्ति बहुतरान् पुद्गलान् नि·-श्वसन्ति । अभिक्षणमाहारयन्ति, अभिक्षण परिणामयन्ति, अभिक्षणमुच्छ्वसन्ति, अभिक्षण नि श्वसयन्ति; तत्र ये ते अल्पशरीरास्ते अल्पतरान् पुद्गलान् आहारयन्ति, अल्पतरान् पुद्गलान् परिणामयन्ति, अल्पतरान् पुद्गलानुच्छ्वसन्ति, अल्पतरान् पुद्गलान् नि.श्वसन्ति, आहत्य आहारयन्ति, आहत्य परिणामयन्ति, आहत्योच्छ्वसन्ति, आहत्य नि·श्वसान्ति, तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते–'नैरयिका नो सर्वे समाहाराः, नो सर्वे समशरीराः, नो सर्वे समोच्छ्वासनि·श्वासा·' ।

मूलार्थ–प्रश्न—भगवन्! सब नारकी समान आहार वाले, समान शरीर वाले, तथा समान उच्छ्वास और निःश्वास वाले हैं ?

उत्तर—गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है–ऐसी बात नही है ।

प्रश्न—भगवन्! इस प्रकार आप किस हेतु से कहते हैं कि–'सब नारकी समान आहार वाले, समान शरीर और समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले नहीं हैं ?

उत्तर—गौतम! नारकी दो प्रकार के कहे गये है । वे इस प्रकार–बड़े शरीर वाले और छोटे शरीर वाले । इन

मे जो बड़े शरीर वाले हैं, बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, बहुत पुद्गलों को परिणामाते हैं, बहुत उच्छ्वास-निश्वास लेते हैं; बार-बार आहार करते हैं, बार-बार परिणामाते हैं, बार-बार उच्छ्वास तथा निश्वास लेते हैं। तथा उनमें जो छोटे शरीर वाले हैं, वे थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, थोड़े पुद्गलों को परिणामाते हैं, थोड़ा उच्छ्वास-निश्वास लेते हैं, कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् परिणामाते हैं. कदाचित् उच्छ्वास तथा निश्वास लेते हैं। इसलिए हे गौतम! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि–'सब नारकी समान आहार वाले, समान शरीर वाले, समान उच्छ्वास तथा नि:श्वास वाले नहीं हैं।'

व्याख्यान—श्रीगौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि-हे भगवन् ! नैरयिक दुख में पड़े है। उन सबका आहार समान ह ? वे समान शरीर वाले हैं ? और उन सबका श्वास तथा निश्वास भी एक सरीखा है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् कहते हैं-'नहीं गौतम! ऐसी बात नहीं है। सब नैरयिकों का आहार आदि समान नहीं है।' तब गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया-प्रभो! क्या कारण है ? सब नारकियों का आहार वगैरह समान क्यों नहीं है ? भगवान फर्माते हैं—गौतम! मैंने और भूतकाल के सर्वज्ञों ने दो प्रकार के नारकीय देखे हैं और उनका कथन भी किया है। कोई नेरिये महाशरीर वाले होते हैं, कोई अल्प-

शरीर वाले होते हैं। जब उनके शरीर में भिन्नता है तो आहार आदि में भिन्नता होना स्वभाविक है।

बड़ा और छोटा शरीर अपेक्षा से है। छोटे की अपेक्षा कोई वस्तु बड़ी कहलाती है और बड़ी की अपेक्षा छोटी कहलाती है। नारकियों का छोटे से छोटा शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना है और बड़े से बड़ा पाँच सौ धनुष बराबर है। यह दोनों प्रकार के शरीर भविधारणीय शरीर की अपेक्षा से कहे गये हैं। उत्तर विक्रिया की अपेक्षा शरीर के परिमाण में अन्तर पड़ जाता है। सारांश यह है कि पूर्वोक्त परिमाण शरीर का स्वाभाविक परिमाण है।

उत्तरवैक्रिय शरीर अर्थात् इच्छानुसार बड़ा या छोटा बनाया हुआ शरीर। जब इच्छापूर्वक बड़ा या छोटा शरीर बनाया जाता है तब वह छोटे से छोटा अंगुल के संख्यातवें भाग तक हो सकता है, इससे अधिक छोटा नहीं हो सकता। इसी प्रकार बड़े से बड़ा एक हजार धनुष का हो सकता है, इससे ज्यादा बड़ा नहीं हो सकता।

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है, उसमें पहले आहार की बात पूछी है, उसके बाद शरीर की बात पूछी है। मगर भगवान् ने पहले शरीर के सम्बन्ध में निरूपण किया है। इस व्यतिक्रम का कारण यह है कि शरीर का परिमाण बताये बिना आहार आदि के विषय में ठीक और सुबोध उत्तर नहीं दिया जा सकता था। शरीर का परिमाण बता देने पर ही आहार, श्वासोच्छ्वास आदि का ठीक परिमाण बतलाया जा सकता था। इसी कारण शरीर की बात बाद में पूछने पर

भी पहले बतलाई गई है और आहार का प्रश्न यद्यपि पहला था, तथापि उसका उत्तर पीछे दिया गया है।

बड़े शरीर वाला नैरयिक बहुत पुद्गलों का आहार करता है और छोटे शरीर वाला कम पुद्गलों का। यहां भी यही बात देखी जाती है कि बड़े शरीर वाला अधिक खाता है और छोटे शरीर वाला कम। इसके लिए हाथी और शशक (खरगोश) का उदाहरण दिया जा सकता है।

आहार का यह परिमाण भी सापेक्ष ही समझना चाहिए। अर्थात् बड़े शरीर वाले के आहार की अपेक्षा छोटे शरीर वाले का आहार कम है, और छोटे शरीर वाले के आहार की अपेक्षा बड़े शरीर वाले नारकी का आहार अधिक है।

यहां यह तर्क किया जा सकता है कि आपने इस लोक के प्राणियों का जो उदाहरण दिया है सो उससे कोई निश्चित नियम सिद्ध नहीं होता। कभी-कभी यह देखा जाता कि छोटे शरीर वाला बहुत आहार करता है और बड़े शरीर वाला कोई प्राणी अल्प आहार करता है। ऐसी अवस्था में आप का दृष्टान्त कैसे घट सकता है ?

इसका समाधान यह है कि बहुत-सी बातें प्रायिक कथन रूप होती हैं अर्थात् बहुत-अधिकांश-को दृष्टि में रख कर कही जाती है। कहीं-कहीं यह बात अवश्य देखी जाती है कि बड़े शरीर वाला कम और छोटे शरीर वाला अधिक आहार करता है। जुगलियों का शरीर अन्य मनुष्यों की अपेक्षा बड़ा होता है, लेकिन आहार उनका कम होता है। दूसरे मनुष्यों का शरीर जुगलियों की अपेक्षा छोटा होता है, मगर

आहार उनका अधिक होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी इस क्रम में अन्तर देखा जाता है। ऐसा होने पर भी प्रायः यह सत्य ही है कि बड़े शरीर वाले का आहार अधिक होता है। अपवाद सभी जगह पाये जाते हैं, मगर सामान्य विधान भी होते ही हैं। प्रस्तुत कथन बहुतों को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। अतएव बड़े शरीर वाला नारकी अधिक आहार करता है और छोटे शरीर वाला थोड़ा आहार करता है। कदाचित् नैरयिकों में भी आहार और शरीर का व्यतिक्रम कहीं पाया जाय, तोभी बहुतों की अपेक्षा यह कथन होने से निर्दोष है।

नरक के उन जीवों को, जो छोटे शरीर में उत्पन्न होते हैं, महात्रास नहीं होता और कुछ साता भी मिलती है। महा-शरीर वाले नारकियों को क्षुधा की वेदना भी अधिक होती है और ताड़ना तथा क्षेत्र आदि से उत्पन्न होने वाली पीड़ा भी अधिक होती है।

बड़े को जितनी ताड़ना होती है, उतनी छोटे को नहीं। यह कथन प्रसिद्ध ही है कि हाथी के पैर के नीचे और जीव तो दबकर मर जाते हैं, परन्तु चींटी प्रायः बच जाती है।

बड़े शरीर वालों का आहार भी बहुत होता है और परिणमन भी बहुत होता है। यह परिणमन आहार की अपेक्षा से है। इसी प्रकार बड़े शरीर वाले नैरयिक श्वास में बहुत पुद्गल ग्रहण भी करते हैं और निश्वास में बहुत पुद्गलों को छोड़ते भी हैं। बड़े शरीर वाले को वेदना ज्यादा होती है इस कारण उन्हें श्वासोच्छ्वास भी ज्यादा लेना पड़ता है। छोटे शरीर वाले को दुःख कम होता है, अत उनका श्वासोच्छ्वास भी कम होता है।

इस वाक्य में 'जे' और 'ते' पद आये हैं। इनके संबंध में यह आशंका की जा सकती है कि अकेले 'जे' कह देने से काम चल सकता था, फिर 'ते' कहने की क्या आवश्यकता थी ? इस शंका का उत्तर यह है कि भाषा के सौन्दर्य के लिए 'ते' पद का प्रयोग किया गया है।

भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम ! जिनका शरीर छोटा होता है, वह आहार कम लेता है और श्वासोच्छ्वास में भी कम पुद्गलों को ही ग्रहण करता है। इसके सिवाय कदाचित् आहार लेता है और कदाचित् नहीं भी लेता।

शंका—पहले उद्देशक में नारकी जीवों के वर्णन में, कहा गया है कि नारकी जीव निरन्तर आहार करते हैं। यहाँ कहा जा रहा है कि कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् नहीं करते। दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं। तब इनमें से किसे सत्य समझा जाय ?

समाधान—यह सारा कथन बड़े शरीर की अपेक्षा से है। इसके सिवाय जब जीव अपर्याप्त शरीर में होते हैं, तब लोम-आहार की अपेक्षा से आहार नहीं करते हैं, पर्याप्त शरीर वाले होने पर आहार करते हैं। इसी दृष्टि कोण से यह कहा गया है कि कदाचित् आहार करते हैं और कदाचित् आहार नहीं करते हैं।

उपर्युक्त सब कथन का आशय यह है कि सब नरक के जीव न तो समान आहार करते हैं, न समान श्वासोच्छ्वास ही लेते हैं, क्योंकि उनका शरीर अपेक्षा कृत छोटा बड़ा है।

— ——

समकर्मादि प्रश्नोत्तर

मूलपाठः—

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! सव्वे समकम्मा ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा, से तेणट्ठेणं गोयमा !०

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! सव्वे समवन्ना ?

उत्तर—गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न--से केणट्टेणं तह चेव० ?

उत्तर--गोयमा! जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धवन्नतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धवन्नतरागा, तहेव से तेणट्ठेणं एवं०-

प्रश्न--नेरइया णं भंते! सव्वे समलेस्सा?

उत्तर--गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न--से केणट्ठेणं जाव--'नो सव्वे समलेस्सा ?'

उत्तर--नेरइया दुविहा पराणत्ता, तंजहा-पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य; तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेस्सतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्ना ते णं अविसुद्ध-लेस्सतरागा, से तेणट्ठेणं०-

संस्कृत छाया-प्रश्न-नैरयिका भगवन् ! सर्वे समकर्माणः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! नैरायिका द्विविधाः प्रज्ञताः; तद्यथा—पूर्वोऽपन्नकाश्च पश्चादुपपन्नकाश्च । तत्र ये ते पूर्वोपपन्नकास्तेऽल्पकर्मतरकाः, तत्र ये ते पश्चादुपपन्नकास्ते महाकर्मतरकाः, तत् तेनार्थेन गौतम ! ०

प्रश्न—नैरायिका भगवन् ! सर्वे समवर्णाः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन—तथैव० ?

उत्तर—गौतम ! ये ते पूर्वोपपन्नकास्ते विशुद्धवर्णतरकाः, तत्र ये ते पश्चादुपपन्नकास्तेऽविशुद्धवर्णतरकाः, तथैव तत् तेनार्थेनैवम् ।

प्रश्न—नैरायिका भगवन् ! सर्वे समलेश्याः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन, यावत्—'नो सर्वे समलेश्या' !'

उत्तर—गौतम ! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञताः, तद्यथा—पूर्वोपपन्नकाश्च, पश्चादुपपन्नकाश्च । तत्र ये ते पूर्वोपपन्नकास्ते विशुद्धलेश्याः, तत्र ये ते पश्चादुपपन्नकास्तेऽविशुद्धलेश्याः । तत्तेनार्थेन—

मूलार्थ-प्रश्न-भगवन्! सब नारकी समान कर्म वाले हैं ?

उत्तर—गौतम! यह समर्थ नहीं है!

प्रश्न—भगवन्! किस कारण से ?

उत्तर—गौतम! नारकी जीव दो प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार-पूर्वोपपन्नक-पहले उत्पन्न हुए, और पश्चादुपपन्नक-पीछे उत्पन्न हुए। इनमें जो नैरयिक पूर्वोपपन्नक हैं वे अल्प कर्म वाले हैं और जो पश्चादुपपन्नक हैं वे महाकर्म वाले हैं। इसलिए हे गौतम! इस हेतु से यह कहा जाता है कि-'नारकी सब समान कर्म वाले नहीं हैं ?

प्रश्न—भगवन्! सब नारकी समान वर्ण वाले हैं ?

उत्तर—गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—भगवन्! सो किस कारण से ?-(ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान वर्ण वाले नहीं हैं ?)

उत्तर—गौतम! नारकी दो प्रकार के हैं-पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक। उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं वे विशुद्ध वर्ण वाले और जो पश्चादुपपन्नक हैं वे अविशुद्ध वर्ण वाले हैं। इस लिए गौतम! ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—भगवन् ! सब नारकी समान लेश्या वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—भगवन् ! किस कारण से कहा जाता है—यावत्—सब नारकी समान लेश्या वाले नहीं हैं ?

उत्तर—गौतम ! नारकी दो प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक। उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं वह विशुद्ध लेश्या वाले हैं, और उनमें जो पश्चादुपपन्नक हैं वह अविशुद्ध लेश्या वाले हैं। इस कारण ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान लेश्या वाले नहीं हैं।

व्याख्यान—नारकियों के आहार आदि के सम्बन्ध में प्रश्न कर चुकने के पश्चात् अब गौतम स्वामी ने कर्म के विषय में प्रश्न किया है कि क्या सभी नारकियों के कर्म समान हैं ? सभी नारकियों का वर्ण समान है ? सभी नारकियों की लेश्या समान है ? इन तीन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है—गौतम ! सब नारकियों के कर्म, वर्ण और लेश्या समान नहीं हैं। गौतम स्वामी ने इस असमानता का कारण पूछा, तब भगवान् ने उत्तर दिया कि—हे गौतम ! नरक के जीवों के दो भेद हैं—प्रथम वे जो पहले उत्पन्न हुए हैं, और दूसरे वे जो बाद में उत्पन्न हुए हैं। जो जीव नरक में पहले उत्पन्न हो चुके हैं, उन्होंने नरक की बहुत-सी स्थिति भोग ली है, उनके बहुत से कर्मों की निर्जरा हो चुकी है। इस कारण

वे अल्पकर्मी हैं। इसके विपरीत जो जीव बाद में उत्पन्न हुए हैं—हाल ही पैदा हुए हैं, उन्हें ब ुत कर्म भोगने हैं, इसलिए वे बहुकर्मी हैं।

भगवान् का यह कथन भी अपेक्षा से ही समझना चाहिए। मान लीजिए, एक जीव दस हजार वर्ष की स्थिति बाँधकर हाल ही नरक में उत्पन्न हुआ है। और दूसरा जीव कई सागर की स्थिति से, उससे बहुत पहले उत्पन्न हो चुका है। दस हजार की स्थिति वाला चाहे बाद में ही उत्पन्न हुआ है, फिर भी वह पूर्वोत्पन्न सागरोपम की स्थिाति वाले नारकी की अपेक्षा लघुकर्मी ही होगा। और पहले उत्पन्न होने वाला, सागरोपम की स्थिति वाला, दस हजार वर्ष की स्थिति वाले की अपेक्षा बहुकर्मी होगा। अगर दो जीव समान स्थिति बाँधकर नरक में गये हैं, तो उनमें से पहले उत्पन्न होने वाला लघुकर्मी होगा और पश्चात् उत्पन्न होने वाला बहुकर्मी होगा, क्योंकि पहले उत्पन्न हुए नारकी ने अपने अधिक कर्म भोग लिये हैं और पश्चात् उत्पन्न होने वाले ने कम भोगे हैं।

यही बात वर्ण के विषय में है। जिसने स्थिति का कुछ भाग भोग लिया है, उसका वर्ण शुद्ध होता है और जो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, उसने नहीं भोगा, इस कारण उसका वर्ण अशुद्ध होता है। अतएव जो जीव नरक में पहले उत्पन्न हो चुका है, उसका वर्ण शुद्ध है, जो बाद मे उत्पन्न हुआ है उसका वर्ण, पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा अशुद्ध है।

लेश्या के संबंध मे भी यही बात है। लेश्या से यहाँ भाव लेश्या को ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि द्रव्य लेश्या

वर्ण में आ चुकी है। इस प्रकार जो जीव नरक में पहले उत्पन्न हो चुका है उसकी भाव लेश्या पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा शुद्ध है और पश्चात् उत्पन्न होने वाले की भाव लेश्या पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा अशुद्ध है।

उदाहरणार्थ—एक मनुष्य पहले जेल गया और दूसरा बाद में गया। पहले जेल जाने वाला आरम्भ में घबराया होगा, मगर उसके कारावास के दिन व्यतीत होते जाते हैं, वैसे-वैसे उसे शान्ति मिलती है और उसकी लेश्या शुद्ध होती जाती है। लेकिन जो मनुष्य हाल ही जेल में गया है, उसे पहले वाले की भांति शान्ति नहीं हुई है; अतएव उसकी लेश्या अपेक्षाकृत अधिक अशुद्ध है।

यही बात नरक के जीव के लिए है। नरक के जीव की लेश्या भी अपेक्षाकृत ही शुद्ध और अशुद्ध बतलाई गई है। सामान्य रूप से तो नरक में अशुद्ध लेश्या ही पाई जाती है, मगर अधिक अशुद्ध की अपेक्षा कम अशुद्ध लेश्या को यहां शुद्ध लेश्या कहा है।

शुद्ध और अशुद्ध लेश्या किसे समझना चाहिए, इस बात पर संक्षेप में विचार किया जाता है। हमारे अन्तःकरण में जो भावना, वासना या इच्छा होती है, वह लेश्या कहलाती है।

सुना गया है कि वैज्ञानिक आज कल मन की भावनाओं का भी फोटो लेते हैं। कहा जाता है कि पहले फोटोग्राफरों को यह पता नहीं था कि मन के विकल्पों का चित्र खींचा जा सकता है, मगर एक घटना ऐसी घटी कि जिस

से यह पता चल गया। एक अंगरेज सज्जन ने एक महिला का चित्र खींचा। उसमें महिला के साथ मुर्गी के बच्चे और बिल्ली का भी फोटो आ गया, क्योंकि महिला उनके सम्बन्ध में उस समय विचार कर रही थी। तभी यह पता लगा कि मन की भावनाओं का भी चित्र अंकित हो सकता है। मगर यह नहीं कहा जा सकता कि मानसिक भावना में किस कोटि की उग्रता हो तब उनका चित्र आता है, अन्यथा नहीं।

कहते हैं कि जिसके विचार अशुद्ध और क्रूर होते हैं, उसका फोटो भी भद्दा आता है। स्वार्थहीन, उदार तथा शुद्ध विचार वाले का फोटो साफ आता है।

जैन शास्त्रों में उन्हीं मानसिक भावों के लिए लेश्या का निरूपण किया गया है और उनकी शुद्धता-अशुद्धता को देखकर विशिष्ट ज्ञानियों ने उनके कृष्ण, नील आदि छह भेद भी बताये हैं। उत्तराध्ययन और प्रज्ञापना सूत्र में लेश्याओं का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वहाँ उनके वर्ण, गंध, रस आदि का भी निरूपण किया है।

जिसके मन में जैसे विचार होते हैं, वैसे ही परमाणु उसके आ चिपटते हैं। जिसके मन में किसी की हत्या करने की भावना होगी, उसके काले और काले में भी अत्यन्त भद्दे पुद्गल आ चिपटेंगे। तात्पर्य यह है कि खोटे परिणाम होने पर रंग भी खोटा हो जाता है।

विज्ञान की अनेक उपयोगी बातें जैन शास्त्र में पहले ही बतला दी गई हैं, लेकिन आज वह बातें शास्त्र के पन्नों में ही पड़ी हुई हैं। यह हम लोगों की कमजोरी या उपेक्षा है। आज

धर्मशास्त्र को गहराई से अध्ययन करने वाले और साथ ही विज्ञान के पारंगत पंडित हमारे यहाँ नहीं है। अतएव उन सब शास्त्रीय बातों पर यथेष्ट वैज्ञानिक प्रकाश नहीं पड़ता।

लेश्याएँ छह हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) पीत (५) पद्म और (६) शुक्ल। इनमें से जब कोई मनुष्य कृष्ण लेश्या को त्याग कर नील लेश्या मे आता है, तब शास्त्रकारों के कथनानुसार वह कापोत लेश्या की अपेक्षा अधिक अशुद्ध है, मगर कृष्ण लेश्या की अपेक्षा शुद्ध ही है। उसमें अपेक्षाकृत अधिक उदारता और शुभ विचार आ गये हैं। लेश्या के परिणामों की तरतमता समझाने के लिए एक उदाहरण इस प्रकार है:—

छह आदमी एक साथ जा रहे थे। उन्हें भूख लगी तो वे इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगे। उन्हें एक फला हुआ आम का वृक्ष दिखाई दिया। सबने आम खाने का निश्चय किया। यहां तक सबके विचारों में समानता है, मगर आगे उनके विचारों में अन्तर पड़ जाता है। छहों में इस प्रकार वार्त्तालाप होने लगा।

पहले ने कहा—अपने पास कुल्हाड़ी भी है और अपन इतने आदमी हैं कि दो-दो हाथ मारते ही आम का पेड़ कट कर गिर जायगा। तब हम लोग मन चाहे आम खा लेगें।

थोड़े-से आम खाने हैं, मगर परम्परा तक वृक्ष काट गिराने से कितनी हानि होगी, इस बात का विचार इस आदमी को नहीं है।

दूसरे आदमी ने कहा—यह वृक्ष न जाने कितने दिन

में लगकर तैयार हुआ है, अतएव इसे काट डालना ठीक नहीं है पेड़ तो हम लोगों को खाना नहीं है। आम खाने हैं। आम मोटी-मोटी डालियां काटने से भी मिल सकते हैं। इसलिये यह डालियां काट लेना चाहिए।

तीसरे ने कहा-पहले आदमी की अपेक्षा तुम्हारा कहना ठीक है, लेकिन वास्तव में तुम्हारा कहना भी ठीक नहीं। बड़ी-बड़ी ड लियां काटने से लकड़ियों और पत्तों का ढेर लग जायगा। आम छोटी-छोटी डालियों में लगे हैं, इसलिये छोटी डालियाँ ही काटना चाहिए। इससे लकड़ियों और पत्तों का ढेर भी नहीं लगेगा और अगले वर्ष तक वह डालियां फिर फूट निकलेगी।

चौथे ने कहा—तुम्हारी बात भी ठीक नहीं जँचती। छोटी-छोटी डालियाँ काटने से भी लकड़ी पत्तों का ढेर हो जायगा और दूसरों को लाभ न पहुंचेगा। हमें फल खाने से मतलब है, इसलिए फलों के गुच्छे ही तोड़ लो।

पाँचवें ने कहा—यह भी स्वार्थ बुद्धि की बात है। फल खाना क्या तुम्हीं जानते हो, दूसरे नहीं? अगर तुम्हारी ही तरह पहले आने वालों ने विचार किया होता-सब कच्चे पके फल तोड़ लिये होते-तो आज तुम्हें ये फल कहां से मिलते? इसलिए कच्चे फल रहने दो। पके-पके तोड़ लो।

छठे ने कहा—औरों से तुमने ठीक कहा है, पर आम का यह वृक्ष बहुत बड़ा है। इसमें पके फल बहुत अधिक हैं। हम लोग सभी फल नहीं खा सकेंगे। फिर सब पके फल तोड़ने से क्या लाभ है? तुम लोग जितने फल खा सको

उतने ले लो उससे अधिक लेने का तुम्हें क्या अधिकार है? आम का वृक्ष प्रकृति से ही इतना उदार है कि वह पके फल अपने ऊपर नहीं रखता। सर्वसाधारण के उपभोग के लिए उन्हें त्याग देता है। सो तुम नीचे गिरे हुए पके फलों से ही काम चला सकते हो। अधिक फल बिगाड़ने से क्या लाभ है।

यहां छहों आदमियों के विचार आम खाने के होने पर भी छह प्रकार के विचार हुए। इसी प्रकार संसार के मनुष्य भी छह प्रकार के होते हैं। कई अपने आराम के लिए दूसरों की जड़ काट देते हैं और कई दूसरों को हानि न पहुंचाते हुए अपनी जीविका का निर्वाह कर लेते हैं। अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए महा आरंभ करना और दूसरों को हानि पहुंचाना कृष्ण लेश्या है। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों आरंभ कम होगा, दूसरे की दया होगी, हृदय में उदारता होगी त्यों-त्यों लेश्या भी शुद्ध होती जायगी। कृष्ण लेश्या से निकलने पर नील लेश्या, और नील लेश्या से निकलने पर कापोत लेश्या होती है। कापोत लेश्या से ऊँचे उठने पर तेजो (पीत) लेश्या, तेजो लेश्या से पद्म लेश्या और पद्म लेश्या से भी ऊपर शुक्ल लेश्या होती है। तेजो लेश्या से धार्मिकता आरंभ होती है। इन लेश्याओं के भी अवान्तर भेद अनेक हैं, परन्तु मुख्य भेद यही हैं। लेश्याओं का यह वर्णन सुनकर आप अपनी कसौटी कीजिए। देखिए, आप किस लेश्या में हैं और किस प्रकार शुद्धता बढ़ाकर आत्म-शुद्धि प्राप्त करनी चाहिए। इसीलिए शास्त्रों में लेश्या का वर्णन किया गया है।

प्रश्न--से केणट्ठेणं ?

उत्तर--गोयमा ! नेरइया तिविहा पण्णत्ता। तंजहा-सम्मादिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छ-दिट्ठी; तत्थ णं जे ते सम्मादिट्ठी तेसिं णं चत्तारि किरियाओ पन्नत्ता। तंजहा--आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया। तत्थ णं जे ते मिच्छादिट्ठी तेसिं णं पंच किरीयाओ कज्जंति, तंजहा--आरंभिया जाव मिच्छादंसण-वत्तिआ। एवं सम्मा मिच्छादिट्ठीणं पि से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०।

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! सव्वे समाउआ सव्वे समोववन्नगा ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! नेरइया चउव्विहा

समवेदनादि प्रश्नोत्तर

मूलपाठः—

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा-सण्णिभूआ य, असण्णिभूआ य; तत्थ णं जे ते सण्णिभूआ ते णं महावेयणा, तत्थ णं जे ते असण्णिभूआ ते णं अप्पवेयणतरागा से तेणट्ठेणं गोयमा !०

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

समवेदनादि प्रश्नोत्तर

मूलपाठः—

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा-सण्णिभूआ य, असण्णिभूआ य; तत्थ णं जे ते सण्णिभूआ ते णं महावेयणा, तत्थ णं जे ते असण्णिभूआ ते णं अप्पवेयणतरागा से तेणट्ठेणं गोयमा !०

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! सव्वे समाकिरिया ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न---से केणट्ठेणं ?

उत्तर---गोयमा ! नेरइया तिविहा पण्णत्ता। तंजहा-सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छ-दिट्ठी; तत्थ णं जे ते सम्मादिट्ठी तेसिं णं चत्तारि किरियाओ पन्नत्ता। तंजहा--आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया। तत्थ णं जे ते मिच्छादिट्ठी तेसिं णं पंच किरीयाओ कज्जंति, तंजहा--आरंभिया जाव मिच्छादंसण-वत्तिआ। एवं सम्मा मिच्छादिट्ठीणं पि से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०।

प्रश्न---नेरइया णं भंते ! सव्वे समाउआ सव्वे समोववन्नगा ?

उत्तर---गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न---से केणट्ठेणं ?

उत्तर---गोयमा ! नेरइया चउव्विहा

पन्नता, तंजहा—अत्थेगइआ समाउआ समोववन्नगा, अत्थेगइआ समाउआ विसमोववन्नगा, अत्थेगइआ विसमाउआ समोववन्नगा, अत्थेगइआ विसमाउआ विसमोववन्नगा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०।

संस्कृत- छाया--प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वे समवेदनाः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः !

प्रश्न—तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-संज्ञिभूताश्च, असंज्ञिभूताश्च तत्र ये ते संज्ञिभूतास्ते महावेदनाः, तत्र ये ते ऽसंज्ञिभूतास्ते ऽल्पवेदनाः, तत्तेनार्थेन गौतम ! ० ।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वेसमक्रिया ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! नारकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टिः, तत्र ये ते सम्यग्दृष्टयस्तेषां

चतस्त्रः क्रियाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानक्रिया । तत्र ये ते मिथ्यादृष्टयस्तैः पञ्च क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा-आरम्भिकी यावद् मिथ्यादर्शनप्रत्यया, एव सम्यग्मिथ्यादृष्टिनामपि, तत् तेनार्थेन गौतम ! ० ।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वे समायुष्काः, सर्वे समोपपन्नकाः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! नारकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-अस्त्येकका: समायुष्काः समोपपन्नकाः, अस्त्येककाः समायुष्का विषमोपपन्नकाः, अस्त्येकका विषमायुष्काः समोपपन्नकाः, अस्त्येकका विषमायुष्का विषमोपपन्नकाः । तत् तेनार्थेन गौतम ! ० ।

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन् ! सब नारकी समान वेदना वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह समर्थ नहीं है ।

प्रश्न—भगवन् ! किस कारण से ?

उत्तर—गौतम ! नारकी दो प्रकार के कहे गये हैं । वह इस प्रकार-संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत । उनमें जो

संज्ञिभूत हैं वे महावेदना वाले हैं। उनमें जो असंज्ञिभूत हैं वे अल्पवेदना वाले हैं। इस कारण गौतम! (ऐसा कहा जाता है कि-सब नारकी समान वेदना वाले नहीं हैं।)

प्रश्न—भगवन्! सब नारकी समान क्रिया वाले हैं?

उत्तर—गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—भगवन्! सो किस कारण से?

उत्तर—गौतम! नारकी तीन प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें चार क्रियाएँ कही गई हैं। वे इस प्रकार-आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानक्रिया। और जो मिथ्यादृष्टि हैं उन्हें पांच क्रियाएँ होती हैं। वे इस प्रकार-आरंभिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यादृष्टि को भी समझना चाहिए। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान क्रिया वाले नहीं हैं।

प्रश्न—भगवन्! सब नारकी समान आयुष्य वाले और समोपपन्नक (एक साथ उत्पन्न होने वाले) हैं?

उत्तर—गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—भगवन्! किस कारण से?

उत्तर—गौतम ! नारकी चार प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार—कोई कोई समान आयु वाले और एक साथ ही उत्पन्न होने वाले है, कोई-कोई समान आयु वाले परन्तु विषमोपपन्नक-आगे-पीछे उत्पन्न होने वाले हैं। कोई-कोई विषम आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले हैं और कोई-कोई विषम आयु वाले तथा आगे-पीछे उत्पन्न होने वाले हैं। इस कारण गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं।

व्याख्यान—लेश्या संबंधी प्रश्नोत्तर के पश्चात् गौतम-स्वामी ने वेदना के विषय में प्रश्न किया है। वह पूछते हैं—भगवन् ! क्या सभी नरक के जीवों को एक सरीखी वेदना होती है ? भगवान ने इस प्रश्न का उत्तर निषेध में दिया है। तब गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं-भगवन् ! क्या कारण है कि नरक के सब जीवों को एक-सरीखी वेदना नहीं होती ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—नारकी जीवों में कोई संज्ञिभूत होते हैं और कोई असंज्ञिभूत होते हैं। संज्ञिभूत नारकियों को बहुत वेदना होती है। और असंज्ञिभूत नारकियों को अल्प वेदना होती है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत किसे कहते हैं ? इस संबंध में टीकाकार का कथन है कि संज्ञी का अर्थ है-सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध श्रद्धा। सम्यग्दर्शन

वाले जीव को संज्ञी कहते हैं और जिन्हें संज्ञीपन प्राप्त हुआ है, उसे संज्ञिभूत कहते हैं।

संज्ञिभूत का दूसरा अर्थ है-जो पहले असंज्ञी (मिथ्यादृष्टि) थे और अब संज्ञी (सम्यग्दृष्टि) हो गये हैं, अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन रूप जन्म मिला है, नरक में ही जो मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दृष्टि हुए हैं, वे संज्ञी कहलाते हैं। संज्ञिभूत को बहुत वेदना होती है।

यह आशंका की जा सकता है कि सम्यग्दृष्टि को कम वेदना होनी चाहिए परन्तु यहां अधिक वेदना बतलाई गई है। इसका क्या कारण है? इस आशंका का समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टि जब नरक में जाता है या नारकी को जब सम्यग दर्शन हो जाता है तब वह अपने पूर्वकृत कर्मों का विचार करता है और सोचता है:-'अहो! मैं कैसे घोर संकट में आ पड़ा हूं! यह संकट अचानक ही आ गया है। भगवान् अर्हन्त का धर्म सब संकट टालने वाला और परमानन्द देने वाला है, उसका मैं ने आचरण नहीं किया। इसी कारण यह अचिन्तित आपदा आ पड़ी है। मैं विषय रूपी विष के लालच में फस गया, जो ऊपरी दृष्टि से अच्छे प्रतीत होते थे, मगर जिनका परिणाम अत्यन्त दारुण है! इन विषयों के जाल में फस जाने के कारण ही मैंने अर्हन्त भगवंत के धर्म का आचरण नहीं किया। और अब इस घोर विपदा में पड़ा हूं' इस प्रकार का पश्चात्ताप संज्ञिभूत नारकी को होता है जिससे उसकी मानसिक वेदना ग्लानि और क्षोभ बढ़ जाता है और वह महान् वेदना का पात्र होता है।

असंज्ञिभूत को यह मालूम ही नहीं कि 'हम अपने कर्म

का फल भोग रहे हैं।' अतएव उन्हें पश्चात्ताप नहीं होता और न मानसिक पीड़ा ही होती है। इसी कारण असंज्ञिभूत को कम वेदना होती है।

यह बात लोक व्यवहार में भी देखी जाती है। कोई कुलीन तथा बुद्धिमान् पुरुष, अपने पूर्वजों की सुशिक्षा को जानता हो, उस पर श्रद्धा भी रखता हो, और कुमार्ग से घृणा करता हो, तथापि कभी किसी के बहकाने—फुसलाने में आकर अगर कोई नीति-विरुद्ध काम कर डालता है, और कदाचित् उसे कारागार की सज़ा मिलती है तो उसके पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती। आत्मग्लानि की घोर वेदना से वह बेचैन रहता है। कारागार के कभी-कभी होने वाले कष्टों की अपेक्षा आत्मग्लानि और पश्चात्ताप का कष्ट उसके लिए बहुत अधिक और असह्य हो जाता है। इसके विपरीत जो, अकुलीन और निर्लज्ज हैं, उनके लिए कारागार सुसराल बन जाता है। उन्हें न पश्चात्ताप होता है, न ग्लानि होती है। वे वहाँ मस्त और प्रसन्न रहते हैं। ऐसे लोगों को कारागार में कम कष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि को वेदना अधिक होती है, क्योंकि उसे पश्चात्ताप अधिक होता है और असंज्ञिभूत अर्थात् मिथ्यादृष्टि को कम वेदना होती है क्योंकि स्वकृत कर्म को न जानने से उन्हें पश्चात्ताप नहीं होता। यह एक आचार्य का अभिप्राय है।

बहुत से लोगों को अपने विषय में ही यह नहीं मालूम होता है कि—मैं सम्यग्दृष्टि हूं। इस बात को जानने के लिए अपने आत्मा को अपने ही गज से नापना चाहिए। जिस

आत्मा को आरंभ, परिग्रह और संसार के विषय भोग अरुचिकर मालूम न हों—बुरे न लगें—समझना चाहिए कि वह मिथ्यादृष्टि है। और कषाय के उदय से चाहे आरंभ-परिग्रह छूटे न हों, लेकिन उन पर आन्तरिक अरुचि बनी रहे, भीतर ही भीतर उनके प्रति घबराहट होती हो, तो समझना चाहिए कि वह आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

कुछ लोगों का यह कथन है कि सम्यग्दृष्टि नरक में नहीं जाता, मगर जिन्होंने सम्यक्त्व प्राप्त करने से पहले ही नरकायु का बंध कर लिया हो, वह नरक में अवश्य जाता है। नरक में जाने पर भी वह शुक्ल पक्षी होता है और उसे अपने कृत कर्मों पर पश्चात्ताप होता है।

संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत के विषय में किसी-किसी आचार्य का मत भिन्न है। उनका कहना है कि संज्ञिभूत का अर्थ यहाँ संज्ञी पंचेन्द्रिय ही है। अर्थात् जो नरक जाने से पूर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय थे, उन्हें यहाँ संज्ञिभूत कहा गया है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में तीव्र अशुभ परिणाम होते हैं, इसलिए वह सातवें नरक तक जा सकते हैं। जो जीव आगे के नरक में जाते हैं उन्हीं को अधिक वेदना होता है। और नरक में जाने से पहले जो असंज्ञी थे, उन्हें यहाँ असंज्ञिभूत कहा गया है। ऐसे जीव रत्नप्रभा नामक कम वेदना वाले नरक में ही उत्पन्न होते हैं, अतएव उन्हें कम वेदना होती है।

अथवा—यहाँ संज्ञिभूत का अर्थ पर्याप्त और असंज्ञिभूत का अर्थ अपर्याप्त भी है। जिसकी छह पर्याप्तियाँ पूर्ण हो गई हों वह पर्याप्त कहलाता है और जिसने अभी तक उन्हें पूर्ण न किया हो उसे अपर्याप्त कहते हैं। संज्ञिभूत अर्थात् पर्याप्त को

अधिक वेदना होती है और असंज्ञिभूत अर्थात् अपर्याप्त को कम वेदना होती है।

विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई इन भिन्न भिन्न व्याख्याओं को जानने से यह शंका उठना स्वभाविक है कि इनमें से किसे वास्तविक माना जाय? वास्तव में संज्ञिभूत का अर्थ क्या है? इस शंका का समाधान यह है कि पूर्वोक्त सभी अर्थ ठीक हैं। उनमें मिथ्या कोई नहीं है। जो अर्थ जिस अपेक्षा से किया गया है वह उस अपेक्षा से ठीक ही है। जैनधर्म अनेकान्तवादी है इसलिए एकान्त का हठ नहीं करना चाहिए।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं-क्या समस्त नारकी समान क्रिया वाले हैं? भगवान् ने उत्तर दिया-नहीं। गौतम स्वामी द्वारा कारण पूछने पर भगवान् ने फर्माया—गौतम! नारकी तीन प्रकार के हैं।

कुछ आदमियों को काल कोटरी में देखकर, देखने वाला समझने लगता है-इन सब की क्रिया समान ही है, क्योंकि इनका रहन-सहन और खान-पान समान हैं। इसी प्रकार नरक के जीवों की क्षेत्र-वेदना आदि समान दीखती है, अतः यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या नारकी जीवों की क्रिया समान है?

भगवान् कहते हैं—नरक के जीव तीन प्रकार के हैं—एक सम्यक्-दृष्टि, दूसरे मिथ्यादृष्टि और तीसरे सम्यक्-मिथ्यादृष्टि। नारकी जीव तीन प्रकार के हैं, इसलिए उनकी क्रियाएँ भी एक सरीखी नहीं हैं।

'क्रिया' शब्द का अर्थ यहाँ कर्म-बंधन का कारण

रूप क्रिया है। अर्थात् जिसे करने से आत्मा, कर्म में लिप्त हो, वह क्रिया है।

क्रिया करने वाला कर्त्ता कहलाता है और कर्त्ता द्वारा किया जाने वाला कार्य क्रिया कहलाता है। कल्पना कीजिए, एक व्याध धनुष-बाण लेकर किसी पशु को मार रहा है। यहाँ व्याध कर्त्ता है, पशु कर्म है, मारना क्रिया है और धनुष-बाण करण है। यहाँ नैरयिक कर्त्ता है। वे जिस कार्य द्वारा कर्म-पुद्गलों से लिप्त होते हैं, वह क्रिया है। यहाँ इसी क्रिया के संबंध में प्रश्न किया गया है।

कर्म को रोकने के लिए क्रिया रोकनी पड़ती है। क्रिया रोके बिना कर्म नहीं रुकते। इसी लिए श्रावक को 'क्रिया-कर्म-बंध-कुशल' कहा जाता है। जो व्यक्ति क्रिया-कर्म और बंध को जानने में कुशल होगा, वह अल्प क्रिया करेगा। श्रावक को ऐसा ही होना चाहिए।

भगवान् कहते हैं--सब नैरयिकों की क्रिया समान नहीं है। नारकियों में जो सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें चार ही क्रियाएँ लगती हैं।

कर्म-बंध के कारण रूप होने वाली क्रियाएँ पाँच हैं। उनमें पहली आरंभिया क्रिया है। पृथिवीकाय आदि जीवों का हनन करना ही आरंभिया क्रिया है। हल कुदाली से पृथ्वी को खोदना, यही क्रिया है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि नारकी जीवों के पास न हल है, न कुदाली है, फिर भी उन्हें यह क्रिया लगती है। आत्मा में प्रमाद--असावधानी आना ही क्रिया का प्रधान अंग है।

दूसरी पारिग्रहिकी क्रिया है। धर्मोपकरणों को, जो धर्म की साधना के लिए ही रखे जाते हैं, छोड़कर अन्य समस्त पर-पदार्थ परिग्रह हैं और उन पर ममता होना परिग्रह है। धर्मोपकरणों पर भी अगर मूर्छा होती है तो वह भी परिग्रह हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्र में कहा है:—

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो

अर्थात्—मूर्छा ही परिग्रह है। इसलिए साधु को अपने शरीर पर भी ममता का भाव नहीं रखना चाहिए।

मूर्छा रखना ही परिग्रह है, इतना मात्र कह दिया जाय और 'धर्मोपकरणों के अतिरिक्त' न कहा जाय तो क्या हानि है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इससे व्यवहार में गड़बड़ी होगी। साधु लोग ममत्व न करके रुपये-पैसे रखने लग जाते। इस प्रकार की गड़बड़ न उत्पन्न होने देने के लिए यह स्पष्ट किया है कि धर्मोपकरणों के अतिरिक्त साधु को और कोई भी पदार्थ नहीं रखना चाहिए। धर्मोकरण भी सकारण ही रखे जाते हैं। बिना धार्मिक प्रयोजन के रक्खी जाने वाली प्रत्येक वस्तु परिग्रह है। कदाचित् कोई यह कहे कि अमुक वस्तु मैंने रक्खी है, पर उसके ऊपर मुझे ममता नहीं है, तो उससे पूछना चाहिए कि धर्म के प्रयोजन में न आने पर भी उसे किस कारण रक्खा है? ममता के अभाव में उस वस्तु को रखने का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। इसलिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि धर्मोपकरण के सिवाय और सब पदार्थ परिग्रह है। अगर धर्मोपकरण में ममता हुई तो वह भी परिग्रह है। धर्मोपकरण की मर्यादा भी शास्त्र में बतलादी गई है। शास्त्र में, साधु के लिए शास्त्र रखना कहाँ लिखा? इस प्रश्न

का उत्तर यह है कि शास्त्र रखना जीत—आचार है भगवान ने कहा है कि पाँच आचार्य मिल कर जिस आचार की स्थापना करें और जो लोक एवं लोकोत्तर व्यवहार के विरुद्ध न हो वह जीत-व्यवहार कहलाता है। इस प्रकार से स्थापित किया हुआ आचार प्रामाणिक होता है।

तीसरी क्रिया मायाप्रत्ययिकी है। सरलता का भाव न होना—कुटिलता का होना माया है। क्रोध और मान आदि कषाय माया के उपलक्षण हैं, अतएव इनकी गणना भी माया में ही समझना चाहिए। अतएव काम, क्रोध, मान, मोह आदि माया के अन्तर्गत हैं। काम, क्रोध आदि के निमित्त से मायावत्तिया (मायाप्रत्ययिकी) क्रिया होती है।

चौथी क्रिया अप्रत्याख्यान क्रिया है। कर्म बंध के कारण का त्यागन करना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

कई लोगों का कथन है कि अगर हम जान-बूझकर कोई काम नहीं करते, अनजान में कोई काम हो जाता है, तब क्रिया कैसे लग सकती है? इसका समाधान यह है कि गफलत के कारण क्रिया लगती है। गफ़लत न करके, अगर मर्यादा कर ली जाय तो क्रिया नहीं लगती। गफ़लत करने वाले को सज़ा मिलती ही है।

पांचवी मिथ्यादर्शन क्रिया है। अजीव को जीव, जीव को अजीव, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु और असाधु को साधु समझना, इस प्रकार विपरीत दृष्टि होना मिथ्यादर्शन है। इसके निमित्त से लगने वाली क्रिया, मिथ्यादर्शन क्रिया कहलाती है।

भगवान् फ़र्माते हैं—सम्यग्दृष्टि को पहली चार क्रियाएँ लगती हैं, मिथ्यादर्शन की क्रिया नहीं लगती है।

यहाँ यह विचारणीय है कि नैरयिकों के पास हल, कुदाली आदि आरंभ के साधन विद्यमान नहीं है, फिर भी उन्हें आरंभिकी क्रिया क्यों लगती है? उन्हें इस क्रिया के लगने का कारण उपयोग का अभाव है। बाह्य परिग्रह भी उनके पास नहीं है, पर ममता के कारण परिग्रहिकी क्रिया उन्हें लगती है। नरक के जीव घोर दुःख मे पड़े हैं। वे मायाचार क्या करते हैं? मगर वे क्रोध करते हैं, इस कारण मायावत्तिया क्रिया उन्हें लगती है। उन्हें भोग-विलास प्राप्त नहीं हैं और न प्राप्त होने की अनुकूलता ही है, लेकिन उन में मोह विद्यमान है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम नहीं हुआ है, इस कारण वह प्रत्याख्यान नहीं कर सकते। प्रत्याख्यान न करने से उन्हें अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है।

शंका—शास्त्र मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को कर्मबंध का कारण बतलाया है। मगर यहाँ आरंभ आदि को कर्मबंध का कारण कहा है। सो दोनों कथन परस्पर विरोधी क्यों न माने जाएँ?

समाधान—दोनों कथनों में तात्विक विरोध तनिक भी नहीं है। एक जगह योग को कारण कहा है, दूसरी जगह आरम्भ-परिग्रह को कारण बतलाया है। यह दोनों योग के अन्तर्गत हैं। शेष दोनों ओर तीन-तीन रहे। एक ओर मिथ्यात्व, अविरति और कषाय हैं, दूसरी ओर मिथ्यादर्शन,

अप्रत्याख्यान और माया है। इन में लेशमात्र भी विरोध नहीं है। अतएव शब्दों का किंचित् भेद होने पर भी वस्तु दोनों जगह एक ही है।

नारकियों में जो सम्यग्दृष्टि हैं उनमें चार क्रियाएँ होती हैं और जो मिथ्यादृष्टि हैं उनमे पांचों क्रियाएँ होती हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन्! सब नारकी समान आयु वाले और साथ ही उत्पन्न हुए हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—नहीं गौतम! ऐसा नहीं है। तब गौतम स्वामी द्वारा कारण पूछने पर भगवान् उत्तर देते हैं:—

गौतम! इस अपेक्षा से नारकी चार प्रकार के हैं। कई समान आयु वाले और साथ ही उत्पन्न हुए है, जैसे स्थिति दस-दस हजार वर्ष की है और उत्पन्न भी साथ-साथ हुए हैं। यह समायु और समोपपन्नक कहलाते हैं। दूसरे समान आयु वाले और विषम उत्पत्ति वाले हैं, जैसे आयु तो दस-दस हजार वर्ष की है मगर एक साथ उत्पन्न नहीं हुए हैं। तीसरे विषम आयु वाले और सम उत्पत्ति वाले हैं, जैसे एक साथ उत्पन्न होने वाले दस हजार वर्ष की और एक सागरोपम स्थिति वाले। चौथे विषम आयु वाले और विषम उत्पत्ति वाले हैं, अर्थात् जिनकी आयु भी समान नहीं है और उत्पत्ति भी एकसाथ नहीं हुई है। इस चौभंगी के कारण सब नारकी समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न हुए नहीं हैं।

नारक जीवों के पहले दो भेद किये थे, फिर तीन भेद किये और यहा चार भेद किये गये हैं। इसमें पारस्परिक

विरोध की संभावना नहीं करना चाहिये। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। उन धर्मों के आधार पर उनकी जाति (समूह) को विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न-संख्यक भेदों में बाँटा जा सकता है। जैसे, किसी कक्षा में पाँच विद्यार्थी हों तो उन्हें प्रान्त के भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, उम्र के लिहाज़ से उनके तीन भेद किये जा सकते हैं, वस्त्रों की अपेक्षा चार भेद किये जा सकते हैं और व्यक्तित्व के आधार पर वह पाँच हैं। यही बात यहाँ नारक जीवों के विषय में है।

असुर कुमार देव-सब समान हैं ?
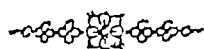
मूल पाठ-

प्रश्न-असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा, समसरीरा ?

उत्तर-जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं-कम्म-वण्ण-लेस्साओ परिवण्णेअव्वाओ-पुव्वोववण्णा महाकम्मतरा, अविसुद्धवण्णतरा, अविसुद्धलेस्सतरा। पच्छोववण्णा पसत्था, सेसं तहेव। एवं जाव थणियकुमारा णं।

संस्कृत-छाया-प्रश्न—असुर कुमारा भगवन् ! सर्वे समाहाराः, समशरीराः ?

उत्तर—यथा नैरयिकास्तथा भणितव्याः, नवरम्—कर्म—वर्ण-

लेश्या परिवर्णयितव्या'-पूर्वोपपन्ना महाकर्मतरा', अविशुद्धवर्णतराः, अविशुद्धलेश्यातरा' । पश्चादुपपन्ना' प्रशस्ता , शेष तथैव । एव यावत् स्तनित-कुमाराः ।

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन् ! सब असुरकुमार समान आहार वाले और समान शरीर वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! असुर कुमारों का वर्णन नारकियों के समान कहना चाहिए । विशेषता यह है कि-असुरकुमारों के कर्म, वर्ण और लेश्या नारकियों से विपरीत कहना चाहिए । अर्थात् पूर्वोत्पन्न असुरकुमार महाकर्म वाले, अवि-शुद्ध वर्ण वाले और अशुद्ध लेश्या वाले हैं । पश्चात् उत्पन्न होने वाले प्रशस्त हैं । शेष पहले के समान समझना । इसी प्रकार स्तनित कुमारों तक जानना चाहिए ।

व्याख्यान—पहले दंडक नारकी के विषय में प्रश्नोत्तर हो चुके । अब असुरकुमारों के दूसरे दंडक के विषय में प्रश्नो-त्तर आरंभ होते हैं ।

गौतम स्वामी पूछते हैं कि असुरकुमार जाति की अपेक्षा एक ही हैं तो क्या उन सबका आहार और शरीर भी समान है ? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—गौतम ! ऐसा नहीं है । असुरकुमारों के विषय में भी सभी बातें नैर-यिकों के समान ही हैं । अन्तर केवल यह है कि असुरकुमारों का कर्म, वर्ण और लेश्या, नैरयिको के कर्म, वर्ण और लेश्या से विपरीत समझना ।

भगवान् ने संक्षेप में यह उत्तर दिया है। टीकाकार विषय को स्पष्ट करने के लिये कहते है कि यद्यपि असुरकुमारों के आहार का सूत्र नैरयिकों के आहार के सूत्र ही के समान है, तथापि नैरयिकों का आहार किस अपेक्षा से कहा है और असुरकुमारों का किस अपेक्षा से कहा है, यह भेद जानने योग्य है।

नारकी जीवों के समान असुरकुमार भी अल्पशरीर वाले और महाशरीर वाले हैं। महाशरीर वाले असुरकुमार बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, बार बार आहार करते हैं और बार-बार उच्छ्वास लेते हैं। अल्पशरीरवाले असुरकुमार थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, बार-बार आहार नहीं करते हैं और बार-बार उच्छ्वास भी नहीं लेते हैं।

असुरकुमारों का स्वाभाविक शरीर जघन्य अंगुल के असंख्यात भाग का और उत्कृष्ट सात हाथ का है। उत्तर वैक्रिय की अपेक्षा जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन है।

असुरकुमारों का आहार मानसिक आहार समझना चाहिए। वे इच्छा करते हैं और उसी समय उनकी भूख मिट जाती है। उनका आहार सामान्यतया मनुष्य के समान नहीं होता। अल्प शरीर वालों का कम आहार और महाशरीर वालों का अधिक आहार अपेक्षाकृत समझना चाहिए।

शंका—कोई-कोई देव मनुष्य की तरह कवलाहार करते हैं और कोई-कोई रोम से भी आहार करते हैं। फिर यहां देवों को मानसिक आहार करने वाला क्यों कहा है ?

समाधान—देवों का प्रधान आहार मानसिक ही होता है। वे विशेष-तया मानसिक आहार ही करते हैं और शास्त्र में विशेष की बात ली जाती है। अतएव देवों को मानसिक आहारी कहा है।

अल्प शरीरी और महाशरीरी का अल्पाहार तथा महा-आहार अपेक्षा से ही है किसी असुरकुमार का शरीर सात हाथ का है और किसी का छह हाथ का। सात हाथ वाले की अपेक्षा छह हाथ वाले का आहार कम है, परन्तु पांच हाथ वाले की अपेक्षा छह हाथ वाले का अधिक है। इस प्रकार का कम-अधिक होना अपेक्षाकृत ही है।

शंका—असुरकुमार का आहार चतुर्थ भक्त का और श्वासोच्छ्वास सात स्तोक में कहा है। फिर यहां वार-वार आहार और उच्छ्वास क्यों कहा ?

समाधान—वार-वार का आहार भी अपेक्षाकृत ही समझना चाहिए। एक असुरकुमार चतुर्थ भक्त अर्थात् एक दिन के अन्तर से आहार करता है और दूसरा हजार वर्ष में एक वार आहार करता है। हजार वर्ष में एक वार आहार करने वाले की अपेक्षा एक दिन के अन्तर से आहार करने वाला वार-वार आहार करता है और पांच दिन में आहार करने वाला कदाचित् आहार करता है। लोक में भी ऐसा ही व्यवहार होता है। यही वात श्वासोच्छ्वास के संबंध में भी समझनी चाहिए। कोई सात स्तोक में श्वास लेता है और कोई एक पक्ष में श्वास लेता है। पक्ष में एक वार उच्छ्वास लेने वाले की अपेक्षा सात स्तोक में श्वास लेने वाला वार-वार श्वास लेता है।

अथवा—अल्पशरीरी का अल्पाहार और अल्पश्वा तथा कदाचित् आहार और कदाचित् श्वास अन्तराल की अपे से कहा है अल्प शरीर वालों के आहार और श्वासोच्छ्वा अन्तराल बहुत पड़ जाता है, इस अपेक्षा से यह कथन किया

अन्तराल का अर्थ है—बीच या आंतरा। एक आह और दूसरे आहार के बीच का समय अन्तराल, आंतरा व्यवधान या अन्तर कहलाता है।

यद्यपि महाशरीर वाले के आहार में भी अन्तराल है— एक दिन का अन्तर पड़ता है, परन्तु वह अन्तर अत्यल्प है, इसलिए नगण्य है। नगण्य होने के कारण ही अल्प शरीरी की अपेक्षा महाशरीरी का आहार अभीक्ष्ण आहार कहा है। यह बात आगम से भी सिद्ध है कि महाशरीर वाले का आहार बार बार होता है और अल्पशरीर वाले का आहार, अन्तराल बड़ा होने से बार-बार नहीं होता। यथा-प्रथम देवलोक के देव का शरीर सात हाथ का है। उनका आहार दो हजार वर्ष के अन्तर से और उच्छ्वास दो पक्ष के अन्तर से होता है। अनुत्तर विमान के देव का शरीर एक हाथ का है और उनका आहार तेतीस हजार वर्ष के अन्तर से तथा श्वासोच्छ्वास तेतीस पक्ष के अन्तर से होता है। इस अपेक्षा से, प्रथम देवलोक के देवों का शरीर बड़ा है इसलिए वे आहार और उच्छ्वास भी बार-बार लेते हैं। इनकी अपेक्षा अनुत्तर विमान के देवों का शरीर छोटा है, इस लिए वे आहार और उच्छ्वास भी अल्प लेते हैं। यही बात असुरकुमारों के विषय में है।

अथवा—पर्याप्त अवस्था में महाशरीर वाले असुरकुमार लोमाहार की अपेक्षा बार बार आहार लेते हैं और अपर्याप्त

अवस्था में अल्पशरीर वाले असुरकुमार लोमाहार नहीं करते हैं, किन्तु ओजाहार ही करते हैं, इस अपेक्षा से भी महाशरीर वाले वार वार आहार करते हैं और अल्पशरीर वाले कदाचित् आहार करते हैं।

भगवान ने असुरकुमारों के कर्म, वर्ण और लेश्या की असमानता निरूपण करते हुए यह भी बतलाया है कि इनके कर्म आदि ना कियों से उल्टे होते हैं। इसका आशय यह है कि नैरयिकों में जो प्रथमोत्पन्न हैं, वे विशुद्ध कर्म, वर्ण और लेश्या वाले हैं और पश्चात् उत्पन्न होने वाले अशुद्ध कर्म आदि वाले हैं। लेकिन असुर कुमारों में इससे विपरीत है। जो असुरकुमार पहले उत्पन्न हुए हैं उनके कर्म, वर्ण और लेश्या अशुद्ध हैं तथा बाद में उत्पन्न होने वालों के विशुद्ध हैं।

इस विपरीतता का कारण यह है कि पहले उत्पन्न होने वाले असुरकुमार अहंकार में चूर होकर नरक के जीवों को बहुत त्रास देते हैं। त्रास सहन करने से नरक के जीव तो कर्मों की निर्जरा करते हैं, लेकिन असुरकुमार नये-नये कर्म बांधते हैं। वह अपनी तीव्रतर भावना के कारण अपनी अशुद्धता बढ़ाते हैं। उनका पुण्य क्षीण हो जाता है। पुण्य क्षीण होने से और कर्म के बंध से उनका कर्म, वर्ण और लेश्या अशुद्ध हो जाती है।

अथवा—बद्धायुष्क की अपेक्षा से देखा जाय तो पूर्वोत्पन्न असुरकुमार नारकी जीवों को त्रास देने के कारण तिर्यंच गति का आयुष्क बांधते हैं। इसलिए वे अशुद्ध कर्म, वर्ण और लेश्या वाले हैं। बाद में उत्पन्न हुए असुरकुमारों ने अभी परलोक का आयुष्य नहीं बांधा है। वे अपने साथ

जो शुभ कर्म ले गये है, वह भी कम नहीं हुए हैं, इस कारण वे विशुद्ध कर्म, वर्ण और लेश्या वाले होते हैं।

असुरकुमारों की वेदना भी नारकी जीवों के समान-एक-सी नहीं होती। उनमें भी दो भेद है—संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत। संज्ञिभूत चारित्र के विराधक होते हैं और चारित्र की इस विराधना के कारण उन्हें मानसिक वेदना-पश्चात्तापजन्य, बहुत होती है। इसलिए संज्ञिभूत (सम्यग्दृष्टि) महावेदना वाले होते हैं। असंज्ञिभूत अर्थात् मिथ्यादृष्टियों को यह वेदना नहीं होती। इस कारण वह अल्प वेदना वाले होते हैं।

अथवा—पूर्वभव में जो संज्ञी (समनस्क) थे, वे संज्ञिभूत कहलाते हैं। या जो पर्याप्त अवस्था प्राप्त कर चुके हैं वे संज्ञिभूत कहलाते हैं। इन्हें शुभ वेदना की अपेक्षा महा-वेदना होती है और असंज्ञी-भूत को अल्प वेदना होती है। शेष सब नैरयिकों की तरह नागकुमार आदि के विषय में भी यथायोग्य कहना चाहिए।
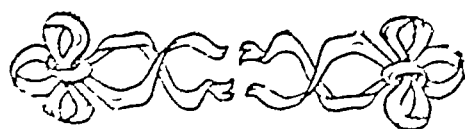
पृथ्वीकायिक जीव सब समान है ?
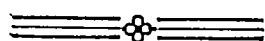
मूलपाठ—

पुढविक्काइयाणं आहार—कम्म वन्न-लेस्सा जहा नेरइयाणं ।

प्रश्न— पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?

उत्तर — हंता, समवेयणा ।

प्रश्न—से कणट्ठेणं भंते समवेयणा ?

उत्तर—गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे असन्नी असन्निभूअं अणिदाए वेयणं वेंदेति. से तेणट्ठेणं० ।

प्रश्न-पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

उत्तर-हंता, समकिरिया ।

प्रश्न-से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे मायी मिच्छादिट्ठी । ताणं णियइओ पंच किरियाओ कज्जंति, तंजहा-आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया से तेणट्ठेणं० । समाउआ, समोववन्नगा जहा नेरइआ तहा भाणियव्वा ।

संस्कृत-छाया—पृथिवी कायिकानामाहार-कर्म वर्ण-लेश्या यथा नैरयिकाणाम् ।

प्रश्न—पृथिवीकायिका भगवन् ! सर्वे समवेदनाः ?

उत्तर—हन्त, समवेदनाः ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन भगवन् ! समवेदनाः ?

उत्तर—गौतम ! पृथिवीकायिकाः सर्वेऽसंज्ञिनोऽसंज्ञिभूता अनिदानं वेदनां वेदयन्ति, तत्तेनार्थेन० ।

प्रश्न—पृथिवीकायिका भगवन् ! सर्वे समक्रियाः ?

उत्तर—हन्त, समक्रियाः ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन ?

उत्तर गौतम ! पृथिवीकायिकाः सर्वे मायिनो मिथ्यादृष्टयः । तैर्नियतिकाः पञ्च क्रिया क्रियन्ते, तद्यथा-आरम्भिकी यावद् मिथ्यादर्शनप्रत्यया । तत्तेनार्थेन० । समायुष्काः, समोपपन्नकाः, यथा नैरयिकास्तथा भणितव्याः ।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों का आहार, कर्म, वर्ण और लेश्या नारकियों के समान समझना चाहिए ।

प्रश्न--भगवन् ! पृथिवीकायिक सब समान वेदना वाले हैं ?

उत्तर-हाँ गौतम ! समान वेदना वाले हैं ।

प्रश्न भगवन् ! किस कारण से समान वेदना वाले हैं ? (ऐसा कहा जाता है)

उत्तर-गौतम ! सब पृथिवीकायिक जीव असंज्ञी हैं और असज्ञिभूत वेदना को अनिर्धारित रूप से वेदते हैं, इस कारण हे गौतम ! ऐसा पूर्वोक्त कहा गया है ।

प्रश्न-भगवन्! सब पृथिवीकायिक समान क्रिया वाले हैं?

उत्तर--हां, समान क्रिया वाले हैं।

प्रश्न-भगवन्! किस कारण से? (ऐसा कहा जाता है?)

उत्तर- गौतम! सब पृथिवीकायिक मायी और मिथ्या-दृष्टि हैं। इसलिए उन्हें नियम से पांचों क्रियाएँ होती हैं। वे पाँच क्रियाएँ यह हैं-आरंभिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। इस कारण गौतम! पूर्वोक्त अनुसार कहा जाता है। जैसे समायुष्क और समोपपन्नक नारकी कहे हैं, उसी प्रकार पृथ्वीकायिक भी कहने चाहिए।

व्याख्यान--असुरकुमार आदि के वर्णन के पश्चात् यहाँ पृथ्वीकायिक जीवों के आहार आदि का वर्णन किया गया है। श्री गौतम पूछते हैं—भगवन्! क्या पृथ्वीकाय के सब जीव समान आहारी हैं? भगवान् ने उत्तर दिया नहीं। क्योंकि पृथ्वीकाय के जीवों के भी दो भेद हैं—महाशरीरवान् और अल्पशरीरवान्। महाशरीरी का आहार आदि बार-बार होता है और अल्पशरीरी का कदाचित् होता है। इत्यादि समस्त वर्णन और कर्म, वर्ण तथा लेश्या आदि का वर्णन नैरयिकों के समान ही समझना चाहिए। यह बात सूत्र में, संक्षेप में प्रकट कर दी गई है।

शंका-पृथ्वीकायिक जीव का शरीर अंगुल के असंख्यातवां भाग कहा है, फिर उनमें महाशरीर और अल्पशरीर का भेद कैसे हो सकता है ? पृथ्वीकायिक सभी अल्पशरीरी होने चाहिए।

समाधान-अंगुल के असंख्यातवें भाग वाले शरीर में भी तरतमता से असंख्य भेद हैं। अतएव एक दूसरे की अपेक्षा से उनमें कोई महाशरीर है, कोई अल्पशरीर है। हाथी की अपेक्षा चिउंटी का शरीर अत्यन्त अल्प होता है, फिर भी उनमें किसी का बड़ा और किसी का छोटा शरीर जैसे प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसी प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों का शरीर दो प्रकार का है।

इस संबंध में आगम का प्रमाण है। पन्नवणा सूत्र में कहा है-पृथ्वीकाय के जीवों की गणना अगर पृथ्वीकायिक से की जाय तो पृथ्वीकायिक चतुःस्थान पातित है। अर्थात् अनन्त भाग हीन, अनन्त भाग अधिक, अनन्त गुण हीन, अनन्त गुण अधिक, इन्हें छोड़कर संख्यात भाग हीन, असंख्यात भाग हीन, संख्यात गुण अधिक और असंख्यात गुण अधिक-इन चारों स्थानक वाले है। इन्हें चतुःस्थान पातित (चौठाण वडिया) कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब पृथ्वीकायिक अंगुल के असंख्यात भाग शरीर वाले हैं, लेकिन उनमें किसी का शरीर संख्यात भाग हीन है, किसी का असंख्यात भाग हीन है। इसी प्रकार किसी का शरीर संख्यात भाग अधिक है, किसी का असंख्यात भाग अधिक है। इस अपेक्षा से पृथ्वीकायिक अल्पशरीरी भी हैं और महाशरीरी भी हैं।

महाशरीर वाले पृथ्वीकायिक लोम-आहार द्वारा बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं और बार-बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं। अल्पशरीर वाले कम आहार करते हैं और कम श्वासोच्छ्वास लेते हैं। कदाचित् आहार लेते हैं और कदाचित् आहार नहीं लेते हैं। यही बात पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा से भी कही जा सकती है।

पृथ्वीकायिकों के कर्म, वर्ण और लेश्या का वर्णन नारक जीवों के समान ही समझना चाहिए। वेदना के विषय में कुछ अन्तर है, अतएव उसके लिए अलग प्रश्नोत्तर किये गये हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं:-भगवन्! पृथ्वीकायिक समान वेदना वाले हैं? इसके उत्तर में भगवन् ने फर्माया हाँ गौतम! समान वेदना वाले हैं। तदनन्तर कारण पूछने पर भगवान् ने उत्तर दिया-सब पृथ्वीकायिक असंज्ञी हैं और असंज्ञी जीवों को होने वाली वेदना को वेदने वाले हैं। उनकी वेदना निर्धारण रहित होती है अर्थात् असंज्ञी होने के कारण मूर्छित या उन्मत्त पुरुष के समान वे गाफ़िल होकर कष्ट भोगते हैं। उन्हें यह पता नहीं चलता कि कौन मुझे पीड़ा दे रहा है, कौन मारता है, कौन काटता है और किस कर्म के उदय से यह वेदना हो रही है?

पृथ्वीकाय के जीवों की वेदना के विषय में आचारांग सूत्र में कहा है कि जैसे गूंगे और अंधे को कोई मारे या काटे तो वह यह नहीं कह सकता या देख सकता कि कौन मुझे मार या काट रहा है। उसी प्रकार पृथ्वीकाय के जीव भी दुःख सहन कर रहे हैं।

शंका—यहां सब पृथ्वीकाय के जीवों की वेदना समान बतलाई है, पर यह कैसे संभव है ? यहां के किसी पृथ्वीकायिक का छेदन-भेदन किया जाता है पर सुमेरु पर्वत में जो जीव हैं, उनका छेदन-भेदन नहीं होता। ऐसी दशा में सबकी वेदना समान कैसी मानी जाय ?

समाधान—यह कथन सामान्य-जाति की अपेक्षा है। मनुष्यों में से किसी के कान, हाथ छोटे होते हैं, किसी के बड़े। मगर सामान्य की अपेक्षा यही कहा जाता है कि मनुष्य समान कान वाले होते हैं। इसी प्रकार पृथ्वीकायिकों के विषय में भी 'जाति की अपेक्षा से ही यह कहा गया है कि सभी पृथ्वीकायिक असंज्ञी हैं अत. सब समान वेदना वेदते हैं।

इससे आगे क्रिया का प्रश्न आता है। सभी पृथ्वीकायिक मायी मिथ्या दृष्टि रूप में उत्पन्न हुए हैं, इसलिए सभी पांचों क्रिया वाले हैं।

पृथ्वीकाय के जीव बिना हटाये, एक स्थान से दूसरे स्थान पर हट भी नहीं सकते, फिर भी वे पांचों क्रियाएँ करते हैं। यद्यपि वे स्वयं अव्यक्त चेतना की दशा में पड़े हुए हैं, लेकिन भगवान् उन्हें भी व्यक्त रूप में देख रहे हैं। उनके आरंभिया क्रिया है और आरंभ का कारण भी मौजूद है। वे श्वासोच्छ्वास और आहार लेते हैं और इन क्रियाओं में आरंभ होता है। यद्यपि तेरहवें गुणस्थान वाले भी श्वास लेते हैं, तथापि वे आरंभी नहीं कहलाते। इसलिए यह विचारणीय है कि आरंभ और अनारंभ का अर्थ क्या है ? वास्तव में जब तक प्रमाद और कषाय नहीं छूटते, तब तक

चाहे कोई चले फिरे नहीं, तब भी वह आरंभी है और प्रमाद एवं कषाय के नष्ट होजाने पर, चलने फिरने की क्रिया मौजूद होते हुए भी अनारंभी है। काया को एक जगह पकड़ बैठने से ही काम नहीं चलता। प्रमाद और कषाय पर विजय प्राप्त करना ही महत्व की बात है। उसी से निरारंभ अवस्था प्राप्त होती है।

पृथ्वीकाय के जीव मायी-मिथ्यादृष्टि होते हैं अतएव उनके पांचों क्रियाएँ हैं। पृथ्वीकाय में प्रायः मायी-मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। इसका प्रमाण यह हैः—

उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ, गूढहियय-माइल्लो।
सढशीलो य ससल्लो, तिरिआउं बंधए जीवो।

अर्थात्—उन्मार्ग का उपदेश देनेवाला, सन्मार्ग का नाश करनेवाला, गूढ हृदयवाला अर्थात् हृदय में गांठ रखने वाला, मायावी, शठ स्वभाव वाला, और शल्य वाला जीव पृथ्वीकाय आदि तिर्यञ्च योनि की आयु बांधता है।

पृथ्वीकाय के जीव इस समय मायाचार करते दिखाई नहीं देते लेकिन माया के कारण ही वे पृथ्वीकाय में आये हैं। इसलिए वे मायी मिथ्यादृष्टि हैं।

जीव किसी भी योनि में हो, अगर वह मिथ्यादृष्टि है तो [illegible] मायी मिथ्यादृष्टि ही कहता है। इसलिए माया का [illegible] अनन्तानुबंधी कषाय समझना चाहिए। जिसे [illegible] कषाय का उदय होता है वह मिथ्यादृष्टि ही

होता है। जहाँ मिथ्यात्व है वहां अनन्तानुवंधी कषाय है और जहाँ अनन्तानुवंधी कषाय है वहाँ मिथ्यात्व है। यह दोनों साथ रहते हैं।

कई लोग अपने आपको सम्यग्दृष्टि और दूसरे को मिथ्यादृष्टि ठहराते हैं, सिर्फ इसीलिए कि दूसरा उनके समूह मे नहीं है। मगर भगवान् फर्माते हैं—

माथी मिच्छादिट्ठी अमायी सम्मदिट्ठी।

अर्थात् जिसमें माया है वह मिथ्यादृष्टि है और जिसमें माया नहीं है—सरलता है, वह सम्यग्दृष्टि है।
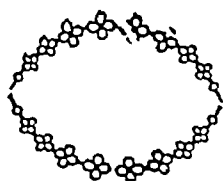
द्वीन्द्रिय आदि जीव समान हैं?
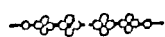
मूलपाठ—

जहा पुढविक्काइया तहा जाव-चउरिंदिया। पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया जहा णेरइया, णाणत्तं किरियासु।

प्रश्न-पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते! सव्वे समकिरिया?

उत्तर—गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ?

उत्तर—गोयमा! पंचिंदिय तिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-सम्मदिट्ठी,

मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते दुविहा पराणत्ता, तं जहा—असंजया य, संजयासंजया य; तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसिं णं तिरिण किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिआ, परिग्गहिआ, मायावत्तिआ; असंजयाणं चत्तारि, मिच्छादिट्ठीणं पंच, सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच।

संस्कृत-छाया—यथा पृथिवीकायिकास्तथा यावच्चतुरिन्द्रियाः। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका यथा नैरयिकाः, नानात्वं क्रियासु।

प्रश्न—पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका भगवन्! सर्वे समक्रियाः?

उत्तर—गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न—तत्केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते?

उत्तर—गौतम! पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, तत्र ये ते सम्यग्दृष्टयः ते द्विविधाः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—असंयताश्च, संयतासंयताश्च। तत्र ये ते संयतासंयतास्ते तिस्रः क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा—आरम्भिकी

पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया; असंयतानां चतस्रः, मिथ्यादृष्टीनां पञ्च, सम्यग्--मिथ्यादृष्टीनां पञ्च ।

मूलार्थ—जैसे पृथ्वीकायिक कहे वैसे ही अप्काय आदि, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय समझना चाहिए। पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले नारकियों के समान हैं, सिर्फ क्रियाओं में भिन्नता है ।

प्रश्न—भगवन् ! सब पंचेन्द्रिय तिर्यंच--योनिक समान क्रिया वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्रश्न--भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं ?

उत्तर--गौतम ! पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले तीन प्रकार के हैं—सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्--मिथ्यादृष्टि । उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं वे दो प्रकार के हैं:—असंयत और संयतासंयत । उनमें जो संयतासंयत हैं उन्हें तीन क्रियाएँ होती हैं, वे इस प्रकार—आरंभिकी पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया । उनमें जो असंयत हैं, उन्हें चार क्रियाएँ और जो मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्--मिथ्यादृष्टि हैं उन्हें पाँच क्रियाएँ होती हैं ।

व्याख्यान—अप्काय, वायुकाय, तेजस्काय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का वर्णन पृथ्वीकाय के समान

ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इनमें सिर्फ अल्प शरीर और महा शरीर का भेद है। उनका वर्णन पृथ्वीकाय के ही समान है।

शंका–मिथ्या दृष्टि को पाँच क्रियाएँ लगती हैं, सम्यग्दृष्टि को नहीं। द्वीन्द्रिय जीवों मे सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, फिर उन्हें पांच क्रियाएँ क्यों कही हैं?

समाधान—द्वीन्द्रिय जीव सिर्फ अपर्याप्त अवस्था में थोड़े समय के लिए सम्यग्दृष्टि होते हैं और सम्यग्दर्शन की मात्रा भी अत्यल्प होती है और वह भी गिरती हुई अवस्था में है। पहले का सम्यक्त्व नष्ट हो रहा है। अतएव ऐसे सम्यग्दर्शन की विवक्षा नहीं की गई है और इसी कारण पांच क्रियाएँ कही गई हैं।

ये जीव एक ही समान वेदना वेदते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष में वेदना का भेद दिखाई देता है, फिर भी सामान्य रूप से अनिदा रूप वेदना एक ही है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले जीवों का वर्णन नारक जीवों के समान है। लेकिन इनकी क्रियाओं में भिन्नता है। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के भेद से तीन भेद हैं। सम्यग्दृष्टि भी दो प्रकार के हैं। एक असंयत, दूसरे संयतासंयत. संयतासंयत अर्थात् एकदेश संयत के तीन क्रियाएँ होती हैं आरंभिया, परिग्गहिया और मायावत्तिया। असंयतों को चार क्रियाएँ लगती हैं। मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि वालों को पाचों क्रियाएँ लगती हैं।

श्रावक को आरंभिकी, पारि-ग्रहिकी और मायाप्रत्यया क्रिया लगती है। तेरहपंथी सम्प्रदाय की मान्यता है कि श्रावक का लेन देन खान-पान आदि सब एकांत अव्रत है और अव्रत पाप में है। अतएव श्रावक का लेन देन, खाना-पीना, आदि सब एकान्त पापरूप है। इसीलिए श्रावक को भोजन आदि देना एकान्त पाप है। उनके कथनानुसार सिर्फ तेरहपंथी साधुओं को आहार देने से धर्म निपजता है। तेरहपंथी साधुओं के सिवाय और सबको देना पाप है।

इस प्रकार अव्रत का नाम लेकर वे श्रावक के सभी कामों में एकान्त पाप कहते हैं मगर उनसे पूछना चाहिए कि अव्रती को पुण्य होता है या नहीं ? और वह स्वर्ग जाता है या नहीं ? इसके उत्तर में वे कहते हैं—

में ही नहीं आता। समझ में आने योग्य बात भी तो नहीं है। भगवान ने संयतासंयत्त तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय को भी तीन ही क्रियाएँ बतलाई हैं, मगर तेरहपन्थी मनुष्य श्रावक को भी अव्रत की क्रिया लगाते हैं! अगर यह कहा जाय कि श्रावक स्वस्त्री का आगार रखता है, इस लिए वह अव्रती है, तो फिर भगवान् ने श्रावक को तीन ही क्रियाएँ क्यों बतलाई हैं? भगवान् ने उसे अव्रत की क्रिया क्यों नहीं बतलाई? कदाचित् वे यह कहें कि श्रावक में पूर्ण रूप से अव्रत नहीं पाया जाता, इस लिए अव्रत की क्रिया नहीं बतलाई गई है। उसमें तीन क्रियाएँ पूरी हैं, चौथी अधूरी है। श्रावक ने जितना त्याग किया है उतना व्रत में है, अतएव उसे चौथी क्रिया नहीं बतलाई। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रावक ने अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम किया है, वह क्या कहलाया? श्रावक में एक देश व्रत होने से अगर अव्रत की क्रिया नहीं लगती तो माया की क्रिया भी नहीं लगनी चाहिए क्योंकि श्रावक में माया भी एक देश से ही है। मगर माया की क्रिया तो दसवें गुणस्थान तक लगना कहा है। किञ्चित् लोभ रहने से भी क्रिया बतलाई है, फिर एक देश से चौथी क्रिया लगने पर भी श्रावक को अव्रत क्रिया क्यों नहीं बताई?

तेरहपन्थी पूछते हैं—श्रावक ने जितने अंशों में त्याग किया है, उतने अंशों में व्रत है, मगर जितने अंशों में त्याग नहीं किया, उतने अंश किसमें गिनने चाहिए? इसका उत्तर यह है कि त्यागने से जो शेष रह गया है वह परिग्रह में शामिल है, क्योंकि श्रावक में परिग्रहि की क्रिया विद्यमान है। इस विषय का विशेष विचार 'सद्धर्ममण्डन' नामक ग्रन्थ में किया गया है।

तात्पर्य यह है कि अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का उदय होने पर पांच, अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी के उदय में चार, प्रत्याख्यान चौकड़ी की विद्यमानता में तीन क्रियाएँ लगती हैं। जब कषाय की निवृति हो जाती है तब क्रिया की भी निवृत्ति हो जाती है।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं भगवन्! तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय विवेकहीन और विकल माने जाते हैं, इसलिए क्या सब पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच जीव समान क्रिया वाले हैं? वे सब समान कर्म बंध करते हैं या कम-ज्यादा? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—हे गौतम! सब पंचेन्द्रिय तिर्यंच समान क्रिया वाले नहीं हैं, क्योंकि उनके तीन भेद हैं—उनमें कोई सम्यग्दृष्टि है, कोई मिथ्यादृष्टि है, कोई मिश्रदृष्टि है। सम्यग्दृष्टि भी दो प्रकार के हैं, कोई संयतासंयत है और कोई असंयत है। संयतासंयत के पूर्वोक्त तीन, असंयत सम्यग्दृष्टि के चार तथा मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

मनुष्य का वर्णन।
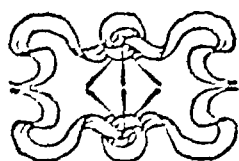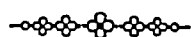
मूलपाठ—

मणुस्सा जहा नेरइया, नाणत्तं-जे महासरीरा ते बहुतराए पाग्गले आहारेंति, ते आहच्च आहारेंति। जे अप्पसरीरा ते अप्पतराए पोग्गले आहारेंति। अभिक्खणं २ आहारेंति। सेसं जहा णेरइयाणं जाव-वेयणा।

प्रश्न—मणुस्सा णं भंते! सव्वे समकिरिया?

उत्तर—गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न—से केणट्ठेणं?

उत्तर—गोयमा! मणुस्सा तिविहा पराणत्ता,

तं जहा-सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-संजया, संजयासंजया, असंजया। तत्थ ण जे ते संजया ते दुविहा पन्नत्ता-सरागसंजया य, वीअरागसंजया य। तत्थ णं जे ते वीअरागसंजया ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-पमत्तसंजया य, अप्पमत्तसंजया य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया तेसिं णं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जइ। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया तेसिं णं दो किरियाओ कज्जंति, तं जहा-आरंभिया, मायावत्तिआ। तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसिं णं आइल्लाओ तिण्णि किरियाओ कज्जंति, तं जहा-आरंभिया, परिग्गहिया मायावत्तिआ। असंजयाणं चत्तारि

किरियाओ कज्जंति-आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणपच्चया । मिच्छा-दिट्ठीणं पंच-आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणपच्चया, मिच्छादंसणवत्तिया । सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच ।

संस्कृत-छाया—मनुष्या यथा नैरयिकाः, नानात्वं-ये महाशरीरास्ते बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, ते आहत्याऽऽहारयन्ति । येऽल्पशरीरास्ते अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति । अभीक्ष्णं २ आहारयन्ति । शेष यथा नैरयिकानाम्, यावद् वेदना ।

प्रश्न—मनुष्या भगवन् ! सर्वे समक्रियाः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न-तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! मनुष्यास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सम्यग्दृष्टिः, मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्-मिथ्यादृष्टिः । तत्र ये ते सम्यग्दृष्टयस्ते त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-संयताः, संयताऽसंयताः, असंयताः । तत्र ये ते संयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सरागसंयताः, वीतरागसंयताश्च ।

तत्र ये ते वीतरागसंयतास्तेऽक्रियाः । तत्र ये ते सरागसंयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ता तद्यथा प्रमत्तसंयताश्च, अप्रमत्तसंयतश्च । तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्तेरेका मायाप्रत्यया क्रिया क्रियते । तत्र ये ते प्रमत्त-संयतास्तैर्द्वे क्रिये क्रियते, तद्यथा–आरम्भिकी, मायाप्रत्यया । तत्र ये ते संयतासंयत स्तैर्याास्तिस्त्र क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा–आरम्भिकी, पारि-ग्रहिकी, मायाप्रत्यया । असंयतैः चतस्रः क्रियाः क्रियन्ते, आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानप्रत्यया । मिथ्यादृष्टीना पञ्च–आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानप्रत्यया, मिथ्या-दर्शनप्रत्यया । सम्यग्–मिथ्यादृष्टीना पञ्च ।

मूलार्थ—मनुष्यों का वर्णन नारकियों के समान समझना चाहिए । उनमें भेद यह है–जो महाशरीर वाले हैं वे बहुतर पुद्गलों का आहार करते हैं और वे कभी कभी आहार करते हैं । जो अल्प शरीर वाले हैं वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते हैं और बार-बार आहार करते हैं । शेष सब नारकियों के समान वेदना पर्यन्त समझना ।

प्रश्न—भगवन् ! सब मनुष्य समान क्रिया वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्रश्न—से किस कारण भगवन् ?

उत्तर—गौतम! मनुष्य तीन प्रकार के हैं। वह इस प्रकार-सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग् मिथ्यादृष्टि। उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं वे तीन प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार-संयत, संयतासंयत और असयत। उनमें जो संयत हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं-सराग संयत और वीतराग संयत। उनमें जो वीतराग संयत है वे क्रिया रहित हैं। उनमें जो सराग संयत है, वे दो प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार-प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। उनमें जो अप्रमत्तसंयत हैं उन्हें एक मायावत्तिया क्रिया लगती है। उनमें जो प्रमत्तसंयत हैं उन्हें दो क्रियाएँ लगती हैं, वह इस प्रकार-;आरंभिया और मायावत्तिया। उनमें जो संयतासयत हैं उन्हें आदि की तीन क्रियाएँ होती हैं, वह इस प्रकार-आरंभिया, पारिग्रहिकी और मायावत्तिया। असंयत मनुष्य चार क्रियाएँ करते हैं:--आरम्भिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया और अपच्चक्खाणक्रिया। मिथ्यादृष्टियों को पांच क्रियाएँ होती हैं-:आरम्भिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणक्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया। मिश्रदृष्टियों को भी पांच क्रियाएँ होती हैं।

व्याख्यान—गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! सब मनुष्य समान आहार करने वाले हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया—नारकियों के समान ही सारा वर्णन समझ लो। जो विशेषता है, वह इस प्रकार है।—

महाशरीर वाले मनुष्य बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, परन्तु कदाचित् आहार करते हैं। महाशरीरी नारकी बार-बार आहार करते हैं लेकिन महाशरीर मनुष्य कभी-कभी आहार करते हैं। यहां महा शरीर वाले मनुष्यों से देवकुरु और उत्तरकुरु के भोग भूमिज मनुष्य लेने चाहिए। उनका शरीर तीन गाउ का होता है और आहार अष्टम भक्त होता है अर्थात् तीन दिन में एक बार आहार करते हैं। इसलिए उन्हें कदाचित् आहार करने वाला कहा है।

अल्प शरीर वाले मनुष्य थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, परन्तु बार-बार करते हैं।

शंका—नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं वे निस्सार और स्थूल होते हैं, अतएव महाशरीर नारकों को बहुत पुद्गलों का आहार करना पड़ता है, मगर देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्य सारयुक्त पुद्गलों का आहार करते हैं अतएव उन्हें अधिक पुद्गलों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। तथापि यहां बहुत पुद्गलों का आहार बतलाया गया है? जैसे पाँच सौ तोले की मिठास रखने वाली एक तोला शक्कर में बहुत पुद्गल रहते हैं, उसी प्रकार देवकुरु और उत्तरकुरु के युगलिये जो आहार करते हैं, उसमें सारभूत पुद्गल अधिक हैं। इसलिए उन्हें अल्पाहारी कहना चाहिए।

है, उतनी चांदी नहीं फैलती—चांदी से उतने बर्तनों पर मुलम्मा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सारभूत आहार में जितने पुद्गल होते हैं, निस्सार आहार में उतने नहीं होते। तात्पर्य यह है कि देवकुरू-उत्तरकुरू के मनुष्यों का आहार दीखने में कम होता है मगर उसमें अल्पशरीरी के आहार की अपेक्षा अधिक पुद्गल होते हैं। यही कारण है कि उन्हें बहुत पुद्गलों का आहार करने वाला कहा गया है।

अल्पशरीरी मनुष्य बार-बार आहार करता है, यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है, जैसे कि बालक बार-बार आहार करता है।

तीन गव्यूति (गाउ) की अवगाहना वाले महाशरीरी मनुष्य भी मनुष्य कहलाते हैं और मल-मूत्र में उत्पन्न होने वाला, अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाला मनुष्य भी मनुष्य कहलाता है। भगवान् ने ऐसे मनुष्य कीटों के आहार पर भी विचार किया है।

कर्म और वर्ण, पहले उत्पन्न हुए मनुष्यों के विशुद्ध और पीछे उत्पन्न होने वालों के अविशुद्ध होते हैं। यद्यपि पहले उत्पन्न होने वाले वृद्ध मनुष्य के कर्म और वर्ण भी अशुद्ध देखे जाते हैं, तथापि इस कथन में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि यह कथन सापेक्ष है।

इसके पश्चात् क्रिया का प्रश्न आता है। भगवान् ने फर्माया है कि मनुष्य सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के भेद से तीन प्रकार के हैं। सम्यग्दृष्टियों में भी तीन भेद हैं

और उनमें भी अवान्तर भेद हैं। उनमें भिन्न भिन्न संख्या वाली क्रियाएँ होती हैं, जिनका कथन ऊपर आ चुका है।

जिसकी श्रद्धा यथार्थ हो वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। विपरीत श्रद्धा अर्थात् अवास्तविक श्रद्धा वाला मिथ्यादृष्टि कहलाता है। जिसकी श्रद्धा में वास्तविकता और अवास्तविकता का सम्मिश्रण हो वह मिश्रदृष्टि है। मिश्रदृष्टि, मिथ्यादृष्टि के ही समान है। जैसे अपरीक्षक काँच और हीरे को समान समझता है, मलयपर्वत की भीलनी चन्दन और साधारण लकड़ी को समान समझ कर जलाती है, उसे साधारण लकड़ी और चन्दन की लकड़ी का विवेक नहीं है, उसी प्रकार यथार्थ और अयथार्थ के विवेक से शून्य मिश्रदृष्टि वाला पुरुष होता है।

जो संयम का पालन करता है, चारित्र रूपी यतना का विवेक रखता है वह संयत कहलाता है और जिसमें चारित्र की क्रिया नहीं है वह असंयत है। जो देशचारित्र की आराधना करता है, जिसके अणुव्रत हैं पर महाव्रत नहीं हैं, वह संयतासंयत या श्रावक कहलाता है।

तक साधु अवस्था प्रकट नहीं हो सकती। यह बारह कषाय सकल संयम के विरोधी हैं। लेकिन संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ में इतनी तीव्रता नहीं है। इनसे सकल संयम का घात नहीं होता। संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घातक है, मगर सामायिक चारित्र का घातक नहीं है। अतएव संज्वलन कषाय की विद्यमानता में भी जो सकल संयम का पालन करते हैं वे सराग संयमी कहलाते हैं।

जिनके कषाय का सर्वथा अभाव हो गया है वह वीतराग संयत कहलाते हैं। वह भी दो प्रकार के हैं:—क्षीण कषायी और उपशान्त कषायी। जैसे अग्नि को राख से ढँक कर दबा दिया जाता है उसी प्रकार कर्म-प्रकृति की शक्ति को दबा देना उपशम कहलाता है और अग्नि को बिलकुल बुझा देने के समान कर्मों को नष्ट कर देना क्षय कहलाता है। ग्यारहवें गुणस्थान वाले उपशान्त कषायी वीतराग कहलाते हैं और बारहवें तथा आगे के गुणस्थान वाले क्षीणकषायी वीतराग कहलाते हैं।

जो महापुरुष कषायों से सर्वथा मुक्त हो गये हैं, वे क्रिया से अर्थात् कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया से रहित हैं। यद्यपि सयोगी अवस्था में योग की प्रवृत्ति से होने वाली ईर्यापथिक क्रिया उनमें विद्यमान है पर वह क्रिया नहीं के बराबर है और इन क्रियाओं में उसकी गणना नहीं है।

सराग संयमी प्रमत्त और अप्रमत्त के भेद से दो प्रकार के हैं। अप्रमत्त संयमी के सिर्फ एक मायाप्रत्यया क्रिया होती है, क्योंकि उनमें अभी कषाय अवशिष्ट है। इसलिए पूर्वो-

चार्यों ने दसवें गुणस्थान तक तीनों योगों की प्रवृत्ति बतलाई है। तीनों योगों की प्रवृत्ति है, इस लिए वहां यह क्रिया है। जब धर्म के विषय में अपवाद होता है, अर्थात् मिथ्यावाद द्वारा धर्म पर कलंक लगाया जाता है तब अप्रमत्त संयत को भी ऐसी क्रिया करनी पड़ती है, जिससे कि धर्म पर लगाया गया कलंक दूर हो जाय। उदाहरणार्थ एक बार श्रेणिक राजा ने चेलना रानी को जैनधर्म के प्रति घृणा उत्पन्न कराने के लिए एक साधु और एक वेश्या को एक ही मकान में बंद कर दिया था। ऐसा करके श्रेणिक, चेलना रानी के हृदय में जैन साधुओं के विषय में घृणा उत्पन्न कर देना चाहता था। साधु को धर्म का, यह उपहास सह्य नहीं था। वह धर्म को इस निन्दा से बचाना चाहता था। साधारण मनुष्य की अपेक्षा राजा की बात का प्रभाव अधिक पड़ता है, इसलिए ऐसा करना और भी आवश्यक हो गया था।

बोली-मैं राजा की आज्ञा से आई हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। मुनि ने कहा—घबराने का क्या काम है? मगर मुझसे दूर ही रहो।

प्रभात हुआ। राजा ने चेलना पर ताने कसने शुरू किये। वह बोला तुम्हारे गुरु बड़े ढोंगी होते हैं। ऊपर से बड़े त्यागी बनते हैं पर वेश्यागमन तक का त्याग नहीं करते!

रानी दृढ़ श्रद्धा वाली थी। उसने कहा—महाराज, यह असंभव है। मेरे गुरु ऐसे कदापि नहीं हो सकते, आपके गुरु चाहे ऐसे भले ही हों।

अन्त में राजा और रानी-दोनों उस मकान पर आये। बात सारे नगर में फैल गई थी। हजारों—लाखों आदमियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। राजा ने उस मकान के किवाड़ खुलवाये तो उसमें वेश्या के साथ राजा के ही गुरु निकले। राजा की नज़र जब उस पर पड़ी तो वह भौंचक्का रह गया। यह क्या मामला है। यह तो उल्टी बलाय सिर पड़ी। अब रानी चेलना को अवसर मिला। वह राजा की हँसी करने लगी और राजा लज्जित होकर पछताने लगा।

आशय यह है कि धर्म पर जब कलंक आता हो तो मुनि को ऐसा करना पड़ता है। व्यवहारसूत्र में उल्लेख है कि धर्म पर अपवाद आने का अवसर उपस्थित होने पर साधु लिंग पलट कर अन्यलिंगी का भेष धारण कर ले। यद्यपि ऐसा करना माया ही है, तथापि विशेष परिस्थिति में उसका आचरण करना पड़ता है, और वह भी दूसरे को धोखा देने के लिए नहीं, वरन् प्रशस्त भाव से, धर्म की रक्षा और प्रतिष्ठा

के लिए। इस प्रकार अप्रमत्त सरागी को भी मायाप्रत्यया क्रिया लगती है।

वैक्रिय लब्धि फोड़कर वेश बनाना प्रमत्त संयत में ही संभव है, किन्तु वेष परिवर्त्तन अप्रमत्त संयत में भी संभव है।*

प्रमत्त सरागः संयमी के दो क्रियाएँ हैं आरंभिया और मायावत्तिया। यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि प्रमत्त संयमी ने घर-द्वार सब त्याग किया है, फिर उसे आरंभिया क्रिया क्यों लगती है? इसका उत्तर यह है कि उसमें प्रमाद का अस्तित्व है और प्रमाद आरम्भरूप ही है। जहाँ गफलत आई कि आरंभ हुआ। इसी कारण प्रमादी संयमी को आरंभिया क्रिया यहाँ बतलाई गई है।

प्रमत्त संयमी को आरंभिया तो लगती ही है, इसलिए भोजन बनाने आदि का आरंभ करने में भी क्या हानि है? इस प्रकार का तर्क करना अनुचित है, क्योंकि सर्व विरति के साथ जिस आरंभ का परित्याग किया गया है, वह आरंभ करने से सर्व विरति का भंग हो जाता है। असावधानी से चलने-फिरने के कारण आरंभिया क्रिया लगती है। अगर साधु होकर भी आरंभ की स्थापना की जाय, आरंभ करने में हानि नहीं — इस प्रकार की प्ररूपणा की जाय तो व्रतों के साथ सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है। अतएव प्रमत्त [illegible]

आरंभ से मुक्त होना चाहिए, तथापि गफ़लत होने पर उसे आरंभिया क्रिया लगती है।

भगवान् ने प्रमाद के योग से लगने वाली क्रिया की भी गणना की है, फिर तेरहपंथियों के कथनानुसार अगर श्रावक में देश से भी अव्रत होता तो श्रावक में चार क्रियाएँ वतलाई गई होती। प्रमत्त संयत जो आरंभ करते हैं, वह परिग्रह रहित है। वे ममत्व करके आरंभ नहीं करते हैं। ममत्व करके आरंभ करने में परिग्रह की क्रिया लगती है।

संयतासंयत अर्थात् श्रावक के तीन क्रियाएँ होती है। असंयत सम्यग्दृष्टि के चार होती है और मिथ्यादृष्टी तथा मिश्रदृष्टि के पाँचों ही होती है।
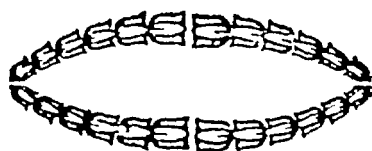
देवों का वर्णन

मूलपाठ—

वाणयन्तर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा, नवरं वेयणाए णाणत्तं-मायिमिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अप्पवेयणतरा. अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगा य महावेयणतरागा भाणियव्वा जोतिस वेमाणिया।

मिथ्यादृष्टि उत्पन्न हुए हों वे अल्प वेदना वाले हैं और जो अमायी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न हुए हों वह महा वेदना वाले होते हैं, ऐसा कहना चाहिए।

व्याख्यान--यहाँ वाण व्यन्तर, ज्योतिषिक और वैमानिक का वर्णन असुरकुमार देवों के समान ही बतलाया गया है, इनमें वेदना का भेद है।

वाण-व्यन्तर, ज्योतिषिक और वैमानिक दो प्रकार के उत्पन्न होते हैं--एक मायी मिथ्यादृष्टि, दूसरे अमायी सम्यग्दृष्टि। इनके शरीर का परिमाण अवगाहना के अनुसार भिन्न-भिन्न है। इनमें जो अल्पशरीरी हैं उनका आहार अल्प है और जो महाशरीरी हैं वे अधिक पुद्गलों का आहार करते हैं।

वेदना के विषय में असुरकुमारों के लिए यह कहा गया है कि जो संज्ञी हैं उन्हें महावेदना और असंज्ञी भूतों को अल्प वेदना होती है। यद्यपि व्यन्तरों का पाठ शास्त्रकार ने अलग कर दिया है किन्तु असुरकुमार और व्यन्तर के वर्णन में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि व्यन्तरों में भी असंज्ञिभूत जीव उत्पन्न हो सकते हैं। व्यन्तरों में असंज्ञी जीव उत्पन्न होते हैं, यह बात इसी सूत्र में आगे कही जायगी। यहाँ यह पाठ आया है--

'असण्णीणं जहण्णेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं वाणमंतरेसु।'

अर्थात्--असंज्ञी जीव अगर देवगति में उत्पन्न हों तो जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट वाणव्यन्तरों में उत्पन्न होते हैं।

ज्योतिष्क और वैमानिकों में असंज्ञी जीव उत्पन्न नहीं होते। इस लिए इनकी वेदना असुरकुमारों की तरह नहीं कहनी चाहिए। ज्योतिषी देवों के दो भेद हैं—मायी-मिथ्यादृष्टि उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक। मिथ्यादृष्टि को कम वेदना होती है और सम्यग्दृष्टि को अधिक वेदना होती है। मगर सम्यग्दृष्टि की वेदना शुभ रूप है, शातारूप है अशुभ रूप नहीं है।
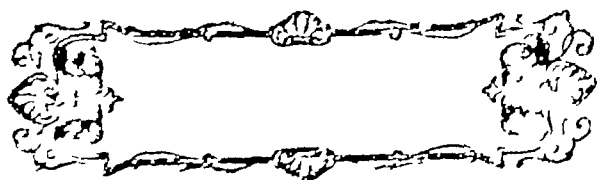
लेश्या वाले जीवों का प्रश्न-

मूलपाठ—
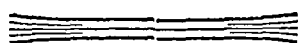
प्रश्न—सलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारगा ?

उत्तर—ओहियाणं, सलेस्साणं, सुक्कलेस्साणं; एएसिं णं तिण्हं एक्को गमो। कण्हलेस्साणं, नीललेस्साणं पि एक्को गमो। नवरं वेदणाए-मायिमिच्छादिट्ठी-उववन्नगा य, अमायिसम्मदिट्ठी-उववन्नगा य भाणियव्वा। मणुस्सा किरियासु सराग-वीअराग-पमत्ताऽपमत्ता न भाणियव्वा। काउलेस्साणं पि एसेव गमो। नवरं-नेरइया जहा ओहिए दंडए तहा भाणियव्वा। तेउलेस्सा, पम्हलेस्सा जस्स अत्थि जहा

ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा। नवरं-मणुस्सा सरागा, वीअरागा न भाणियव्वा। गाहाः —

दुक्खा-उए-उदिण्णे आहारे कम्म-वण्ण-लेस्सा य। समवेयण समकिरिया समाउए चेव बोधव्वा॥

उत्तर—हे गौतम ! औधिक–सामान्य, सलेश्य और शुक्ल लेश्या वाले, इन तीनों का एक गम--पाठ कहना चाहिए। कृष्णलेश्या वालों और नील लेश्या वालों का एक समान पाठ कहना चाहिए, पर उनकी वेदना में इस प्रकार भेद है:—मायिमिथ्यादृष्टि-- उपपन्नक और अमायी सम्यग्दृष्टि--उपपन्नक कहने चाहिए। तथा कृष्ण लेश्या और नील लेश्या में मनुष्यों को सरागसंयत, वीतरागसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत नहीं कहना चाहिए। तथा कापोतलेश्या में भी यही पाठ कहना चाहिए, भेद यह है कि कापोत लेश्या वाले नैरयिकों को औधिक दंडक के समान कहना चाहिए। तेजो लेश्या और पद्म लेश्या वालों को औधिक दंडक के ही समान कहना चाहिए विशेषता यह है कि मनुष्यों को सराग और वीतराग नहीं कहना चाहिए। गाथाः—

कर्म और आयुष्य उदीर्ण हों तो वेदते हैं। आहार, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और आयुष्य इन सब की समानता के संबंध में पहले कहे अनुसार ही समझना चाहिए।

व्याख्यान—अब तक जो वर्णन किया गया है, उसमें किसी खास अपेक्षा का विचार नहीं था। सामान्य रूप से चौबीस दंडकों के विषय में विचार किया गया है। अब लेश्या की अपेक्षा से चौबीस दंडकों का विचार किया जाता है।

छः लेश्याओं के छः दंडक और सलेश्य का, एक इस प्रकार सात दंडकों से यहां विचार किया गया है। सरलता से समझने के लिए लेश्याओं की कोटियां बना ली गई हैं।

पहले नैरयिकों का जो वर्णन किया गया है, उसमें सामान्य नैरयिकों का प्रश्न था। लेकिन यहाँ यह प्रश्न है—भगवन्! लेश्या वाले नारक समान आहारी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—गौतम! सलेश्य नारकों के दो भेद हैं— अल्पशरीरी नैरयिक भी सलेश्य हैं और महाशरीरी नैरयिक भी सलेश्य (लेश्यायुक्त) हैं। अतएव नारकियों के आहार आदि की वक्तव्यता पहले के ही समान समझ लेनी चाहिए।

आहार के विषय में जिस प्रकार प्रश्न किया गया है, इसी प्रकार शरीर, उच्छ्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और उपपात के लिए भी प्रश्न करना चाहिए। इसी प्रकार चौबीसों दण्डकों को लेकर प्रश्न करने चाहिए।

कियों के दो भेद हैं—एक अल्पशरीरी, दूसरे महाशरीरी। अतएव उन सब का आहार समान नहीं है।

कृष्ण लेश्या की तरह सभी लेश्याओं का वर्णन आहार, शरीर आदि नौ पदों को लेकर करना चाहिए। इस प्रकार सात दण्डकों का प्रश्न समझना चाहिए।

लेश्या, आत्मा के साथ कर्मों का संबंध कराने वाली शक्ति है। जैसे लिफाफ़े को चिपकाने में गोंद की शक्ति काम आती है, उसी प्रकार आत्मा-जो स्वभावतः सच्चिदानन्द है, लेकिन भ्रम-जाल में फँसा हुआ है, लेश्या के कारण कर्मों से संबद्ध हो रहा है। परिणामों की विसदृशता के अनुसार लेश्याओं के विभाग किये गये हैं। एक परिणाम वह है, जिसके अनुसार फल प्राप्त करने के लिए झाड़ काट गिराने की बुद्धि सूझती है और दूसरा परिणाम वह है जिसके अनुसार नीचे गिरे पके फलों से निर्वाह करने की भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार जिसके जैसे परिणाम होंगे उसके वैसी ही लेश्या होगी। और जैसी लेश्या होगी वैसे ही कर्म बँधेंगे।

शेष कथन शब्दार्थ से ही समझा जा सकता है, अतएव उसके संबंध में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

लेश्या का वर्णन

मूलपाठः—

प्रश्न—कइ णं भंते ! लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

उत्तर—गोयमा ! छ लेस्साओ पण्णत्ता, तं जहा-लेस्साणं बिइओ उद्देसो भाणियव्वो, जाव-इड्ढी ।

लेश्या पद का दूसरा उद्देशक कहना चाहिए। वह ऋद्धि की वक्तव्यता तक कहना चाहिए।

व्याख्यान—लेश्या के भेदों को भलिभाँति समझने के लिए उसके स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। लेश्या के संबंध में पहले कुछ विवेचन किया गया है, फिर भी यहाँ दूसरे प्रकार से वर्णन करना आवश्यक है। जिसके द्वारा आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का श्लेष हो—आत्मा और कर्म मिलकर एकमेक हो जाएँ उसे लेश्या कहते हैं। मैंने पहले वतलाया था कि कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृति लेश्या कहलाती है। मगर योगकी प्रवृति भी लेश्या कहलाती है। लेश्या का यह लक्षण वतलाते हुए एक आचार्य ने कहा है—जहां योग है वहीं लेश्या होती है और जहां योग नहीं है वहां लेश्या भी नहीं होती, जैसे चौदहवें गुण स्थान में। अतएव योग की प्रवृति को ही लेश्या कहना चाहिए।

कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृति को लेश्या माना जाय तो तेरहवें गुण स्थान में लेश्या का अभाव हो जायगा, क्योंकि इस गुण स्थान मे जो योग की प्रवृति है वह कषाय से अनुरंजित नहीं है, क्योंकि वहां कषाय का सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव लेश्या का यह लक्षण ठीक नहीं जान पड़ता। यह एक पक्ष का कथन है।

दूसरे पक्ष की युक्ति इस प्रकार है—योग की प्रवृति को ही लेश्या मानना उचित नहीं है, क्योंकि कषाय के विना योग से स्थितिवंध नहीं हो सकता। योग से सिर्फ प्रकृतिवंध और प्रदेशवंध होता है, स्थितिवंध नहीं होता। स्थितिवंध और

अनुभागबंध कषाय से होते हैं। अतएव अगर योग के परिणाम को लेश्या माना जाय तो कहना होगा कि स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से नहीं होता।

इन दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है और लेश्या तभी तक रहती है जब तक योग है। तेरहवें गुणस्थान में योग है इसलिए लेश्या है। बाद में योग नहीं है अतएव लेश्या भी नहीं है। आठवें गुणस्थान से शुक्ल लेश्या होती है, वह फिर नहीं बदलती। आगे जब तक लेश्या रहेगी, शुक्ल ही रहेगी।

यहाँ गौतम स्वामी ने भगवान् से लेश्याओं की संख्या के संबंध में प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! लेश्याएँ छः हैं। वे इस प्रकार हैं:—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। इनमें से एक एक लेश्या में असंख्यात-असंख्यात स्थान हैं।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि लेश्याओं के स्थान असंख्यात-असंख्यात क्यों है? अनन्त या संख्यात क्यों नहीं है? इसका समाधान यह है कि जिस स्थान में जीव जाता है, वहां के योग्य लेश्या ही उसमें आती है और उस लेश्या से ही स्थितिबंध होता है। आयु के समाप्त होने पर वह लेश्या अन्तर्मुहूर्त में बदल जाती है। अर्थात् जिस लेश्या में आयुबंध होता है, मरकर उसी लेश्या में जीव जाता है।

जीव को नियत स्थान पर उत्पन्न होने के लिए कौन ले जाता है? जीव ने तो नरक या स्वर्ग देखा नहीं है, फिर उसे कौन वहां पहुँचाता है? सातवें नरक के नीचे से मरकर पृथ्वीकाय का जीव सिद्धशिला तक पहुँच जाता है। उसे क्या मालूम कि मुझे कहां जाना है और क्या करना है? अतएव जीवों को नियत स्थान पर पहुँचाने वाला कोई दूसरा होना चाहिए। वह कौन?

इस प्रकार के प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर न दे सकने वालों ने ईश्वर के जिम्मे पर यह काम सौंप दिया है। वे कहते हैं, स्वर्ग या नरक में भेजने वाला ईश्वर के सिवाय और कौन हो सकता है? बिना राजा की आज्ञा के न कोई जेल में जाता है, न उसके महल में प्रवेश कर सकता है। कहा भी है:—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः ।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥

अर्थात्—यह अज्ञानी जीव अपना सुख-दुःख भोगने में असमर्थ है। इसलिए ईश्वर की प्रेरणा से प्रेरित होकर स्वर्ग-नरक में जाता है।

ईश्वर सुख-दुःख का दाता है, इस संबंध में, इसी सूत्र के व्याख्यान में पहले विचार किया जा चुका है। अतएव पिष्टपेषण करना उचित नहीं है। वास्तव में ईश्वर को सुख-दुःख का दाता मानने से उसमें अनेक दोष आते हैं। इसलिए ईश्वर सुख-दुःख नहीं देता।

अगर ईश्वर सुख दुःख नहीं देता तो जीव को नरक में कौन भेजता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए ही लेश्या के असंख्यात स्थान बतलाये गये हैं। और साथ ही यह भी बतलाया गया है कि जीव जिस स्थान में उत्पन्न होता है उसी की लेश्या में आयु-बंध होता है। इससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि नरक या स्वर्ग में ले जाने वाली लेश्या ही है। कहा भी है—

मरणान्ते या गतिः सा मतिः।

गति है वैसी गति होती है। कल्पना कीजिए, आप दिल्ली नगर के मकानों की रचना देख रहे हैं। यह रचना किस प्रकार हुई है? सर्व प्रथम मनुष्य के मस्तिष्क में इस रचना का विकास हुआ, फिर उसने उसे स्थूल रूप प्रदान किया। अतएव यह रचना मन के विचारों पर ही निर्भर है। जिस मन के विचार से यह रचना हुई है, उसी मन के विचार से वह नष्ट भी हो सकती है। इसी प्रकार स्वर्ग या नरक आदि सब मन की लेश्या पर निर्भर है। जैसी लेश्या होती है, वैसी ही गति होती है। पहले लेश्या बनी या पहले स्थान बना, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दोनों में से किसी की पहल नहीं है, दोनों अनादिकालीन प्रवाह से चल रहे हैं।

लेश्या एक साधारण-सी बात मालूम होती है, पर अगर गहराई से देखा जाय तो लेश्या के ही कारण जीव अनादिकाल से भव-भ्रमण कर रहा है। अतः यह विचार मत करो कि स्वर्ग में सुख और नरक में दुःख है, वरन् निश्चित समझो कि समस्त सुख और दुःख तुम्हारी ही लेश्या में भरा पड़ा है। अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को यह सब बतलाया था। उन्होंने कहा था—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥

अर्थात्—बिना कर्म के कुछ होता नहीं और कर्म अपने ही किये लगते हैं। इसलिए चाहे दुख हो चाहे सुख हो, वह अपना-आत्मा का ही किया हुआ है। जो कुछ करता है, आत्मा ही करता है। अतएव आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है।

आत्मा के अपने ही कर्मों से सुख दुःख की प्राप्ति होती है, इसलिए आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूट शाल्मलि वृक्ष है और आत्मा ही कामधेनु तथा नन्दनवन है।

लेश्या में ही संसार है। बुरी लेश्या में नरक है। अगर वैतरणी से डरते हो तो बुरी लेश्या क्यों उत्पन्न होने देते हो? वैतरणी की लेश्या नहीं लाओगे तो वैतरणी आप ही दूर भाग जायगी।

अनाथी मुनि ने वैतरणी और कूट शाल्मलि वृक्ष में सारा नरक गर्भित कर दिया है और कामधेनु एवं नन्दन वन में सम्पूर्ण स्वर्ग समा दिया है। कूट शाल्मलि, वैतरणी, नन्दनवन और कामधेनु अन्य कुछ नहीं, सब आत्मा की लेश्या में ही है। इस प्रकार स्वर्ग और नरक, दोनों तुम्हारी मुट्ठी में है। जिसे चाहो, अंगीकार कर सकते हो। तुम स्वयं अपने सुख-दुखदाता ईश्वर हो। दूसरा कोई तुम्हें स्वर्ग नरक का अधिकारी नहीं बना सकता।

बतलाये गये हैं और उन लक्षणों से यह निश्चय कर लिया जाता है कि मुझे कौन-सा रोग हुआ है, इसी प्रकार शास्त्रों में लेश्या का वर्णन पाया जाता है। शास्त्रों के अनुसार मिलान करके देखो कि मुझ में कौन-सी लेश्या उद्भूत हुई है। सम्यग्दृष्टि पुरुष लेश्याओं का विचार करके यह निश्चय करता है कि मैं स्वयमेव स्वर्ग-नरक का कर्त्ता हूँ। अपनी लेश्या ही फलदायिनी होती है। दूसरा कोई किसी को स्वर्ग-नरक में नहीं भेज सकता।

नमि राजर्षि से इन्द्र ने कहा था कि आप राजा हैं और राजा के योग्य ही कार्य कीजिए.—

आमोसे लोमहारे, य गंठी भेए य तक्करे ।
नगरस्स खेम काऊण, त ओ गच्छसिखत्तिआ ॥

श्री उत्तराध्ययन सूत्र ९वां अ०

अर्थात्—हे क्षत्रिय ! जो लोग प्रजा को लूटते हैं, ठगते हैं, और गाँठ काटते हैं, उन्हें कठोर शिक्षा (सज़ा) देकर

लुटेरे आकर लूट ले गये। इस प्रकार कर्म हमने किया और उसका फल लुटेरों को मिल गया। तब पुण्य-पाप की व्यवस्था कहाँ रही? इसी प्रकार एक आदमी चोरी करता है, लेकिन वह चालाकी से दूसरे निर्दोष को फँसा देता है और उसे दंड भोगना पड़ता है। इस प्रकार पाप का फल दूसरे ने भोगा, [illegible] दिखाई देता है।

इस प्रकार या किसी अन्य उपाय से दूसरे को फँसा देना एक प्रकार की चोरी है। मगर इससे यह समझा जाता है कि चोर सुखी है और निर्दोष पुरुष दुखी है। इस प्रकार एक करता है और दूसरा भोगता है।

नमि राजर्षि ने इन्द्र की बात के उत्तर में कहा—

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पउंजई।
अकारिणोऽत्थ बज्झन्ति, मुच्चइ कारओ जणो॥

श्री उत्तराध्ययन सूत्र ९वां अ०

चाहता है, निरपराध को दंड नहीं देना चाहता, वह संसार में एक भी क्षण नहीं ठहरेगा, वह मेरी ही भाँति साधु वन जायगा। क्योंकि चोर तृष्णा या लोभ से प्रेरित हो कर ही चोरी करता है। राजा उसे दंड देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राजा तृष्णा को, लोभ को और कामको बुरा समझता है। लेकिन जिस बुद्धि से प्रेरित होकर वह चोर को दंड देता है, उसी बुद्धि से अपने आपको क्यों नहीं देखता? वह क्यों नहीं सोचता कि यह सब दुर्गुण मुझ में हैं या नहीं? जो चोरी करता है उसे दंड न देकर चोर को दंड क्यों देता है? असली चोर तो तृष्णा है, और वह मुझ में भी भरी हुई है। इस प्रकार मेरा ही आत्मा चोरी करने वाला है। मै इस चोरी का विरोध नहीं करता और चोर को सज़ा देता हूँ!

आज सैकड़ों ऐसे मौजूद हैं जो एक रुपये की चोरी करने वाले को तो सज़ा देते हैं और आप हजारों रुपये घूंस खा जाते हैं चोर विना हक का लेता है, इसलिए वह शिक्षा का पात्र है तो घूंस लेना क्या हक़ का है? यह चोरी नहीं है? कोई विना हक़ का लेता है, जैसे गरीव से लूटता है और रंडीवाजी में खर्च देता है, तो यह चोरी नहीं है?

चोरों को दण्ड देने के लिए पुलिस रक्खी जाती है, उसका खर्च प्रजा को सहन करना पड़ता है, लेकिन वास्तव में प्रजा को चोरों ने उतना न लूटा होगा, जितना पुलिस ने ही लूटा होगा। इसी प्रकार प्रजा की रक्षा के लिए राजा की स्थापना की गई, मगर राजा स्वयं प्रजा को लूटने लगा!

विना हक का लेने पर दूसरों को जो सजा देते हैं, वह स्वयं लूटने वाला आप क्यों नहीं सज़ा लेता। उदाहरणार्थ-आप

के पास दूध से भरा हुआ एक बर्तन है। उसे आप अपना बतलाते हैं और उसका उपयोग करते हैं। लेकिन वास्तव में वह क्या आपका है? नहीं, वह दूध गाय-भैंस का है और उस पर उनके बच्चों का अधिकार है। जिसकी माता का दूध है, उसे मिलता नहीं। बछड़े बेचारे शक्तिहीन और मूक हैं, इसलिए आप उन्हें दूध से वंचित कर देते हैं और स्वयं डकार जाते हैं। क्या यह दूसरों का हक़ छीनना नहीं है? क्या यह डकैती नहीं है? गाय-भैंस ने बच्चे के वात्सल्य से प्रेरित होकर स्तन में दूध उतारा था, लेकिन आप ने देखा कि स्तनों में दूध आ गया, तब बच्चे को अलग कर दिया और अपना हंडा भर लिया। इस छीने हुए दूध का आप मौज से उपयोग करते हैं। यह चोरी नहीं है तो क्या है? विद्वान् पुरुष इसी लिए कहते हैं कि जो लोग चोरी करते हैं, वे अपने को साहूकार के रूप में प्रसिद्ध करते हैं संसार में यह बड़ी भारी गड़बड़ी चल रही है। संसार में झूठ का साम्राज्य है। जिसने खुद चोरी की और चोरी का आरोप दूसरे पर रख दिया, वह अच्छी लेश्या वाला नहीं है।

कि चोरी न करने वाले को भी चोरी करने के लिए ललचाता है। जब सिक्का नहीं था तब राजा, कृषकों से उनकी फसल का छठा भाग लेता था और उसके बदले उनकी रक्षा करता था। जब फसल में कुछ पैदा नहीं होता था तब प्रजा को कुछ देना भी नहीं पड़ता था। जब से सिक्के का प्रचलन बढ़ा, तबसे छठे भाग के बदले सिक्के लिये जाने लगे। अब सिक्कों के रूप में ही भूमिकर लिया जाता है। फसल हो या न हो, राजा को अपना कर वसूल करने से मतलब। इस प्रकार विचार किया जाय तो सिक्का प्रजा के लाभ के लिए नहीं, उसे चूसने के लिए है। ... ... आज हजारों रुपये के नोट चलते हैं। उनकी असली क्या कीमत है?

चोर शरीर से चोरी करता है और पढ़े-लिखे शक्तिशाली लोग कानून की सहायता से और मस्तिष्क शक्ति से चोरी करते हैं। एक रुपये की चोरी करने वाला चोर कहलाता है, बदनाम होता है, पकड़ा जाता है, मारा पीटा जाता है और सजा पाता है। लेकिन कानून-सम्मत बड़ी चोरी करने वाले साहूकार कहलाते हैं, समाज में आदर और प्रतिष्ठा के पात्र समझे जाते हैं।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि राजा सबसे बड़ा चोर है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि सभी राजा चोर होते हैं। जिस राजा में स्वार्थ-बुद्धि हो, प्रजा के प्रति समर्पण की भावना जिसमें नहीं है और ग्रहण करने की भावना है, वही राजा चोर—सबसे बड़ा चोर—है। राजा, लोगों को जितना अधिक दबाना चाहता है, उतना ही अधिक पाप प्रजा में होता है और चोरी के अपराध भी उतने ही अधिक

यहाँ यह विचारने योग्य है कि जीव कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से नरक गया है और उन्हीं लेश्याओं से. नरक से निकल कर तीर्थंकर भी होता है। जो लेश्याएँ नरक गति में जाने का कारण बनी थीं, वही तीर्थंकर होने का भी कारण बनती हैं। इसी से यह समझा जा सकता है कि प्रत्येक लेश्या के कितने-कितने अवान्तर भेद हैं।

हे गौतम! नरक के जीवों में तीन लेश्याएँ होती हैं। तिर्यंच योनि के जीवों में छहों लेश्याएँ पाई जाती हैं। एकेन्द्रियों में चार लेश्याएं हो सकती हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पति काय में चार लेश्याएं होती हैं, तेजस्काय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में तीन लेश्याएँ हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य में छहों लेश्याएँ हैं। भुवनपति और व्यन्तर के चार लेश्याएँ हैं ज्योतिष्क देवों में तेजो लेश्या है। पहले और दूसरे देवलोक में तेजो लेश्या, तीसरे से पांचवे में पद्म लेश्या तथा आगे के स्वर्गों में शुक्ल लेश्या होती है।

गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं—भगवन्! कृष्ण लेश्या से शुक्ल लेश्या तक के जीवों में से कौन कम ऋद्धि वाला है और कौन किससे अधिक ऋद्धि वाला है? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया-कृष्ण लेश्या वाले से नील लेश्या वाला महा-ऋद्धिमान् है। इस प्रकार सबसे अधिक ऋद्धिमान् शुक्ल लेश्या वाले हैं और सबसे कम ऋद्धिमान् कृष्ण लेश्या वाले हैं।

संसार संस्थान काल

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवस्स णं भंते ! तीतद्धाए आदिट्ठस्स कइविहे संसार संचिट्ठण काले पण्णत्ते ?

उत्तर—गोयमा ! चउव्विहे संसार संचिट्ठण काले पण्णत्ते, तंजहा—णेरइय संसार संचिट्ठण काले, तिरिक्ख-मणुस्स-देवसंसार संचिट्ठण काले य पण्णत्ते !

प्रश्न—नेरइय संसार संचिट्ठण काले णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?

उत्तर—गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तंजहा-सुन्नकाले, असुन्नकाले, मिस्सकाले ।

प्रश्न—तिरिक्ख जोणिअ संसार०पुच्छा ?

उत्तर—गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-असुन्नकाले य मिस्सकाले य । मणुस्साण य देवाण य जहा नेरइयाणं ।

प्रश्न—एअस्स णं भंते ! नेरइ अस्स संसार संचिट्ठण कालस्स सुन्नकालस्स, असुन्न-कालस्स, मसिकालस्स य कयरे. कयरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा. विसेसाहिए वा ?

उत्तर—गोयमा ! सव्वत्थो वे असुन्नकाले मिस्सकाले अणंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे !

तिरिक्ख जोणियाण सव्वत्थोवे असुन्नकाले, मीसकाले अणंतगुणे. मणुस्स-देवाण य जहा नेरइयाणं।

प्रश्न—एयस्स णं भंते! नेरइ असंसार संचिट्ठणकालस्स जाव-देवसंसारसंचिट्ठणकालस्स जाव-विसेसाहिए वा?

उत्तर— गोयमा! सव्वत्थोवे मणुस्ससंसार संचिट्ठणकाले, नेरइय संसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणिय संसारसंचिट्ठणकाले अणंतगुणे।

तद्यथा-नैरयिकसंसार सस्थानकाल, तिर्यग्-मनुष्य-देव-ससार सस्थान कालश्च प्रज्ञप्तः।

प्रश्न—नैरयिकससारसस्थानकालो भगवन्! कतिविधः प्रज्ञप्तः?

उत्तर—गौतम! त्रिविधः प्रज्ञप्त, तद्यथा-शून्यकालः, अशून्यकालः, मिश्रकालः।

प्रश्न—तिर्यग्योनिकसंसार ० पृच्छा?

उत्तर—गौतम! द्विविधः प्रज्ञप्त, तद्यथा—अशून्यकालश्च, मिश्रकालश्च। मनुष्याणां च, देवानाञ्च यथा नैरयिकाणाम्।

प्रश्न—एतस्य भगवन्! नैरयिकस्य ससारसस्थानकालस्य शून्यकालस्य, अशून्यकालस्य, मिश्रकालस्य च कतरः कतरेभ्योऽल्पो वा, बहुको वा, तुल्यो वा, विशेषाधिको वा?

उत्तर—गौतम! सर्वस्तोकोऽशून्यकाल, मिश्रकालोऽनन्तगुण, शून्यकालोऽनन्तगुण।

तिर्यग्-योनिकाना सर्वस्तोकोऽशून्यकाल, मिश्रकालोऽनन्तगुणः, मनुष्य देवानाञ्च यथा नैरयिकाणाम्।

प्रश्न—एतस्य भगवन्! नैरयिकससारसस्थानकालस्य यावत् देवससारसस्थानकालस्य यावत् विशेषाधिको वा?

उत्तर—गौतम! सर्वस्तोको मनुष्यसंसारसंस्थानकालः, नैरयिकसंसारसंस्थानकालोऽसंख्येयगुणः, देवसंसारसंस्थानकालोऽसंख्येयगुणः, तिर्यग्-योनिकसंसारसंस्थानकालोऽनन्तगुणः ।

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन्! अतीतकाल में आदिष्ट-नारक आदि विशेषण-विशिष्ट जीवों का संसार-संस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है?

उत्तर—गौतम! संसार-संस्थान का काल चार प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार है—नैरयिकसंसारसंस्थानकाल, तिर्यंचसंसारसंस्थानकाल, मनुष्यसंसारसंस्थान काल और देवसंसारसंस्थान काल।

प्रश्न—भगवन्! नैरयिकसंसारसंस्थान काल कितने प्रकार का कहा गया है?

प्रकार–अशून्यकाल और मिश्रकाल। मनुष्यों और देवों के संसारसंस्थान काल के प्रकार नारकियों के समान ही समझने चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! नारकियों के संसारसंस्थान काल के तीन शून्य–अशून्य और मिश्र कालों में कौन किससे कम, बहुत, तुल्य या विशेपाधिक है?

उत्तर—गौतम! सब से कम अशून्य काल है, उससे मिश्रकाल अनंतगुना है और उसकी अपेक्षा भी शून्य काल अनंतगुणा है।

तिर्यंच संसार संस्थान काल के दो भेदों में से सब से कम अशून्य काल है और उसकी अपेक्षा मिश्रकाल अनंत-गुणा है।

मनुष्यों और देवों के संसार संस्थान काल की न्यूना-धिकता नारकियों के संसार संस्थान काल की न्यूनाधिकता के समान ही समझना चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! नारकियों के, तीर्यंचों के, मनुष्यों के और देवों के संसारसंस्थान कालों में कौन किससे कम, ज्यादा, तुल्य या विशेपाधिक है?

उत्तर--गौतम ! मनुष्य संसारसंस्थान काल सब से थोड़ा है, उससे नैरयिक संसार संस्थान काल असंख्यात गुणा है, उससे देव संसार संस्थान काल असंख्यात गुणा है और उससे तिर्यञ्च संसारसंस्थानकाल अनंतगुणा है।

उसी प्रकार आत्मा एक है। उसकी परछाइयाँ अनेक दिखाई देती हैं।

इन विभिन्न मतों को दृष्टि में रखकर गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न कर रहे हैं कि—भगवन्! इस विषय में आपका क्या मत है?

भगवान् कहते हैं—गौतम! ऐसा नहीं है। जीव अनादिकाल से विभिन्न योनियों में भ्रमण कर रहा है और प्रत्येक शरीर में आत्मा अलग-अलग है-सब में एक आत्मा नहीं है।

तत्पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि भगवन्, जीव अनादिकाल से और वह एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमण कर रहा है तो अतीतकाल में जीव ने कितने प्रकार का संसार बिताया है?

यहाँ गौतम स्वामी ने अतीत काल विषयक प्रश्न किया है, क्योंकि जैसे जीव अनादि है, इसी प्रकार काल भी अनादि है और जैसे काल अनादि है वैसे ही जीव भी अनादि है।

एक ही पुरुष उपाधिभेद से कभी बालक कहलाता है, कभी युवक कहलाता है, और कभी वृद्ध कहलाता है। इसी प्रकार उपाधिभेद से ही जीव कभी मनुष्य कहलाता है, कभी तिर्यञ्च कहलाता है, कभी देव और कभी नारक कहलाता है। इन विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करना ही संसार है। गौतम स्वामी पूछते हैं कि जीव ने कितने प्रकार का संसार संस्थान किया है? अर्थात् कितनी योनियों में यह स्थित रहा है?

गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते

वाले आत्मा इस एक ही आत्मा के प्रतिबिम्ब है, यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है। चन्द्रमा का उदाहरण आत्मा के विषय में घटित नहीं होता। चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब सब समान दिखाई देते हैं। चन्द्रमा अष्टमी का होता है तो उसके सब प्रतिबिम्ब भी अष्टमी के ही होते हैं। पूर्णिमा के चन्द्र के सभी प्रतिबिम्ब भी पूर्णिमा के ही होते हैं। उनमें विभिन्नता प्रतीत नहीं होती। लेकिन सब आत्माओं में ऐसी समानता दिखाई नहीं देती। अगर सब आत्मा एक ही आत्मा के प्रतिबिम्ब होते तो प्रत्येक आत्मा में जो-न्यूनाधिक समानता पाई जाती है, वह कैसे होती।

इसके अतिरिक्त बिम्ब को मोक्ष नहीं हो सकता, अतएव किसी आत्मा को मोक्ष लाभ भी न होगा। एक ही आत्मा मानने से इस प्रकार अनेक दोष आते हैं। अगर सब आत्मा एक ही आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं तो एक जीव के सुख से दूसरे को भी सुख होगा और एक के दुःख से सभी दुखी होंगे। एक को चोट लगने से सभी को समान पीड़ा होगी और इसी प्रकार रोग आदि की वेदना भी सब को समान माननी पड़ेगी? अतएव सब जीव भिन्न-भिन्न सत्ता वाले हैं और अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

भगवान फर्माते हैं- सब मनुष्य, अतीत काल में चार प्रकार के संसार में रहे हैं। कभी नारकी, कभी पशु, कभी देव और कभी मनुष्य योनि में समय बिताया है। चार प्रकार के संसार में प्रत्येक आत्मा ने भ्रमण किया है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक में जीव रहा

में से कोई बाहर निकल कर आता है। वही काल नरक का अशून्य काल कहलाता है। कहा है—

आइट्ठसमइयाणं, नेरइयाणं न जाव एक्को वि।
उव्वट्टइ अन्नो वा, उववज्जइ सो असुन्नो ओ ॥

अर्थात्—आदिष्ट समय वाले नारकी जीवों में से जब तक न एक भी मरकर निकलता है, न कोई नया उत्पन्न होता है, तब तक का काल अशून्यकाल कहलाता है।

वर्त्तमान काल के इन नारकियों में से एक, दो, तीन, चार, इत्यादि क्रम से निकलते-निकलते जब एक ही नारकी शेष रह जाए, अर्थात् मौजूदा नारकियों में से एक का निकलना जब आरंभ हुआ तब से लेकर जब एक शेष रहा तब तक के समय को मिश्रकाल कहते हैं। उदाहरणार्थ-वर्त्तमान काल में यहां जितने मनुष्य बैठे हैं, वे सब एक-एक करके चले जावें, सिर्फ मनुष्य शेष रह जाय और दूसरे नये आजावें, तब तक का समय मिश्रकाल कहलाता है।

वर्त्तमान काल के जिन नारकियों का ऊपर विचार किया है, उनमें से जब समस्त नारकी, नरक से निकल आवें एक भी शेष न रहे, और उनके स्थान पर सभी नये नारकी पहुँच जावें, वह समय शून्यकाल कहलाता है। जैसे-व्याख्यान में एक हजार आदमी बैठे थे, धीरे-धीरे वे सब चले गये। उनमें से एक भी बाकी न रहा और उनके बदले नये आदमी आ बैठे, यह शून्यकाल कहलाया।

भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम! यह जीव नरक में

एयं पुण ते जीवे, पडुच्च सुत्तं न तब्भवं चेव।
जइ होज्ज तब्भवं तो, अनन्तकालो न संभवइ ॥

अर्थात्—यह सूत्र जीवों को उसी भव के आश्रित नहीं है, अगर उसी भव के आश्रित माना जाय तो मिश्रकाल अनन्तगुणा संभव न होगा।

मिश्रकाल की अनन्तगुणता में क्यों बाधा आएगी, इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। नरक के वर्त्तमानकालीन नारकी अपनी आयु पूर्ण करके नरक से निकलते ही हैं और नरक की आयु असंख्यातकाल की ही है, अनन्तकाल की नहीं है। ऐसी अवस्था में बारह मुहूर्त्त वाले अशून्यकाल की अपेक्षा मिश्रकाल असंख्यातगुणा सिद्ध होगा, अनन्तगुणा नहीं। अतएव नरक के जीव जब तक नरक में रहें तभी तक मिश्रकाल नहीं समझना चाहिए, वरन् नरक के जीव नरक से निकल कर दूसरी योनि में जन्म लेकर फिर नरक में आवें, तब तक का काल मिश्रकाल है।

तिर्यंच योनि में दो ही संस्थानकाल हैं—अशून्यकाल और मिश्रकाल। शून्यकाल तिर्यंच योनि में नहीं है। शून्यकाल तब होता है जब उस योनि में पहले वाला एक भी जीव न रहे, मगर तिर्यंच योनि में अनन्त जीव हैं। वे सब के सब उसमें से निकल कर नहीं जाते। इसलिए तिर्यंच योनि में शून्यकाल नहीं है।

मनुष्य योनि और देवयोनि में तीनों काल हैं। अतएव इन दोनों का वर्णन पूर्वोक्त नारकियों के वर्णन के समान ही समझना चाहिए।

और नये जाते हैं, अतएव पृथ्वीकाय आदि में भी मिश्रकाल अनन्तगुणा है।

मनुष्यों और देवों के संस्थान-काल की हीनाधिकता नारकियों के ही समान समझनी चाहिए।

संसार की अपेक्षा जीव का तीन कालों का संसार-संस्थान-काल समाप्त होता है। इसके अनन्तर मोक्ष का प्रश्न उपस्थित होता है। उस पर आगे विचार किया जाता है।

उत्तर-गौतम! कोई जीव करता है, कोई जीव नहीं करता है; यहां प्रज्ञापना सूत्र का बीसवां अन्तक्रिया पद समझना चाहिए।

व्याख्यान—कई लोगों का कथन है कि जीव स्वभाव से संसार में परिभ्रमण करता रहता है और जीव का स्वभाव सदा कायम रहता है, इसलिए उसका भव-भ्रमण भी सदा कायम रहता है। इस कथन का आशय यह निकला कि जीव कभी मुक्ति नहीं प्राप्त करता। कदाचित् किसी जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाय तो वहां पर भी वह कुछ समय रहकर दूसरी योनि में जन्म ले लेता है। उनकी मान्यता के अनुसार मोक्ष भी संसार की ही एक अवस्था है। वे मोक्ष को ऐसा नहीं मानते जहां पहुँच कर जीव का परिभ्रमण समाप्त हो जाता है; फिर कभी वहां से वापस नहीं लौटना पड़ता।

इस मान्यता पर दृष्टि रखते हुए गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जीव संसार में ही रहता है या संसार-विच्छेद कर मोक्ष भी जाता है? अर्थात् जीव अन्तक्रिया करता है?

जिस क्रिया के पश्चात् फिर कभी दूसरी क्रिया न करनी पड़े, वह अंतक्रिया कहलाती है अथवा कर्मों का सर्वथा अन्त करने वाली क्रिया भी अन्तक्रिया कहलाती है। दोनों का आशय एक ही है—सकल कर्म समूह का क्षय करके मोक्षप्राप्ति की क्रिया अन्तक्रिया है।

इस प्रश्न के उत्तर के लिए आचार्य प्रज्ञापना के 'अन्तक्रिया' नामक बीसवें पद का हवाला देकर कहते हैं—

है ? इसका उत्तर यह है कि कोई नारकी अन्तक्रिया करते हैं, यह कथन भविष्य की अपेक्षा से है। इस कथन द्वारा यह प्रकट किया गया है कि नारकियों में भी अंतक्रिया करने की शक्ति विद्यमान है, मगर उस शक्ति की अभिव्यक्ति नारक भव में होती नहीं है। नारक जीव मनुष्य पर्याय पाकर ही अंतक्रिया करते हैं।

जीव में जब तक कर्म-बंध का सद्भाव रहता है, तब तक वह अंतक्रिया नहीं करता। कर्म शेष रहने से कोई-कोई जीव देवपर्याय में भी उत्पन्न होता है, अतएव अब देवता सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित होता है।

इस विषय में गौतम स्वामी ने चौदह प्रश्न किये हैं और भगवान् ने अनेक उत्तर दिये हैं। इसका वर्णन आगे दिया जाता है।
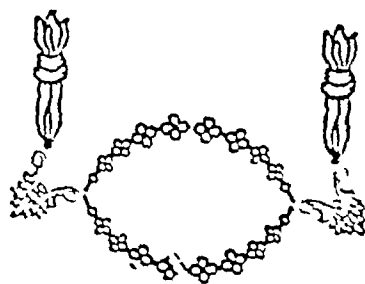
देवोपपात

मूलपाठ—

प्रश्न— अह भंते ! असंजय भवियदव्व-देवाणं अविराहिय संजमाणं, विराहियसंज-माणं, अविराहियसंजमासंजमाणं, विराहिय-संजमासंजमाणं असण्णीणं, तावसाणं, कंदप्पियाणं, चरगपरिव्वायगाणं किब्बिसिया-णं तेरिच्छियाणं आजीवियाणं, आभिओ-गियाणं सलिंगीणं दंसणवावण्णगाणं, एएसिं णं देवलोगेसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उव-वाए पण्णत्ते ?

गेविज्जएसु; अविराहिअसंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणे; विराहियसंजमाणं जहण्णेणं भवणवासिसु उक्को-सेणं सोहम्मे कप्पे; अविराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे; विराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं भवणवासिसु उक्कोसेणं जोइसिएसु; असण्णीणं जहण्णेणं भ-वणवासिसु, उक्कोसेणं वाणमंतरेसु; अवसेसा सव्वे जहण्णेणं भवणवासिसु, उक्कोसेणं वो-च्छामि-तावसाणं जोतिसिएसु, कंदप्पिआणं सोहम्मे कप्पे, चरगपरिव्वायगाणं बंभलोए कप्पे, किव्बिसियाणं लंतगे कप्पे, तेरिच्छिआणं सह-स्सारे कप्पे, आजीविआणं अच्चुए कप्पे, अ-भिओगिआ अच्चुए कप्पे, सलिंगीण दंसणवा-मावण्णगाणं उवरिमगेविज्जएसु ।

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन्! असंयत भव्यद्रव्य (संयमरहित और आगे देव होने वाले) देव, अखंडित संयम वाला, खंडित संयम वाला, अखंडित संयमासंयम-देशविरति-वाला, खंडित संयमासंयम वाला, असंज्ञी, तापस, कांदर्पिक, चरकपरिव्राजक, किल्विषिक, तिर्यंच, आजीविक, आभियोगिक, और श्रद्धाभ्रष्ट वेषधारी; ये सब अगर देव लोक में उत्पन्न हों तो किसका, कहां उत्पाद होता है?

उत्तर—हे गौतम! असंयतभव्यद्रव्य देवों का जघन्य भवनवासियों में, और उत्कृष्ट ऊपरके ग्रैवेयकों में उत्पाद कहा गया है। अखंडित संयम वालों का जघन्य सौधर्म कल्प में और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध विमान में, खंडित संयम वालों का जघन्य भवनवासियों में, उत्कृष्ट सौधर्म कल्प में, अखंडित संयमासंयम वालों का जघन्य सौधर्म कल्प में, उत्कृष्ट अच्युत कल्प में, खंडित संयमासंयम वालों का जघन्य भवनवासियों में, उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवों में, असंज्ञी जीवों का जघन्य भवनवासियों में, उत्कृष्ट वाण-व्यन्तर में, और शेष सब का उत्पाद जघन्य भवनवासियों में होता है और उत्कृष्ट उत्पाद अब कहूंगा—तापसों का ज्योतिष्कों

में, कांदर्पिकों का सौधर्म कल्प में, चरक-परिव्राजकों का ब्रह्मलोक कल्प में, किल्बिषिकों का लान्तक कल्प में, तिर्यंचों का सहस्रार कल्प में, आजीविकों का तथा आभियोगिकों का अच्युत कल्प में और श्रद्धाभ्रष्ट वेषधारियों का ऊपर के ग्रैवेयकों में उत्पाद होता है।

व्याख्यान—इस सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने, यहां अपनी टीका में लिखा है कि हम प्रज्ञापना सूत्र की टीका लिखते हैं, जिसमें असंयत भव्यद्रव्यदेव का अर्थ प्रकट किया गया है। अभयदेवसूरि के इस लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि इनसे पहले प्रज्ञापना सूत्र की कोई संस्कृत टीका विद्यमान थी, जो इस समय उपलब्ध नहीं है। आजकल प्रज्ञापनासूत्र की जो टीका उपलब्ध है, वह मलयागिरि सूरि की है और मलयगिरिजी, अभयदेव सूरि के पश्चात् हुए हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि अभयदेव सूरि जिस टीका का उल्लेख यहां कर रहे हैं, वह उनसे पूर्ववर्त्ती किसी अन्य आचार्य की होनी चाहिए।

असंयत भव्य द्रव्य देव कहलाता है। किसी-किसी के मत से असंयत भव्य द्रव्य देव असंयत सम्यग्दृष्टि को कहते हैं। अपने मत के समर्थन में वे यह प्रमाण देते हैंः—

अणुव्वय-महव्वएहि य बालतवाऽकामणिज्जराए य ।
देवाउयं निबंधई, सम्मदिट्ठी य जो जीवो ।

अर्थात्—अणुव्रती हो, महाव्रती हो, बाल तपस्वी हो, अकामनिर्जरा करने वाला हो. लेकिन अगर वह सम्यग्दृष्टि है तो देवायु का बंध करता है।

टीकाकार का कथन है कि यह मत ठीक नहीं है। इसी सूत्र में असंयतभव्य द्रव्यदेव उत्पाद ऊपर के ग्रैवेयक तक बतलाया गया है, मगर असंयत सम्यग्दृष्टि की तो बात ही क्या है, देश विरत श्रावक भी ग्रैवेयक तक नहीं जा सकता-वह भी अच्युत विमान तक ही जाता है। ऐसी अवस्था में सम्यग्दृष्टि ऊपर के ग्रैवेयक तक कैसे जा सकता है?

उपस्थित होता है कि असंयतभव्यद्रव्यदेव का अर्थ अगर असंयत सम्यग्दृष्टि न माना जाय तो क्या माना जाय? क्या निह्नवों को असंयतभव्यद्रव्यदेव मानना चाहिए? निह्नव अर्थ लेना भी ठीक नहीं है, क्योंकि निह्नव का पाठ आगे अलग आने वाला है। अतएव असंयतभव्यद्रव्यदेव यहां मिथ्यादृष्टि लेने चाहिए। असंयतभव्यद्रव्य देव वही होंगे जो

साधु के सम्पूर्ण गुण रखने वाले हों, साधु की सम्पूर्ण समाचारी का पालन करते हों, लेकिन जिनमें आन्तरिक साधुता न हो, केवल द्रव्यलिंग धारण करने वाला हो।

जब श्रावक भी बारहवें देवलोक से आगे नहीं जाता है, तो समझना चाहिए कि ऊपरी ग्रैवेयक तक जाने के लिए और भी विशेष क्रिया की आवश्यकता है। वह विशेष क्रिया श्रावक की तो है नहीं, अतएव साधु के सम्पूर्ण बाह्य गुण ही हो सकते हैं।

शंका—एक तरफ असंयत भी कहा जाता है और दूसरी तरफ साधु की सम्पूर्ण समाचारी पालने वाला भी कहा जाता है, यह परस्पर विरोधी कथन समुचित कैसे माना जा सकता है?

समाधान—इस कथन में विरोध की संभावना नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई मनुष्य हो सकता है जो साधु संबंधी चारित्र का अनुष्ठान तो करता है, मगर साधुता के आन्तरिक परिणामों से रहित है।

शंका—जब वह साधु का आचार पालन करता है तो साधुता के आन्तरिक परिणामों से शून्य कैसे माना जाय? दोनों की संगति किस प्रकार हो सकती है?

समाधान—असंयतभव्यद्रव्यदेव को महा मिथ्यादर्शन मोह प्रकट होता है, वह उसके हृदय में बना ही रहता है। इस कारण वह चक्रवर्त्ती आदि द्वारा मुनि का वन्दन, पूजन, सन्मान दान, सत्कार आदि देखकर सोचता है कि मैं भी अगर दीक्षा ले लूं तो मेरा भी इसी तरह वन्दन-पूजन आदि होगा। इस प्रकार प्रतिष्ठा-मोह से उसमें व्रत पालन की भावना उत्पन्न होती है। वह लोक सम्मान की भावना से ही व्रतों का पालन करता है, आत्मशुद्धि के उद्देश्य से नहीं। इस कारण वह व्रतों का पालन करता हुआ भी—चारित्र के परिणाम से शून्य ही है। इसमें पारस्परिक विरोध नहीं है।

साधुपन संबंधी श्रद्धा में भी भेद देखा जाता है। एक श्रद्धा मोक्ष को बड़ा मानने की होती है और एक लोक प्रतिष्ठा पूजा को ही बड़ा मानने की होती है। मोक्ष की श्रद्धा वाला मोक्ष प्राप्ति के हेतु क्रिया का पालन करता है और लोकपूजा की श्रद्धा वाला इसलिए क्रिया पालता है कि मैं जैसी अच्छी क्रिया करूँगा, वैसी ही अधिक मेरी पूजा होगी। इस प्रकार साधुता के पालन के उद्देश्य में महान् अन्तर होता है। प्रतिष्ठा की श्रद्धा भव्य और अभव्य-दोनों में ही हो सकती है, लेकिन मोक्ष की श्रद्धा भव्य जीव में ही संभव है। पूजा-प्रतिष्ठा की श्रद्धा वाला, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए साधु की समस्त क्रियाएँ करता है इन क्रियाओं से वह ३१ सागरोपम की स्थिति वाला देवलोक पा लेता है, परन्तु उसका संसार नहीं कटता है।

गौतम स्वामी का पहला प्रश्न है—हे भगवन्! असंयत-भव्यद्रव्यदेव अगर देवरूप में उत्पन्न हो तो किस देवलोक

तक उत्पन्न होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया- हे गोतम ! जघन्य भवन वासियों में उत्पन्न होता है और उत्कृष्ट नवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होता है।

गौतम स्वामी ने दूसरा प्रश्न यह किया है—भगवन् ! अविराधित संयम वाला अर्थात् दीक्षाकाल से लेकर अन्त तक जिसका चारित्र कभी भंग नहीं हुआ है, ऐसा जीव अगर देवलोक में उत्पन्न हो तो किस देवलोक में उत्पन्न होता है ? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट स्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होता है।

शंका—संयम से आश्रव रुकता है, और आश्रव रुकने पर भी अगर देवगति ही प्राप्त होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि संयम भी संसार का ही कारण है। तो क्या संयम, वास्तव में संसार का ही कारण है ?

समाधान—स्वर्ग में जाना संयम का फल नहीं है, वरन् संज्वलन कषाय का फल है। चारित्र ने कषाय का परिमार्जन किया है। चारित्र कषाय को पतला कर रहा था। पतला करते-करते भी जो कषाय शेष रह गया उसके प्रभाव से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है, संयम से नहीं।

शंका—अगर संयम से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती तो यहाँ संयमी को अमुक स्वर्ग की प्राप्ति क्यों बतलाई गई है ?

समाधान—कषाय के पतलेपन से स्वर्ग मिलता है, मगर कषाय को पतला करने वाला संयमी ही है। आयुकर्म का बंध आर्त्तध्यान के बिना नहीं होता। आर्त्तध्यान दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। यद्यपि आर्त्तध्यान, चाहे वह कैसी भी हो, मोक्ष का कारण नहीं होता, फिर भी प्रशस्त आर्त्तध्यान शुभ है। इसी से देवलोक का आयुबंध होता है। तात्पर्य यह है कि जन्म मरण का कारण कषाय है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं। यह तो मोक्ष के ही कारण है।

शंका—यहाँ आराधक संयमी का कथन है, लेकिन जिसमें प्रमाद और कषाय विद्यमान है, उसे आराधक कैसे कहा जा सकता है? अगर वह आराधक माना जाय तो प्रमादी और सकषाय कैसे?

समाधान—थोड़ा-सा कषाय, चारित्र में दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। यद्यपि वह थोड़ा कषाय (संज्वलन) यथाख्यात चारित्र का विघातक अवश्य है, तथापि सामायिक, छेदोपस्थापनीय आदि चारित्रों में उससे व्याघात नहीं होता। अतएव सकषाय और सप्रमाद होने पर भी साधु आराधक संयमी हो सकता है।

कषायकुशील नियंठा वाले को मूलगुण और उत्तरगुण का अप्रतिसेवी बतलाया है और कषायकुशील नियंठा छठे से दसवें गुणस्थान तक प्राप्त कर सकता है। यहाँ विचारणीय यह है कि जब उसके मूल और उत्तर गुणों में दोष नहीं लगता, तब भी उसे छठा गुणस्थान क्यों, [illegible]

है ? आशय यह है कि चारित्र का उपघात न होने से, प्रमादी होने पर भी आराधक कहा है।

अब तीसरा प्रश्न विराधक संयमी का है। विराधक संयमी अगर देवगति में जाय तो जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट सौधर्मकल्प में उत्पन्न होता है।

पहले आराधक संयमी का जो स्वरूप बतलाया गया है, उससे विपरीत विराधक संयमी कहलाता है। अर्थात् जिसने महाव्रत ग्रहण तो किये हैं, मगर उनका पालन भली-भाँति नहीं किया, जो नियंठों की मर्यादा लांघकर महाव्रत में दोष लगाता है, वह विराधक संयमी कहलाता है।

चौथा प्रश्न अविराधक संयमासंयमी का है। जिस समय से देशविरति को ग्रहण किया, उस समय से अखंडित रूप से उसका पालन करने वाला आराधक संयमासंयमी कहलाता है। ऐसा श्रावक अगर देवलोक में उत्पन्न हो तो जघन्य सौधर्म कल्प में और उत्कृष्ट अच्युत विमान (बारहवें स्वर्ग) में उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार विराधक संयमासंयमी अगर देवगति जाते हैं तो जघन्य भुवन-वासी में और उत्कृष्ट ज्योतिष्क में उत्पन्न होता है।

छठा प्रश्न असंज्ञी जीवों का है। जिनके मनोलब्धि नहीं है, उन जीवों को असंज्ञी कहते हैं। असंज्ञी जीव अकाम

निर्जरा करता है, विना उद्देश्य के कष्ट सहन करता है, अतएव उसके संबंध में प्रश्न किया गया है।

शंका—जिस जीव के मन नहीं है, उसमें किसी भी प्रकार का परिणाम कैसे उत्पन्न हो सकता है? और अच्छे परिणाम के विना स्वर्ग कैसे मिल सकता है?

समाधान—असंज्ञी जीव वह कहलाता है जिसमें मनोलब्धि वाला मन नहीं है। भाव मन अर्थात् अध्यवसाय रूप सभी जीवों में पाया जाता है। संसार में कोई जीव ऐसा नहीं है जिसमें सामान्य रूप से भी संज्ञा न हो। अन्तर यही है कि जो मन लब्धि सम्पन्न होता है उसमें विचार करने की विशिष्ट शक्ति विद्यमान रहती है और जो जीव मनो लब्धि-सम्पन्न नहीं होता वह असंज्ञी कहलाता है। तात्पर्य यह है कि भावमन सभी संसारी जीवों में होता है। इसके अभाव में कोई जीवित नहीं रह सकता। असंज्ञी जीव अगर देवगति में जाय तो जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट वाण-व्यन्तरों में जाता है।

शेष आठ प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—अगर ये जीव देव हों तो जघन्य भवन वासियों में और उत्कृष्ट भिन्न-भिन्न स्थानों में उत्पन्न होते हैं। वे आठ इस प्रकार हैं:—

तापस—पात्र में जो कुछ पड़ जाए उसे ही खा लेने वाला या गिरे हुए पत्तों पर उदर-निर्वाह करने वाला। पात्र

में पड़े आहार ऊपर निर्वाह करने वाले तापस कई प्रकार के होते हैं। उनमें से कोई-कोई चार खंड वाला पात्र रखते हैं और यह नियम बना लेते हैं कि इस खंड में पड़ा हुआ आहार कुत्ते को दूंगा, इस खण्ड का गौ को दूंगा, अमुक खंड का आहार पृथ्वी को और इस खंड के आहार का मैं स्वयं उपभोग करूँगा। इस प्रकार के बाल तपस्वी को तापस कहते हैं। यह उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं।

कान्दर्पिक—जो साधु हँसोड़ हो, हास्य के स्वभाव वाला हो। ये ऐसे साधु किसी वेष में साधु रहते हों मगर हास्यशील होने के कारण अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं.—

कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पं अणिहुया य उल्लावा।
कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएससंसा य॥
भुम-नयण-वयण-दसणच्छदेहिं, कर-पाप-कन्नमाईहिं।
तं तं करेइ जह जह, हसइ परो अप्पणा अहसं॥
वाया कुक्कुइओ पुण, तं जंयइ जेण हस्सए अन्नो।
नाणाविहजीवरुए, कुव्वइ मुहतूरए चेव॥

अर्थात्—जो कहकहा मारकर हँसता है, ऐसी कथा-वार्त्ता कहता है जिससे आपको भी हँसी आवे, अथवा जो काम सम्बन्धी वार्त्तालाप करे, कन्दर्प की कथा करे, उसी का उपदेश दे या कंदर्प की प्रशंसा करे।

अथवा भौंह, आँख, मुख, होठ, हाथ, पैर या कान आदि से ऐसी चेष्टा करे कि आप तो गुमसुम बना रहे-हँसे नहीं, सिर्फ दूसरों को हँसी आवे।

अथवा दूसरों को हँसाने वाली वाणी से कल्पना करे नाना प्रकार के पशु-पक्षियों की बोली बोलकर लोगों को हँसावे, या मुँह से बजाकर दूसरों को हँसावे, वह कान्दर्पिक साधु कहलाता है।

इन कान्दर्पिक साधुओं के विषय में शास्त्र में कहा है—

जो संजयो वि एतासु, अप्पसत्थासु भावणं कुणइ।
सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो त्ति ॥

अर्थात्—साधु हो करके भी जो ऐसी अप्रशस्त भावनाएँ करता है, वह इसी प्रकार के देवों में उत्पन्न होता है। वह चारित्र हीन हो तो देवों के अतिरिक्त अन्य गति नरक में भी जाता है।

चरक परिव्राजक—गेरू से या और किसी पृथ्वी के रंग से वस्त्र रंग कर उसी वेष से आजीविका करने वाला, त्रिदंडी चरक परिव्राजक कहलाता है। अथवा कुच्छोटक आदि चरक कहलाते हैं और कपिल ऋषि के शिष्य परिव्राजक कहलाते हैं। यह उत्कृष्ट ब्रह्मलोक कल्प तक जाते हैं।

किल्विषक—किल्विष का अर्थ है—पाप। जो पापी हो उसे किल्विषक कहते हैं। किल्विषक व्यवहार से चारित्रवान् भी

होता है, लेकिन ज्ञान आदि का अवर्णवाद करने के कारण किल्विषक कहलाता है। कहा भी है—

> णाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स सव्वसाहूणं ।
> माई अवण्णवाई, किव्विसिय भावणं कुणइ ॥

अर्थात्—ज्ञान, केवली, धर्माचार्य और सब साधुओं का अवर्णवाद करने वाला और पापमय भावना रखने वाला किल्विषक कहलाता है।

इस प्रकार का किल्विषक पुरुष अधिक से अधिक लान्तक कल्प तक उत्पन्न हो सकता है।

तिर्यंच—देशविरति का पालन करने वाले घोड़े, गाय आदि। यह उत्कृष्ट सहस्रार कल्प में उत्पन्न होते हैं?

आजीविक—एक खास तरह के पाखंडी आजीविक कहलाते हैं, या नग्न रहने वाले गोशालक के शिष्य, अथवा लब्धिप्रयोग करके अविवेकी लोगों द्वारा ख्याति प्राप्त करने के लिए या महिमा-पूजा के लिए तप और चारित्र का अनुष्ठान करने वाले और अविवेकी लोगों में चमत्कार दिखला कर अपनी आजीविका उपार्जन करने वाले, आजीविक कहलाते हैं। आजीविक उत्कृष्ट अच्युत कल्प तक जाते हैं।

आभियोगिक—विद्या और मंत्र आदि के द्वारा दूसरों को अपने वश में करना अभियोग कहलाता है। अभियोग

दो प्रकार का हैः-द्रव्य-अभियोग और भाव-अभियोग। द्रव्य से चूर्ण आदि का योग बताना द्रव्याभियोग और मंत्र आदि बता कर वश में करना भावाभियोग है।

विद्या, मंत्र और चूर्ण आदि से जो दूसरों को अपने वश में करना चाहता है वह स्वयं ही वशवर्त्ती बन जाता है। जो दूसरों को गुलाम बनाना चाहता है वह आपही गुलाम हो जाता है। किसी समय 'भारतवर्ष ने बहुतों को गुलाम बना कर रक्खा था। वह थोड़े समय तक चाहे अच्छा मालूम हुआ हो, लेकिन उसका फल यह हुआ कि आज भारत को ही गुलाम बनाना पड़ा। हाँ, सेवा करके किसी का हृदय जीत लेना, परोपकार करके प्रजा को अपने अधीन करना दूसरी बात है। ऐसा होने पर तो जिसकी सेवा की गई है, वह स्वयं ही सेवा करने वाले को ईश्वर के समान मानेगा। लेकिन स्वार्थ भावना से दूसरों को दबाये रखना अभियोग है।

जो व्यवहार से तो संयम का पालन करता है, लेकिन मंत्र आदि के द्वारा दूसरे को अपने अधीन बनाता है, उसे आभियोगिक कहते हैं। आभियोगिक का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

कोउय भुई कम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी
इड्ढि-रस-सायगरुओ, अहिओगं भावणं कुणइ ॥

अर्थात्—जो सौभाग्य आदि के लिए स्नान बतलाता है, भूतिकर्म (बीमार को भभूत देने का काम) करता है,

प्रश्नाप्रश्न अर्थात् स्वप्नविद्या का विचार करता है, निमित्त बताकर आजीविका करता है, ऋद्धि, रस और साता का गर्व करता है, इस प्रकार जो अपनी आत्मशक्ति का विश्वास न करके उक्त उपायों पर भरोसा रखता है और अपनी आत्मा को गिरा रहा है, फिर भी व्यवहार में साधु की क्रिया करता है, उसे आभियोगिक कहते हैं। यह उत्कृष्ट अच्युत देवलोक तक जाता है।

सलिंगी—सलिंगी अर्थात् निह्नव। जो साधु के वेष में है मगर दर्शनभ्रष्ट है वह निह्नव कहलाता है। निह्नव जैनधर्म के अनुसार क्रिया करते हुए भी जैन दर्शन की निन्दा करते हैं, जैसे जमालि। अगर इन्हें देवगति प्राप्त हो तो उत्कृष्ट नवें ग्रैवेयक तक में जा सकते हैं।

यह चौदह प्रश्नोत्तर हैं। इनसे यह नहीं समझना चाहिए कि यह चौदह प्रकार के जीव देवलोक में ही उत्पन्न होते हैं। अगर देवलोक में उत्पन्न हों तो कौन कहाँ तक उत्पन्न हो सकता है, इसी बात पर यहाँ विचार किया गया है। यह सब अन्यगति भी पा सकते हैं, मगर उसका विचार यहाँ नहीं किया गया है।

यहाँ एक बात और कह देना आवश्यक है। यह तर्क किया जा सकता है कि विराधक संयमी का उत्पाद उत्कृष्ट, प्रथम देवलोक बतलाया गया है। मगर यह बात उचित नहीं जान पड़ती। क्योंकि पहले देवलोक से भी आगे विराधक संयमी उत्पन्न हुए हैं। सुकुमारिका के भव में द्रौपदी संयम की विराधना होने पर भी ईशान स्वर्ग में गई थी। इस तर्क

का समाधान यह है कि सुकुमारिका ने मूल गुण की नहीं, किन्तु उत्तरगुण की विराधना की थी अर्थात् बुक्कसपन धारण किया था। बार-बार मुँह-हाथ धोते रहने से साधु का चारित्र कबरा हो जाता है। सुकुमारिका का यही हुआ था। यह उत्तरगुण की विराधना हुई, मूलगुण की नहीं। यहाँ जिन विराधक संयमियों का उत्कृष्ट सौधर्म कल्प में उत्पाद बतलाया गया है, वे मूलगुण के विराधक समझने चाहिए।

अगर यह हठ किया जाय कि चाहे मूलगुण का विराधक हो, चाहे उत्तरगुण का, पहले देवलोक से आगे नहीं जाता, तो बुक्कस नियंठा वाला उत्तरगुण का परिसेवी होने पर भी बारहवें देवलोक तक जाता है। इस कथन से विरोध आता है। इसलिए जो विशिष्टता गुण का विराधक हो वह नीची गति में जाता है, और कथंचित् विरोधक-कथंचित् आराधक, विराधक संयमी की तरह नीची गति में नहीं जाता।

अब एक प्रश्न और शेष रह जाता है। असंज्ञी जीव का जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट वाणव्यंतर में उत्पाद बतलाया गया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भवनवासी से व्यंतर बड़े हैं। क्या वास्तव में यही बात है? इसके सिवाय चमरेन्द्र तथा बलेन्द्र की ऋद्धि बड़ी कही है। आयुष्य भी इनका सागरोपम से अधिक है, जब कि वाणव्यन्तर का पल्योपम प्रमाण ही है। फिर वाण-व्यंतर बड़े कैसे माने जा सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि कई वाणव्यंतर, कई भवनवासियों से भी उत्कृष्ट ऋद्धि वाले हैं और कई भवनवासी

वाणव्यतंरों की अपेक्षा कम ऋद्धि वाले हैं। अतएव यहाँ जो कथन किया गया है वह निर्दोष है। कई वाणव्यन्तर, कई भवनवासियों से अधिक ऋद्धिशाली है, यह बात शास्त्र के इसी कथन से सिद्ध है। इस प्रकार उपपात संबंधी प्रश्नोत्तर का कथन समाप्त होता है। असंज्ञी जीव भी देवलोक में जा सकता है, यह वर्णन यहाँ किया गया है। अब उसकी आयु के संबंध में प्रश्नोत्तर करते हैं।

असंज्ञी जीवों का आयुष्य
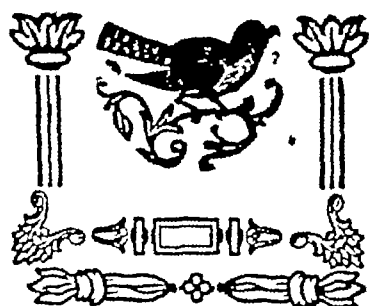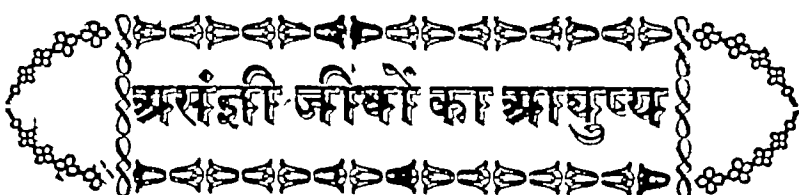
मूलपाठ-

प्रश्न-कतिविहे णं भंते ! असन्निआउए पन्नत्ते ?

उत्तर-गोयमा ! चउव्विहे असन्निआउए पन्नत्ते; तंजहा-नेरइअ असन्निआउए, तिरिक्ख मणुस्स-देवअसन्निआउए ।

प्रश्न-असण्णी णं भंते ! जीवे किं नेरइयाउअं पकरेइ, तिरिक्खमणु-देवाउअं पकरेइ?

उत्तर—हंता गोयमा नेरइयाऽऽउयं पि पकरेइ, तिरिक्ख-मणु-देवाऽऽउयं पि पकरेइ। नेरइयाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ; मणुस्साउयं वि एवं चेव, देवाउयं जहा नेरइयाउयं।

प्रश्न—एअस्स णं भंते! नेरइयअसण्णिआउअस्स तिरिक्ख-मणु-देव-असण्णिआउअस्स कयरे कयरे० जाव विसेसाहिए वा?

उत्तर—गोयमा! सव्वत्थोवे देवअसण्णिआउए, मणुस्स० असंखेज्जगुणे, तिरिय० असंखेज्जगुणे, नेरइअ० असंखेज्जगुणे।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति।

संस्कृत-छाया-प्रश्न—कतिविध भगवन्! असङ्ख्यायुष्कं प्रज्ञप्तम्?

उत्तर—गौतम! चतुर्विधमसङ्ख्याऽऽयुष्कं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-नैरयिकासङ्ख्यायुष्कम्, तिर्यग्-मनुष्य-देवासंङ्ख्यायुष्कम्।

प्रश्न—असंज्ञी भगवन्! जीवः किं नैरयिकायुष्क प्रकरोति? तिर्यग्-मनुष्य-देवायुष्कं प्रकरोति?

उत्तर—हन्त गौतम! नैरयिकायुष्कमपि प्रकरोति, तिर्यग्-मनुष्य-देवायुष्कमपि प्रकरोति। नैरयिकायुष्कं प्रकुर्वन् जघन्येन दश वर्षसहस्राणि, उत्कृष्टेन पल्योपमस्य असङ्ख्येयभाग प्रकरोति, तिर्यग्-योन्यायुष्कं प्रकुर्वन् जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टेन पल्योपमस्य असङ्ख्येयभाग प्रकरोति, मनुष्यायुष्केऽपि एवं चैव, देवायुष्कं यथा नैरयिकायुष्कम्।

प्रश्न—एतस्य भगवन्! नैरयिकासङ्ख्यायुष्कस्य, तिर्यग्-मनुष्य-देवासङ्ख्यायुष्कस्य कतरत् कतरत्० यावत्-विशेषाधिकं वा?

उत्तर—गौतम! सर्वस्तोकं देव-असङ्ख्यायुष्कम्, मनुष्य० असंख्येयगुणम्, तिर्यग्० असङ्ख्येयगुणम्, नैरयिक० असङ्ख्येयगुणम्।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! असंज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! असंज्ञी का आयुष्य चार प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार—नैरयिक-असंज्ञी-आयुष्य, तिर्यंच असंज्ञी-आयुष्य, मनुष्य-असंज्ञी-आयुष्य, देव-असंज्ञी-आयुष्य।

प्रश्न—भगवन् ! क्या असंज्ञी नारकी की आयु उपार्जन करता है ? और तिर्यंच की, मनुष्य की तथा देव की आयु उपार्जन करता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, नारकी की आयु भी उपार्जन करता है, और तिर्यंच की, मनुष्य की अथवा देव की आयु भी उपार्जन करता है। नारकी की आयु उपार्जन करता हुआ असंज्ञी जीव जघन्य दस हजार की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की उपार्जन करता है। तिर्यंचयोनि की आयु उपार्जन करने वाला असंज्ञी जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यात भाग की उपार्जन करता है मनुष्य की आयु भी इतनी ही

उपार्जन करता है और देव की आयु नारक आयु के समान उपार्जन करता है।

प्रश्न—भगवन्! नारक-असंज्ञी-आयुष्य, तिर्यंच-असंज्ञी-आयुष्य, मनुष्य-असंज्ञी आयुष्य और देव-असंज्ञी-आयुष्य, इनमें कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है?

उत्तर—गौतम! देव-असंज्ञी-आयुष्य सब से कम है, उसकी अपेक्षा मनुष्य-असंज्ञी आयुष्य असंख्यातगुणा है, उससे तिर्यंच-असंज्ञी-आयुष्य असंख्यातगुणा है और उससे भी नारक-असंज्ञी-आयुष्य असंख्यातगुणा है।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन् इसी प्रकार है! इस प्रकार कह कर गौतम विचरते हैं।

व्याख्यान—असंज्ञी जीव की आयु कितने प्रकार की है, यह देखने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि असंज्ञी का आयुष्य किसे कहते हैं? वर्त्तमान भव में जो जीव विशिष्ट संज्ञा से रहित है, वह परलोक का जो आयुष्य बाँधता है, उसे असंज्ञी का आयुष्य कहते हैं।

जिस स्थिति में व्यक्ति जो प्राप्त करता है, वह प्राप्त की जाने वाली वस्तु उसी के नाम से प्रसिद्ध होती है। जैसे राजा

द्वारा प्राप्त किया हुआ धन, राजधन और सेठ द्वारा प्राप्त धन सेठ धन कहलाता है। उसी प्रकार असंज्ञी अवस्था में जो आयुष्य बाँधा जाता है, वह असंज्ञी का आयुष्य कहलाता है।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—भगवन् ! असंज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का है ? भगवान् ने उत्तर दिया-गौतम ! असंज्ञी का आयुष्य चार प्रकार है, अर्थात् नारकी का, तिर्यंच का, मनुष्य का और देव का।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी विशेष रूप से फिर प्रश्न करते हैं—भगवन् नैरयिक का, तिर्यंच का, देव का और मनुष्य का आयुष्य असंज्ञी जीव प्राप्त कर सकता है ?

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि भगवान ने जो चार प्रकार का आयुष्य बतलाया है, वह उन असंज्ञी जीवों द्वारा उपार्जन करने से उनका कहलाया है उनके संबंध का होने से उनका कहलाया है ? उनके संबंध का इस तरह- जैसे साधु का पात्र। यद्यपि साधु ने पात्र न बनाया है, न खरीदा है, फिर भी साधु का उस पात्र से संबंध है, इसलिए साधु का पात्र कहलाता है। इसी प्रकार नरक, तिर्यंच आदि का आयुष्य असंज्ञी द्वारा उपार्जन किया जाता है या सिर्फ भोगा ही जाता है ?

इसके अतिरिक्त इस प्रश्न का यह अभिप्राय भी हो सकता है कि असंज्ञी जीव के मन तो होता नहीं है, और मन के अभाव में वह कुछ जानता समझता नहीं है, फिर वह आयुष्य का उपार्जन कैसे कर सकता है ? अतएव उसके संबंध का होने से ही उसका क्यों न माना जाय ? इस संभा-

यना का निराकरण करने के लिए यह प्रश्न किया है कि असंज्ञी का आयुष्य क्या असंज्ञी द्वारा ही उपार्जन किया जाता है ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया-हाँ गौतम, असंज्ञी द्वारा उपार्जन किया हुआ आयुष्य है।

आत्मा जब प्रकृष्ट अज्ञान की स्थिति में आता है, तब अपने आपको ही भूल जाता है। उसे यह पता नहीं रहता कि मैं क्या करता हूँ ! तथापि भगवान् अपने निर्मल ज्ञान में सब कुछ देखते हैं। शराबी को भान नहीं होता कि वह क्या कर रहा है, क्या बोल रहा है, किधर जा रहा है, पूछने पर भी वह ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकता, लेकिन समझदार आदमी शराबी की सब चेष्टाएं देखता है। इसी प्रकार मनोलब्धि विकसित न होने से असंज्ञी जीव को मालूम नहीं होता कि वह क्या अच्छा-बुरा कर रहा है। मगर उसके आन्तरिक अध्यवसाय को हस्तामलकवत् जानने वाले ज्ञानी कह देते हैं कि वह असंज्ञी जीव नरक की आयु उपार्जन करके नरक में या स्वर्ग में, इतने समय के लिए जाता है।

आप अपनी बाह्य चेष्टाएँ जानते हैं, मगर समस्त आन्तरिक प्रवृत्तियों को, जो प्रतिक्षण हो रही हैं, जान लो तो सर्वज्ञ होते देर न लगे। किन्तु सर्वज्ञ की स्थिति प्राप्त करने के लिए पहले सर्वज्ञ के वचनों पर विश्वास-सुदृढ़ श्रद्धा करने की आवश्यकता है। ऐसा करने से एक वह दिन अवश्य आएगा जब परमात्मा में और तुममें कुछ भी अन्तर न रहेगा।

अन्तरात्मा में क्या होता है, इस बात का किंचित

आभास नित्य मिलता है। लेकिन बहिर्दृष्टि पुरुष उस ओर लक्ष्य नहीं देते। उदाहरण के लिए भोजन को ही लीजिए। आप भोजन करते हैं, मगर आपको यह पता नहीं है कि यह भोजन कब किस रूप में पलटता है, उसका आपके मन पर और तन पर क्या प्रभाव पड़ता है! लेकिन अभ्यास से पता लगना बहुत कठिन नहीं है। जैसे-जब आपकी आँखों में गर्मी भरा रही है, तब आपको कोई तेज मसालेदार तेल की चीज़ खिलाना चाहे तो क्या आप खाएँगे?

'नहीं!'

क्योंकि आपको मालूम है कि इस भोजन का परिणाम हानिकारक होगा यद्यपि यह बात प्रत्यक्ष नहीं दीखती। इसी प्रकार आप जो-जो कार्य करते हैं, उनके विषय में शास्त्र से यह पता लग ही जाता है कि इनका फल अमुक-अमुक होगा। इस बात को पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष जानने के लिए सर्वज्ञता की आवश्यकता है। असंज्ञी जीव नरक की आयु भी बाँधते हैं और स्वर्ग की आयु भी बाँधते हैं। कहाँ नरक की भीषण यातनाएँ और कहाँ स्वर्ग का अनुपम सांसारिक सुख! लेकिन अपने ज्ञान में भगवान् ने जैसा देखा है, जगत् के कल्याण के लिए कह दिया है।

गौतम स्वामी, भगवान् से पूछते हैं—प्रभो! असंज्ञी जीव मनोहीन हैं, इसलिए सभी असंज्ञी क्या नरक की समान आयु का बंध करते हैं? भगवान् ने उत्तर दिया नहीं गौतम, यह बात नहीं है। कोई जीव जघन्य दश हजार वर्ष की आयु बाँधते हैं और कोई उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु बाँधते हैं।

यद्यपि नरक की आयु इससे भी अधिक—तेतीस सागरोपम की है, तथापि असंज्ञी जीव के परिणाम ऐसे तीव्र नहीं होते, जिससे कि अधिक आयु का बंध हो सके। फिर भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग का आयुष्य उपार्जन कर ही लेता है।

असंज्ञी जीव तिर्यंच आयु का भी उपार्जन कर सकता है। जब तिर्यंच आयु बाँधता है तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यात भाग का बाँधता है।

भगवान् ने परिणाम की धारा में भी कितना अन्तर देखा है! भगवान् फर्माते हैं—असंज्ञी तिर्यंच मृत्यु के अनन्तर अन्तर्द्वीप में उत्पन्न होता है और वहाँ युगलिया बन जाता है। कहाँ वह असंज्ञी जीव, जिसे यह भी मालूम नहीं कि मैं क्या कर रहा हूँ और कहाँ अन्तर्द्वीप का युगलिया! लेकिन शुभ परिणाम की धारा ऐसी प्रवाहित होती है कि वह अन्तर्द्वीप में जाकर युगलिया बन जाता है और कल्पवृक्षों का उपभोग करता है। विश्वास रक्खो, अच्छे परिणाम का फल अच्छा ही होता है।

असंज्ञी जीव अगर मनुष्य-आयु का बंध करता है तो उसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है। यहाँ जो उत्कृष्ट आयु

बतलाई है वह भी युगलिया मनुष्य की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

असंज्ञी मनुष्य अगर देवायु उपार्जन करता है तो जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि देव और नरक गति का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग का उपार्जन करता है। इसी प्रकार मनुष्य और तिर्यंच का जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग का आयुष्य पाता है।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन्! इन चारों आयुष्यों में से कौन किससे कम और कौन किससे ज्यादा है? भगवान् उत्तर देते हैं—गौतम! असंज्ञी देव-आयुष्य सब से कम है, असंज्ञी-मनुष्यायुष्य उससे असंख्यातगुणा ज्यादा है। असंज्ञी, देवगति में जाता तो है, लेकिन उसका शुभ आयुष्य अधिक उपार्जन करना कठिन है। इसलिए वह देव का आयुष्य बहुत कम बांधता है और मनुष्य का आयुष्य उसकी अपेक्षा असंख्यातगुणा अधिक बांधता है। तिर्यंच का आयुष्य, मनुष्य-आयुष्य की अपेक्षा भी असंख्यातगुणा बांधता है। और नरकायु, तिर्यंचायु की अपेक्षा असंख्यातगुणा बांधता है।

उदाहरणार्थ—एक घर में करोड़ मोहरें हैं, एक घर में करोड़ रुपये हैं, एक में करोड़ पैसे हैं और एक में करोड़ कौड़ियाँ हैं। अब किसी को किसी काम के बदले कुछ मिलना हो तो मोहरों की अपेक्षा रुपये, रुपयों की अपेक्षा पैसे और पैसों की अपेक्षा कौड़ियाँ अधिक मिलेगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि मोहरें कम हैं। मोहरें तो पूरी करोड़ हैं, मगर मिलेगी उतनी ही जितनी कि मिलती हैं। इसी प्रकार देव का आयुष्य तो बहुत है, लेकिन असंज्ञी यदि उस आयुष्य का बंध करता है तो बहुत कम का बंध करता है। मनुष्य की आयु उससे असंख्यातगुणी बाँधता है। इससे विदित होता है कि असंज्ञी जीव ऊँची क्रिया कम करता है और नीची क्रिया अधिक।

सेवं भंते सेवं भंते गौतम बोल्या सही।
श्रीवीरजी का वचनां में सन्देह नहीं॥

हाथ जोड मान मोड़ गौतम बोल्या सही।
श्रीवीरजी का वचनां में सन्देह नहीं॥

भगवान् के उत्तर सुनकर श्री गौतम स्वामी ने श्रद्धा और विनम्रता प्रगट करते हुए कहा—प्रभो! आपकी वाणी यथार्थ है। आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं मैं अल्पज्ञ हूँ। मैं अपनी

बुद्धि का लोटा आपके ज्ञान सागर में डालता हूँ। जो लोटे का जल समुद्र में डाल देने से लोटे का जल भी समुद्र का ही जल बन जाता है, उसी प्रकार मैं अपनी बुद्धि को सर्वज्ञ की बुद्धि में मिला देता हूँ। इसीसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

प्रथम शतक का द्वितीय उद्देशक